वर्ष : 11 • अंक : 44 • अप्रैल-जून 2025 • ISSN 2347-6605

वाक् सुधा

VAAK SUDHA

(अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research)

(A Scholarly Peer Reviewed Journal)

विशेष सूचना :

विचार की प्रतिबद्धता में राष्ट्रहित सर्वोपरि है।

रूपेश कुमार चौहान
स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक
द्वारा 47, ब्लॉक ए-3, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, दिल्ली-43 से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित।
दूरभाष संख्या-09555222747, 9267944100, 9555666907
Email: vaaksudha@gmail.com • Website : www.vsirj.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत शोधार्थी के पास ईमेल / व्हाट्सएप्प या फोन के माध्यम से शोध-पत्र प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत सम्पादक-मंडल द्वारा इसे सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ (रीव्यूवर) के पास भेजा जायेगा। जिसका विषय विशेषज्ञ द्वारा विधिवत मूल्यांकन एवं परीक्षण / संशोधन किया जायेगा। तदुपरांत सम्पादक मंडल के पास प्रकाशनार्थ प्रेषित किया जायेगा।
* विषय विशेषज्ञ / सम्पादक मंडल के पास शोध-पत्र के प्रकाशन / संशोधन का पूर्ण अधिकार होगा।
* कोई भी शोध-पत्र सम्पादक मंडल / रीव्यू पैनल द्वारा पूर्णतया मूल्यांकन के उपरांत ही प्रकाशित किया जायेगा।
* पूर्णतया स्वीकृति के उपरांत ही किसी भी शोधार्थी को सम्बन्धित आलेख के प्रकाशन की सूचना दी जायेगी।
* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम, कीवर्ड्स, सारांश एवं सभी संदर्भ के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* शोध-पत्र भेजने के बाद उसे प्रकाशित करने हेतु किसी भी तरह का दबाव स्वीकार्य नहीं होगा। शोध-पत्र में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'वाक् सुधा'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोधकर्त्ता के अपने विचार हैं तथा सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल का इसमें कोई सरोकार नहीं होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)

- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)

- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)

- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)

- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)

- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)

- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)

- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)

- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2347-6605

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'वाक् सुधा'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• **Mrs Kirthee Devi Ramjatton**
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• **Correspondence Address :**
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• **Correspondence Address :**
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• **Branch Office :**
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय ..... *vii*

हिंदी उपन्यासों में किसान: कृषि संकट और पलायन .. 1
लक्ष्मी

ऐतिहासिक फिल्मों के माध्यम से नैरेटिव निर्माण : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन 5
विजेंद्र सिंह चौहान

आदिवासी दुनिया : एक संक्षिप्त परिचय 11
सीता मीना

भूमंडलीकरण के दौर में बदलते मानवीय संबंध : विशेष संदर्भ रेहन पर रग्घू 15
रश्मिता साहू

प्रकृति की गोद में - नागा योद्धाओं के नृत्योत्सव 19
डॉ. वन्दना सूरज भान

दन्तचिकित्सा : एक तुलनात्मक अध्ययन 25
डॉ. प्रसून सेनगुप्त

राजेश जोशी की काव्य संवेदना 30
डॉ. रंजीत सिंह

मंगरे पै कौवा 34
डॉ. रीता नामदेव

हिंदी कथा साहित्य में बुद्ध का अभिग्रहण 39
प्रीति सागर

शासन और संचार का माध्यम : अशोककालीन अभिलेखों का भाषिक और लिपिगत विश्लेषण 45
सचिन बौरियाण

अंबेडकर : नए भारत के निर्माता 50
सुमित कुमार सिंह

विरुद छिहतरी और महाराणा प्रताप 53
कमल सिंह

आंचलिकता के प्रवर्तक रचनाकार नागार्जुन और रेणु 56
सुनील कुमार

अपने अपने अजनबी : मृत्युबोध का वैयक्तिक परिदृश्य 59
डॉ. रंजीत कौर

महादेवी वर्मा के कथा साहित्य : ग्रामीण समाज में पुरुष वर्ग का वर्चस्व एवं स्त्री का सम्मान 64
प्रमोद कुमार सहनी / डॉ. मधुबाला श्रीवास्तव

भारतीयज्ञानपरम्परायां विवाहसंस्कारः 68
डॉ. शंकर नाथ तिवारी

डॉ. भीमराव अम्बेडकर और बौद्ध धर्म 73
पूनम देवी / प्रो. ज़ीनत ज़ैदी

फणीश्वर नाथ 'रेणु' के रिपोर्ताज में संवेदना और यथार्थ 78
डॉ. भावना

नागार्जुन की कविताओं में पर्यावरण चेतना 81
राजेश कुमार

कुछ आहटें, सोवियत और अन्ना अख्मातोवा 87
डॉ. सुनीता दुरंगल

हिंदी के स्वाधीनता युगीन नाटकों में स्त्री-प्रश्न 92
लोकेंद्र प्रताप

दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन में महिला संतों की भूमिका 96
श्रद्धा त्रिपाठी

हिंदी सिनेमा का बदलता परिदृश्य 100
डॉ. सीमा माहेश्वरी

नारी का स्वरूप वैदिक परिप्रेक्ष्य में : सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण 105
चंदा/ प्रो. कौशल्या

साहित्य और पर्यावरण : अंतः सम्बन्ध 109
डॉ. नवीन कुमार

जैन धर्म में नारी : अधिकारों, भूमिकाओं और आध्यात्मिक यात्रा का अन्वेषण 114
डॉ. अरुणा रानी

प्रेमचंद की पत्रकारिता और राष्ट्रवाद 119
परमिंदर यादव

ग्लोबल गाँव के देवता और भूमंडलीकरण के खतरे . 124
उपासना रंगा

डॉ. अंबेडकर का त्रिसूत्रीय मंत्र और महिला उद्यमिता : MSMEs के लिए कौशल विकास व समावेशी बाजार द्वारा सशक्तिकरण 127
सोनी / डॉ. राकेश कुमार रजक

मानवीय संवेदना एवं जन-संघर्ष के कवि : सर्वेश्वर .. 136
कुणाल भारती

जातिवाद और हिंदी सिनेमा 144
डॉ. चित्तरंजन कुमार

साम्राज्य के विरुद्ध शब्द-शंखनाद (उपनिवेशवाद विरोधी हिंदी साहित्य और ब्रिटिश सत्ता के लिए वैचारिक संकट) .. 148
महेंद्र सिंह

विजयदेव नारायण साही के आलोचकीय वितान में जायसी का मूल्यांकन 152
डॉ. आबिद हुसैन

महाभारत की नैतिक दुविधाएँ और आधुनिक मानवीय संकट : धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' का दार्शनिक एवं साहित्यिक विश्लेषण 159
विकास कुमार

संत गुरु नानक देव की वाणी में अभिव्यक्त सामाजिक मूल्य 163
मुस्कान गिरि

अज्ञेय और जैनेंद्र के उपन्यासों में 'मौन' का मनोविज्ञान : अभिव्यक्ति के संकट और प्रतिरोध का दार्शनिक पाठ .. 167
मृत्युंजय कुमार शर्मा

सम्पादकीय

22 अप्रैल 2025 को इस्लामिक जिहादियों ने जम्मू-कश्मीर के पहलगाम में 26 हिन्दुओं को गोलियों से भून दिया। इस नृशंस नरसंहार में धर्म पूछकर गोली मारी गई। इसमें किसी से राज्य नहीं पूछा, जेहादियों ने जाति नहीं पूछी, किसी से यह नहीं पूछा कि आप दलित समाज से आते हैं या सवर्ण हैं। आपकी भाषा तमिल है या भोजपुरी है। जो लोग कह रहे थे कि आतंकवाद का कोई धर्म नहीं होता। उन्हें भी यह समझ आ गया कि आतंकवाद का धर्म होता है। सेक्युलरिज्म की ऐसी-की-तैसी इस नरसंहार ने कर दी। इस नरसंहार के बाद देश भर में आक्रोश और गुस्सा है। जो त्वरित और मुखर प्रतिक्रिया आई उससे कश्मीरी मुसलमानों को इस घटना की निन्दा करने को विवश कर दिया। परन्तु यह घड़ियाली आंसू सिर्फ अपने व्यवसाय, पर्यटन और जेब को लेकर है। कश्मीर का मुसलमान कभी भी भारत के लिए नहीं सोचता है। उसके डीएनए में भारत विरोध है। हिन्दू पर्यटक एकता तिवारी ने एक खच्चर वाले से हुई बातचीत को मीडिया से साझा किया तो पता चला कि जेहादियों ने कहा कि जाकर मोदी को बता देना। सारी घटना आप सबके संज्ञान में है। मैं सबको दुहराना नहीं चाहता परन्तु पहलगाम की यह घटना सामान्य घटना नहीं है। यह देश में चल रहे सबसे बड़े फॉड कश्मीरियत, जम्हूरियत और इंसानियत को बेनकाब किया है। 35 वर्ष पहले कश्मीर में मस्जिदों से यह ऐलान किया गया कि या तो इस्लाम स्वीकार कर लो नहीं तो अपनी बहन बेटियों को छोड़कर चले जाओ यह दोनों नहीं करोगे तो मरने के लिए तैयार रहो, बस उसी श्रृंखला की एक कड़ी विशेष है। कश्मीर घाटी में हजारों फौजी शहीद हुए, अघोषित युद्ध हमारी सेना लगातार लड़ रही है।

पिछले 11 सालों में मोदी सरकार ने भी बहुत काम किया, अरबों रुपये विकास योजनाओं पर लगाए। पैसे दिए, स्कूल, कॉलेज, और सिनेमा हॉल खुलवाए, रोजगार के अवसर बनाए परन्तु कुछ भी नहीं बदला। 2019 में धारा 370 को हटाया और राज्य को दो हिस्सों में बांट दिया। केन्द्र शासित प्रदेश बनाया फिर विधानसभा चुनाव करवाए। जिससे सिर्फ कुछ समय से पत्थरबाजी बंद है। इतना सबकुछ करने के बाद भाजपा की घाटी में क्या स्थिति है, इसको समझने के लिए हाल में हुए जम्मू कश्मीर विधानसभा चुनाव में घाटी में कुल 47 सीटों के लिए चुनाव हुए जिसमें भाजपा को उतने भी लोग नहीं मिल सके उम्मीदवार बनाने के लिए। भाजपा मात्र 17 सीटों पर चुनाव लड़ सकी। इसलिए न कश्मीर बदला है और न कश्मीरियत, अपने आप को धोखा देना है तो दीजिए। गंगा जमुनी तहजीब का भजन गाइए। शत्रुबोध और इतिहासबोध नहीं होगा तो जाइए कश्मीर और मरिए। बहरहाल हिंदू नरसंहार के ठीक दूसरे दिन 23 अप्रैल से राष्ट्रीय जांच एजेंसी (NIA) ने जांच पड़ताल शुरू कर दी। NIA की टीमें बैसरन घाटी में हमले की साजिश का पता लगाने के लिए पूछताछ शुरू कर दी है।

इस नरसंहार के बाद भारत ने सिंधु जल समझौता को समाप्त किया। प्रधानमंत्री मोदी ने सेना को पाकिस्तान के खिलाफ कार्रवाई के लिए पूरी छूट दे दी। अटारी इंटीग्रेटेड चेक पोस्ट को तुरंत बंद करने की घोषणा की गई। भारत में पाक उच्चायोग में कर्मचारियों की संख्या कम करने का निर्णय लिया गया। इसमें कर्मचारियों की संख्या 55 से 30 की गई। पाकिस्तान के साथ हर तरह का आयात बंद कर दिया है। 27 अप्रैल 2025 से पाकिस्तान के नागरिकों के लिए सभी वीजा रद्द करने का फैसला लिया था। जम्मू-कश्मीर में सुरक्षा कारणों से 48 पर्यटन स्थलों को बंद कर दिया गया। भारत सरकार ने पाकिस्तानी विमानों के लिए एयरस्पेस बंद कर दिया। पाकिस्तान के जहाजों को भी भारतीय बंदरगाहों पर प्रवेश पर रोक लगा दी गई। पाकिस्तानी यूट्यूब चैनलों और कई सोशल मीडिया अकाउंट्स पर रोक लगा दी गई है जिसमें वहां के क्रिकेटर और प्रधानमंत्री शहबाज शरीफ का एकाउंट भी शामिल है। इस बार भारत ऐसा प्रतिकार करेगा, कि पाकिस्तान अनन्तकाल तक याद रखेगा।

– डॉ. रूपेश कुमार चौहान

शोध-पत्र

हिंदी उपन्यासों में किसान : कृषि संकट और पलायन

लक्ष्मी

शोध-सार : भारत जैसे देश में, जहाँ कृषि पर निर्भरता ज्यादा है, किसानों की हालत ब्रिटिश युग से आज तक लगातार बद से बद्तर होती जा रही है। ऋण से ग्रस्त होरी जैसे किसान जहाँ पहले सामाजिक बंधनों से घिरकर असमय मृत्यु को प्राप्त होते हैं अर्थात् जीवन से ही पलायन कर जाते हैं, वहीं रेणु के यहाँ किसान आजादी से पहले और आजादी के बाद नौकरशाही, राजनीति और न्यायतंत्र के चक्रव्यूह में फँसकर गरीबी और जहालत से असमय मृत्यु का शिकार होकर जीवन से पलायन कर जाता है। वैश्वीकरण के दौर में कृषि में अधिक लागत और काम आमदनी ने किसानों को कर्ज में ऐसा डुबोया कि पंजाब से लेकर महाराष्ट्र तक के किसान खुद की जान लेकर जीवन से पलायन कर रहे हैं। कृषि और उससे जुड़े लोगों को लेकर जब तक योजनाएं नहीं बनेगी, तब तक किसानों कि इस असमय मृत्यु को रोका नहीं जा सकता। हिन्दी उपन्यास परम्परा में प्रेमचंद से लेकर संजीव तक यही साबित होता है कि अन्न दाता के अन्न का कर्ज तभी चुकाया जा सकता है जब उन्हें नौकरशाही, राजनीति, न्यायतंत्र और वैश्विक पूँजीपतियों के गठजोड़ से मुक्ति मिले।

बीज-शब्द : किसान, कर्ज, आत्महत्या, गरीबी, जमीन, शोषण, गठजोड़, संकट, जमींदारी, वैश्वीकरण।

मूल-लेख : हमारा देश कृषि प्रधान देश माना जाता रहा है। किसान को देश का अन्नदाता कहते हैं। लेकिन यही अन्नदाता अपना भरण पोषण करने में भी आज असमर्थ है। किसान कभी सत्ता वर्ग के शोषण को झेलता है तो कभी सूदखोर महाजन के साथ-साथ बैंक के कर्ज को। प्राकृतिक आपदा की मार तो उसके रीढ़ की हड्डी ही तोड़ देती है। सदियां बीत गईं। शासक बदले, सत्ता बदली, सरकारें बदली परंतु किसानों की जिंदगी दिनों दिन दयनीय होती जा रही है। अंग्रेजों से पूर्व राजशाही ने और अंग्रेजों के समय में जमींदारी प्रथा ने किसानों को अनेक प्रकार के लगान और करों के बोझ तले दबा दिया, जिससे वे और अधिक दयनीय स्थिति में पहुंच गए। बंगाल का दुर्भिक्ष इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

आजादी को किसानों ने नई रोशनी के रूप में देखा। लेकिन यह रोशनी भी अधिक समय तक किसानों के जीवन को रौशन नहीं कर पाई और जल्दी ही उनकी आशा निराशा में बदलने लगी। वजह साफ है। आजादी के पश्चात् सरकार ने किसानों के नाम पर अनेक योजनाएं तो बनाईं, परंतु सरकार की मंशा, भ्रष्टाचार, अफसरशाही, भाई-भतीजावाद के चलते इन योजनाओं का लाभ आम जनता तक नहीं पहुंच पाया। विदेशी मशीनों और उर्वरकों को खपाने के लिए लाई गई हरित क्रांति जैसी योजनाएं भी किसानों के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं ला पाई। भूमंडलीकरण और साम्राज्यवाद के दौर में हम इस समस्या को और अधिक विकराल रूप में देख रहे हैं। हम सभी इस रूप को कभी आदिवासियों के विस्थापन के रूप में, कभी किसानों के विस्थापन और पलायन के रूप में और आज किसानों की आत्महत्याओं के रूप में देखते हैं।

स्वाधीनतापूर्व और स्वतंत्रयोत्तर भारत में, विशेष कर किसानों के जीवन में आए परिवर्तन आरंभ से ही हिंदी उपन्यासों के विषय रहे हैं। अनेक हिंदी उपन्यासों के माध्यम से यह अध्ययन किया जा सकता है कि परिस्थितियों और सामाजिक संरचना में आने वाले परिवर्तन उपन्यास की कथावस्तु और पात्रों के स्वरूप में किस प्रकार प्रभाव डालते हैं और रचनाकार की

प्रतिबद्धता उस तात्कालिक परिस्थितियों में किस समुदाय और किस वर्ग विशेष की ओर है और क्यों?

रामदरश मिश्र 'हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा' में लिखते हैं -''यथार्थ व्यक्ति का भी होता है समाज का भी। अर्थात् एक पूरा-का-पूरा समाज एक विशेष प्रकार की बनावट में जीता है। उसकी कुछ सामान्य विशेषताएं होती हैं, कुछ सामान्य प्रश्न होते हैं, सामान्य सांस्कृतिक धरातल होता है। व्यक्ति इस समाज या अखिल सृष्टि का एक सदस्य है, किंतु व्यक्ति के अपने भी कुछ सत्य होते हैं.... हम व्यक्ति को मात्र सामाजिक जीवन की यांत्रिक इकाई के रूप में नहीं देख सकते।''[1]

रामदरश मिश्र का यह वक्तव्य उपन्यास की कथावस्तु और उसके चरित्र से संबंधित है। लेकिन यही बात कथाकार पर भी लागू होती है, जो एक विशेष सामाजिक परिधि के अंदर अपने विषय एवं क्षेत्र का चुनाव करता है, जो उसके दर्शन और प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है। यहाँ दर्शन और प्रतिबद्धता का अर्थ है आम जन के लिए, आम जन की स्थिति और आम जन की मुक्ति के साहित्य का लेखन।

भारत की आम जनता के प्रति प्रतिबद्धता के साथ उनके जीवन पर केंद्रित हिंदी उपन्यास लेखन की परंपरा की शुरुआत प्रेमचंद से मानी जाती है। ऐसा नहीं है कि प्रेमचंद से पहले यथार्थ परक उपन्यास नहीं लिखे गए। प्रेमचंद-पूर्व और प्रेमचंद में मूल अंतर इतिहास बोध का है। औपनिवेशिक भारत के सबसे उत्पीड़ित समुदायों को साहित्य के माध्यम से वाणी देने का जो कार्य प्रेमचंद के द्वारा किया गया, उससे न केवल उस युग का ऐतिहासिक दस्तावेज बना बल्कि आगे के साहित्यकारों में समाज को देखने की एक दृष्टि भी विकसित हुई। यही कारण है कि तमाम विचारों के आने और उस पर प्रचारित साहित्य लिखे जाने के बावजूद भी प्रेमचंद की इस परंपरा का निरंतर विकास होता रहा है। प्रेमचंद 'गोदान' उपन्यास में स्वतंत्रता से पूर्व के भारतीय किसानों के जीवन का वर्णन करते हैं। इस उपन्यास में प्रेमचंद के होरी की मृत्यु कई प्रश्न और चिन्ताओं को समाज के सामने लाने का काम करती है। मसलन-कृषि किसानों का भरण-पोषण भी करने में सक्षम नहीं है। लेकिन किसान के पास इसके अलावा कोई विकल्प भी नहीं है। धर्म, पंचायत और महाजनों का चक्रव्यूह किसानों के संकट को और बढ़ा देता है। यही कारण है कि अगली पीढ़ी का गोबर किसानी के बजाय शहर में मजदूरी को अपना विकल्प स्वीकार करता है। गाँव से शहर की ओर का यह पलायन गाँव की विकल्पहीनता से ही उपजा हुआ है। प्रेमचंद कितनी खूबसूरती से दोनों स्थितियों को बताते हैं, ''धनिया की साड़ी में कई पेबन्द लगे हुए थे। सोना की साड़ी सिर पर फटी हुई थी और उसमें से उसके बाल दिखाई दे रहे थे। रूपा की धोती में चारों तरफ झालरें-सी लटक रही थीं। सभी के चेहरे रूखे, किसी की देह पर चिकनाहट नहीं। जिधर देखो, विपन्नता का साम्राज्य था।''[2] किसानों के घरों में विपन्नता का यह साम्राज्य आज भी पसरा हुआ है। शहर में गाँव से पलायन करने वाले गोबर को लेकर प्रेमचंद लिखते हैं, ''अब वह सीधा-सादा ग्रामीण युवक नहीं है। उसने बहुत कुछ दुनिया देख ली और संसार का रंग-ढंग भी कुछ-कुछ समझने लगा था।... उसने पहले महीने तो केवल मजूरी की और आधा पेट खाकर थोड़े से रुपये बचा लिए। फिर वह कचालू और मटर और दहीबड़े के खोंचे लगाने लगा। इधर ज्यादा लाभ देखा तो नौकरी छोड़ दी।... सभाओं में आने-जाने से उसे कुछ राजनीतिक ज्ञान भी हो चला है। राष्ट्र और वर्ग का अर्थ समझने लगा है।''[3] सरकारों का कृषि को केवल अनाज उत्पादन तक सीमित रखते हुए उस पर अतिरिक्त निवेश को नजरंदाज करने के कारण कृषि पर संकट लगातार बना हुआ है। कृषि पर जनसंख्या बोझ ज्यादा होने और भारतीय सामाजिक संरचना के कारण होने वाले आकस्मिक खर्च भी किसानों के कर्ज, कृषि संकट और उनकी बदहाली के प्रमुख कारण हैं।

इसके बाद फणीश्वर नाथ रेणु ने 'मैला आंचल' में आजादी के पहले से लेकर आजादी तक के ग्रामीण जीवन और संकट को अपने इस उपन्यास में समेटा है। रेणु के यहाँ जीवन के वास्तविकता की अभिव्यक्ति अंचलिकता की सीमा को तोड़कर आगे बढ़ती है। तभी तो रेणु जी कहते हैं-''मैं यह मानता हूँ कि वे लोग ही-गाँवों के किसान-मजदूर ही-मुझसे लिखवाते थे।''[4] लोकगीतों से अपने ऊपर हो रहे अन्याय की अभिव्यक्ति के साथ-साथ कष्ट को भी थोड़े समय के लिए गाँव के किसान भूल जाते हैं। संगीत यहाँ अभिव्यक्ति और कष्ट भूलने का माध्यम भी है। क्यों ना हो? ''आज जमीन के मालिकों ने, जमीन के व्यवस्थापकों ने और धरती के न्याय ने धरती पर इनका किसी किस्म का हक नहीं जमने दिया है। जिस जमीन पर उनके झोंपड़े हैं, वह भी उनकी नहीं।''[5] अंचलिकता की सीमा में बांध देने वाले विद्वानों को यह समझ लेना चाहिए कि रेणु जी अंचलिकता के मैलेपन को दिखाना चाहते हैं। राजनीति तो स्वाभाविक भी है। जब पूरा देश आजादी की लड़ाई

अलग-अलग विचारों के साथ लड़ रहा है तो भारत का एक गाँव कैसे अछूता रह सकता है। लेकिन प्रदीप सक्सेना जी का यह कथन तार्किक है-''रेणु मैला आँचल में अंग्रेज जमींदारों देशी जमींदारों के सामंती शोषण, भूमिहीन किसानों की समस्याएं, सामाजिक असमानता और दुर्व्यवहार पर अपना ध्यान केंद्रित किए हुए हैं, यानि घोर राजनीतिक पहलुओं पर प्रकाश डाल रहे हैं।"[6] जनता के प्रति यही प्रतिबद्धता है कि रेणु डॉक्टर प्रशांत के माध्यम से यह देख पा रहे हैं-''आम से लदे हुए पेड़ों को देखने से पहले उसकी आँखें इंसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं, जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर जिंदा रहना है.. और ऐसे इंसान? भूखे, अतृप्त इंसानों की आत्मा कभी भ्रष्ट नहीं हो या कभी विद्रोह नहीं करे, ऐसी आशा करना ही बेवकूफी है।"[7]

मैला आँचल की खासियत ही यही है कि आजादी से पूर्व और आजादी के बाद की संरचना को राजनीति के माध्यम से बेपर्द किया है। आजादी के बाद भी नौकरशाही, जमींदारी और न्यायतंत्र में कोई बदलाव नहीं आया है। यही कारण है कि ईमानदार और देशभक्त बावनदास को अपनी जान देनी पड़ती है। रेणु लिखते हैं-''बावन ने दो आजाद देश की, हिंदुस्तान और पाकिस्तान, की ईमानदारी को, इंसानियत को, बस दो डेग में ही माप लिया।"[8] गोदान और मैला आँचल को लेकर नित्यानंद तिवारी जी का यह वक्तव्य सटीक लगता है जब वे लिखते हैं-''गोबर को अगर होरी की मौत नहीं मरनी है तो समाज को बदले या कालीचरण को अगर बावनदास की मौत नहीं मरनी है तो राजनीति को बदले। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संस्थाओं को तोड़े और बदले बिना वे जी नहीं सकते।"[9]

इसी प्रकार नागार्जुन के 'बलचनवा' उपन्यास में स्वतंत्रता पूर्व और उसके बाद की स्थितियों का यथार्थ वर्णन किया है। रामदरश मिश्र 'पानी के प्राचीर' के माध्यम से आजादी के पूर्व के ग्रामीण जीवन की वास्तविकता को व्यक्त करते हैं। वहीं शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वेतरणी' के माध्यम से स्वतंत्रयोत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन में आए उतार-चढ़ाव एवं बिखरते पुराने जीवन मूल्यों को प्रस्तुत किया है। गुलाम और आजाद भारत की तस्वीर को किसानों की नजरों से देखने और अभिव्यक्त करने का काम करके इन रचनाकारों ने प्रेमचंद की परम्परा को ही आगे बढ़ाया है। आर्थिक संरचना में बदलाव जब कुछ परिवारों को ध्यान में रखकर किया जाता है तो व्यापक जनता, विशेषकर किसानों की स्थिति और भी दयनीय हो जाति है। आजादी के बाद यह देखने को मिलता है कि देशी-विदेशी पूंजी मिलकर क्या तांडव मचाती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस तरफ काम ही रचनाकारों का ध्यान जाता है।

अस्सी के दशक में भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियों ने दस्तक देनी शुरू की, जिसने भारतीय किसानों के जीवन में कई प्रकार की नई समस्याओं को जोड़ दिया। इन्हीं बदलती परिस्थितियों और उभरी हुई नहीं समस्याओं का वर्णन संजीव ने 'फाँस' उपन्यास के माध्यम से वर्णित करने का सफल प्रयास किया है।

स्वतंत्रता-पूर्व से लेकर भूमंडलीकरण के दौर तक के कुछ रचनाकारों ने भारतीय ग्रामीण जीवन में व्याप्त विभिन्न समस्याओं को यथार्थ पूर्ण तरीके से चित्रित किया है। सभी के केंद्र में ग्रामीण जीवन और किसान हैं। इसीलिए उनकी समस्याओं में सत्यता दिखाई देती है, वह चाहे जमींदारी प्रथा हो, सामंती प्रथा हो, किसानों का शोषण हो, महाजनी प्रथा हो, भ्रष्टाचार हो या बेरोजगारी की मार झेलते हुए देश और विदेश की ओर पलायन जैसी विकराल स्थितियां हो या फिर विकास के नाम पर किसानों की जमीन को हथियाना तथा परिस्थितियों से विवश होकर किसानों द्वारा आत्महत्या करने जैसी त्रासद स्थितियां ही क्यों ना हो।

हिंदी उपन्यासों में किसानों के ऋणग्रस्ता और उससे मुक्ति पाने की संघर्ष गाथा प्रेमचंद के गोदान उपन्यास से प्रारंभ होती है। जहां कर्जदार किसान होरी असमय मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। प्रेमचंद से लेकर संजीव तक अनेक उपन्यासकारों ने किसान और उनकी ऋणग्रता को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। किंतु संजीव से पहले के उपन्यासकार के किसान हताश होकर आत्महत्या करते नजर नहीं आते क्योंकि हर उपन्यासकार संघर्ष और आंदोलन के द्वारा अच्छे दिन आने की उम्मीद करते हैं लेकिन उदारीकरण और वैश्वीकरण के आने के बाद आंदोलन के स्वरूप में बदलाव आया है। यही कारण है कि आज के समय में किसान हताश होकर आत्महत्या करने को विवश हैं। 'फाँस' उपन्यास आत्महत्या के आंकड़ों को इस प्रकार रखता है- ''1995 से वर्ष दर वर्ष जोड़ते हुए 2010 तक पंजाब, गुजरात, कर्नाटक, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, बुंदेलखंड, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र में कुल जमा दो लाख छप्पन हजार नो सौ तेरह, सर्वाधिक महाराष्ट्र में पचास हजार आठ सौ एक्यासीय तीन साल और जोड़ें तो यह संख्या 3 लाख को पार कर जाती

है।''[10] इस प्रकार यदि वर्तमान समय में इस ओर देखें तो आत्महत्या का यह नृशंस दौर लगातार जारी है।

सरकार द्वारा कई बार कर्ज माफी की योजना लागू की गई। लेकिन गांव के अधिकांश किसान होरी की भांति आज भी कर्ज के लिए बैंक की बजाय सूदखोर महाजनों पर निर्भर रहते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार की कर्ज माफी की योजना का लाभ आम किसानों को नहीं मिलता तथा किसान भय और असुरक्षा के वातावरण में रहता है। इसी असुरक्षा और भय के कारण 'फाँस' उपन्यास का पात्र सुनील, जो ग्रामीणों की प्रेरणा का स्रोत माना जाता था, वह भी हताश होकर आत्महत्या कर लेता है –''सुनील के गिरते ही अंधेरा छा गया। सिर्फ नागोरा में नहीं आसपास के दसियों गांवों में फैल गई मृत्यु गंध।''[11] संजीव के उपन्यास फाँस के सुनील की यह मृत्युगंध महाराष्ट्र को ही नहीं बल्कि देश के अन्य राज्यों को भी अपने दायरे में समेट लेती है।

गांव में कृषि ही जीविका का मुख्य साधन है। भूमि सीमित होने, प्राकृतिक प्रकोपों और कृषि साधनों के अविकसित होने के कारण उत्पादन अपर्याप्त है। ऐसे में गांव के किसान अपने आप को जीवित रखने के लिए शहरों या विदेश में अपने बेहतर भविष्य की तलाश करते हैं।

'गोदान' उपन्यास के पात्र गोबर की लगातार अपने पिता से बहस होती है कि खेती की बजाय शहर जाकर नौकरी करें। इसी प्रकार वीरेंद्र जैन के उपन्यास पार के एक पात्र बरेली की भी स्थिति कुछ-कुछ गोबर की तरह ही है। वह भी गोबर की ही तरह अपने गांव को अंतिम प्रणाम करके शहर जाना चाहता है –''वह तो गांव को अंतिम प्रणाम करके शहर जाना चाहता था। गांव में रहना ढोर चलाना असह्य हो चुका था उसके लिए।''[12] ऐसी ही सोच फाँस उपन्यास के पात्र दीपक पटेल की है जहां वह कहता है –''गांव में नौकरी का कोई भरोसा नहीं खेती खुद को ही खा रही थी। कोई चारा नहीं था मेरे पास।... आस पास के लोग पलायन कर रहे थे एक-एक कर। मेरे सामने सवाल था-मैं वहां रह कर मरूं या कहीं और जाकर? कहीं और यानी इल्लीगल ढंग से अमेरिका।''[13]

वास्तव में देश-विदेश जाकर रोजगार पाना एक मरीचिका के समान होता है। स्थितियां कहीं भी सीधी और सरल नहीं होतीं। इस प्रकार गांव से पलायन उनका शौक नहीं, बल्कि मजबूरी है। इसीलिए यह पलायन भारत के शहरों से लेकर विदेशों यानी अमेरिका, कनाडा, इराक और ऑस्ट्रेलिया तक पहुंच जाता है, जिसके लिए वह कानूनी और गैर कानूनी तरीकों को अपनाने से भी परहेज नहीं करते।

कृषि संकट और इससे जुड़े पलायन की यह समस्या साहित्य का विषय आरंभ से रही है। इस कृषि संकट और किसानों की दशा को प्रेमचंद से लेकर रेणु तक के रचनाकारों ने मुख्य विषय बनाया। वहीं सठोत्तरी भारत में मध्यम वर्गीय साहित्य के रुझान में कृषि संकट के बढ़ने के बावजूद भी किसानों की दशा और पलायन मुख्य विषय नहीं बन पाया। इसके बनने की जरूरत थी और आज भी है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग,
माता सुंदरी महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
laxmimansi2@gmail.com

सन्दर्भ ग्रंथ

1. हिन्दी उपन्यास की अंतर्यात्रा- रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण-2001, पृष्ठ संख्या-30
2. गोदान- प्रेमचंद, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण पुनर्मुद्रण-2010, पृष्ठ संख्या-198
3. वही, पृष्ठ संख्या-191
4. मैला आँचल का महत्व- संपादक-मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-108
5. मैला आँचल-फनीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण-2014, पृष्ठ संख्या-113
6. मैला आँचल का महत्व- संपादक-मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-109
7. मैला आँचल-फनीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण-2014, पृष्ठ संख्या-197
8. वही, पृष्ठ संख्या- 337
9. मैला आँचल का महत्व- संपादक-मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या-28
10. फाँस- संजीव, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-186
11. वही, पृष्ठ संख्या-72
12. पार- वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण 1998, पृष्ठ संख्या-32
13. फाँस- संजीव, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-226

विजेंद्र सिंह चौहान

ऐतिहासिक फिल्मों के माध्यम से नैरेटिव निर्माण : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

सार

भारतीय समाज में पिछले कुछ वर्षों में ऐतिहासिक फिल्मों की प्रवृत्ति बढ़ी है, जो इतिहास के जटिल और बहुलवादी स्वरूप को सरल बनाकर, एकध्रुवीय नैरेटिव का निर्माण करती दिखाई देती हैं। इस तरह के फिल्मी प्रस्तुतिकरण एक ओर तो ऐतिहासिक पुनरुत्थानवाद (Historical Revivalism) का रूप लेते हैं, वहीं दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक-सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को भी बल देते हैं। हालांकि, फिल्म निर्माण की प्रक्रिया और लोकप्रिय संस्कृति के उत्पादों में ऐतिहासिक घटनाओं को प्रस्तुत करना नया नहीं है, लेकिन हाल के दौर में जिस पैमाने और जिस उद्देश्य के साथ इन फिल्मों का निर्माण किया गया है, उससे अनेक प्रश्न उभरते हैं।

इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य यही है कि ऐसे फिल्मों द्वारा रचित नैरेटिव के सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों की गहन पड़ताल की जाए। इसके लिए हमने कुछ महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय फिल्मों जैसे कि 'छावा', 'पद्मावत', 'तानाजी', 'कश्मीर फाइल्स', 'केरला स्टोरी', और 'पानीपत' आदि का विशेष संदर्भ के साथ विश्लेषण किया है। हालिया समय में लक्ष्मण उटेकर द्वारा निर्देशित और विकी कौशल अभिनीत फिल्म 'छावा' का उदाहरण लेते हुए हम देखते हैं कि किस प्रकार एक ऐतिहासिक किरदार 'संभाजी महाराज' का चरित्रांकन और औरंगजेब का चित्रण आम जनता की ऐतिहासिक समझ को प्रभावित कर रहा है।

बीज शब्द (keywords) : ऐतिहासिक सिनेमा, सांप्रदायिक ध्रुवीकरण, बहुसंख्यकवाद, स्त्री विमर्श, सामाजिक मीडिया, बहुलतावाद।

ऐतिहासिक फिल्मों में नैरेटिव का सरलीकरण

फिल्मों में इतिहास का चित्रण अकसर नायकों और खलनायकों की सरल पहचान स्थापित करता है, जो वास्तविक इतिहास की जटिलता को नजरअंदाज करता है।[1] 'तानाजी' (2020) और 'पानीपत' (2019) जैसी फिल्मों में इतिहास का सरलीकरण करके एक समुदाय विशेष को गौरवान्वित और दूसरे को विलेन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सच्चाई यह है कि ऐतिहासिक पात्रों में अच्छाई और बुराई का मिश्रण होता है, परन्तु फिल्मों का नैरेटिव इन जटिलताओं को नजरअंदाज करता है।[2]

इस संदर्भ में यह समझना आवश्यक है कि लोकप्रिय संस्कृति के उत्पाद इतिहास को किस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। समाजशास्त्री आशीष नंदी (2002) का मत है कि सिनेमा समाज के सांस्कृतिक मानस का दर्पण होता है, जो लोकप्रिय नैरेटिव के जरिये एक सामूहिक चेतना को दिशा देता है। इसी प्रकार, मनु एस. पिल्लई (2019) भी अपनी पुस्तक 'The Courtesan, the Mahatma & the Italian Brahmin' में कहते हैं कि इतिहास को सरलीकृत बनाकर परोसने से हम उसके वास्तविक सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलताओं और बहुलता को खो देते हैं।

इस प्रवृत्ति के एक प्रमुख पक्ष के रूप में ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के पात्रों का एकांगी चित्रण किया जाता है। ऐसे पात्रों को या तो पूरी तरह नायक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है या पूर्णत: खलनायक के रूप में। उदाहरण के तौर पर संजय लीला भंसाली की 'पद्मावत' (2018) में राजपूत

समुदाय की नैतिक श्रेष्ठता एवं मुस्लिम शासक की क्रूरता का सरलीकरण स्पष्ट है। इसी प्रकार 'तानाजी' (2020) में इतिहास के जटिल किरदारों का बेहद इकहरा चित्रण दिखाई देता है। वहीं, 'कश्मीर फाइल्स' (2022) एवं 'केरला स्टोरी' (2023) जैसी फिल्में साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों और सामाजिक ध्रुवीकरण को बढ़ावा देने वाली स्पष्ट प्रतीत होती हैं। इन फिल्मों के माध्यम से समाज में समुदाय विशेष के प्रति घृणा व भय का वातावरण निर्मित होता देखा जा सकता है (Apoorvanand, 2022; The Hindu)।

पुनरुत्थानवादी सिनेमा (Revivalist Cinema) का यह ट्रेंड इसलिए भी चिंताजनक है क्योंकि ये फिल्में न केवल ऐतिहासिक तथ्यों से छेड़छाड़ करती हैं, बल्कि इस छेड़छाड़ से उत्पन्न प्रभावों को साम्प्रदायिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग भी किया जाता है। जैसे कि 'छावा' की रिलीज के तुरंत बाद दिल्ली में मुगलकालीन सड़कों के नामों के विरुद्ध व्यापक विरोध प्रदर्शन हुए। इस प्रकार की फिल्में समाज में व्याप्त बहुलतावादी एवं बहुसांस्कृतिक परम्पराओं को नजरअंदाज कर, बहुसंख्यकवादी एजेंडे (Majoritarian agenda) को बढ़ावा देती हैं।

अतः इस शोध आलेख में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि इतिहास को सरल और एकध्रुवीय नैरेटिव में प्रस्तुत करने वाली ये लोकप्रिय फिल्में अंततः भारतीय समाज के बहुलतावादी ढांचे के लिए खतरनाक साबित हो सकती हैं। इसके समाधान के लिए आवश्यक है कि ऐतिहासिक फिल्मों को अधिक संतुलित एवं जिम्मेदाराना दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया जाए ताकि यह समाज के सांस्कृतिक, भाषाई और धार्मिक विविधता का सम्मान करे, न कि इसे खंडित और ध्रुवीकृत करने का औजार बने।

बहुसंख्यकवाद और सांप्रदायिक ध्रुवीकरण : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और समकालीन राजनीतिक संदर्भ

सिनेमा हमेशा से समाज का आईना रहा है, जिसमें राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को प्रतिबिंबित करने की क्षमता होती है।[3] हाल ही में हिंदी फिल्मों में ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रण का एक स्पष्ट ट्रेंड उभरा है, जिसमें इतिहास का सरलीकरण और समुदायों का ध्रुवीकरण नजर आता है। उदाहरण के तौर पर फिल्म 'छावा' (2024) में छत्रपति सांभाजी महाराज और मुगल सम्राट औरंगजेब के बीच संघर्ष को चित्रित किया गया, जिससे दिल्ली में मुगल साम्राज्य से जुड़े नामों वाले स्थानों पर विवाद सामने आया।[4] इस तरह की फिल्में एक खास तरह के नैरेटिव को स्थापित करती हैं जो भारतीय समाज की बहुलवादी संरचना को चुनौती देती हैं।

भारत में लोकप्रिय सिनेमा ने हमेशा से ही समाज और राजनीति के साथ गहरे संबंध बनाए रखे हैं। विशेषकर ऐतिहासिक फिल्मों के जरिए सामाजिक-राजनीतिक धारणाओं को आकार देने का चलन बहुत पुराना है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में इस प्रवृत्ति ने एक विशेष दिशा ले ली है, जिसमें बहुसंख्यकवादी नैरेटिव और सांप्रदायिक ध्रुवीकरण का स्वर बेहद स्पष्ट हो गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो हिंदी सिनेमा ने 1940-50 के दशक में राष्ट्रवादी और पुनरुत्थानवादी फिल्मों जैसे 'सिकंदर' (1941), 'पृथ्वीराज संयोगिता' (1946) और बाद में 'मुगल-ए-आजम' (1960) आदि के माध्यम से विविध सांस्कृतिक परंपराओं का सम्मान करते हुए इतिहास को प्रस्तुत किया था।[5] इन फिल्मों का उद्देश्य बहुलतावादी भारतीय संस्कृति का उत्सव मनाना था, न कि विभाजन या ध्रुवीकरण करना।

1970-80 के दशक तक आते-आते, भारत में फिल्मों ने सामाजिक समरसता और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को पुष्ट करने का कार्य किया। फिल्में जैसे 'अमर अकबर एंथोनी' (1977) बहुलतावादी विचार को लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से सामने लाईं।[6] किन्तु 1990 के दशक में अयोध्या आंदोलन और मंडल-कमंडल राजनीति के उदय के साथ ही लोकप्रिय सिनेमा भी धीरे-धीरे सांप्रदायिक ध्रुवीकरण से प्रभावित होने लगा। यही दौर था जब 'गदर : एक प्रेम कथा' (2001) जैसी फिल्मों में सूक्ष्म रूप से ही सही, सांप्रदायिक चेतना को दर्शाया जाने लगा।[7]

हालांकि, 2014 के बाद राजनीतिक-सामाजिक माहौल में एक विशेष किस्म के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ है, जिसने फिल्मों में बहुसंख्यकवादी दृष्टिकोण को खुले रूप में प्रोत्साहित किया है। इस दौर में 'पद्मावत' (2018), 'तानाजी' (2020), 'कश्मीर फाइल्स' (2022) और 'केरला स्टोरी' (2023) जैसी फिल्में आईं, जिनका स्वरूप स्पष्ट रूप से एक समुदाय विशेष की नायकत्व स्थापना के साथ-साथ अन्य समुदायों का नकारात्मक चित्रण करने की दिशा में चला गया।[8] यह नैरेटिव समाज को 'हम' बनाम 'वे' की मानसिकता में बांटता नजर आता है।

'कश्मीर फाइल्स' और 'केरला स्टोरी' जैसी फिल्मों ने

स्पष्ट सांप्रदायिक नैरेटिव खड़ा करके बहुसंख्यक समाज की चिंताओं, भय, और असुरक्षा को उभारते हुए ध्रुवीकरण को मजबूत किया। 'कश्मीर फाइल्स' को लेकर कई आलोचकों ने चिंता व्यक्त की कि इस फिल्म ने एक समुदाय विशेष के विरुद्ध भावनाएं भड़काईं।[9] इसका समर्थन या कम से कम मौन सहमति देश के मौजूदा राजनीतिक सत्ता द्वारा स्पष्ट दिखाई देती है। राजनीतिक नेताओं ने न केवल इन फिल्मों की सार्वजनिक प्रशंसा की, बल्कि कई राज्यों में कर-मुक्त कर फिल्म को अप्रत्यक्ष सरकारी समर्थन प्रदान किया।[10]

इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए इतिहासकार रोमिला थापर (2023) ने कहा कि ऐसे एकध्रुवीय नैरेटिव का निर्माण वास्तव में इतिहास के जटिल और बहुलवादी स्वरूप के विरुद्ध है, और यह प्रवृत्ति भारत के विचार के लिए खतरनाक है। भारत जैसे बहुलवादी समाज में, इस प्रकार की फिल्मों द्वारा इतिहास के सांप्रदायिक सरलीकरण का परिणाम सामाजिक अस्थिरता और साम्प्रदायिक तनावों के रूप में प्रकट होता है।

इस प्रकार, हाल के दौर में फिल्मों द्वारा ऐतिहासिक तथ्यों का राजनीतिक उपयोग और उनकी स्वीकृति राजनीतिक सत्ता द्वारा बहुलवादी और सांस्कृतिक सहिष्णुता के लिए एक गंभीर चुनौती है। इस चुनौती के प्रति समाज और सिनेमा जगत की सजगता आवश्यक है।

मीडिया की भूमिका और जनमानस : सामाजिक मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

लोकप्रिय मीडिया और सिनेमा की शक्ति केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं होती; वे समाज की सोच, समझ, और सामूहिक व्यवहार को आकार देने वाले महत्त्वपूर्ण माध्यम होते हैं। सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो लोकप्रिय ऐतिहासिक फिल्में दर्शकों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करती हैं, जिससे उनका ऐतिहासिक बोध एवं सामाजिक चेतना आकार लेती है।[11] हाल के वर्षों में, ऐसी फिल्मों के जरिए इतिहास की बहुलवादी समझ को तोड़कर एक विशिष्ट बहुसंख्यकवादी नैरेटिव थोपने की कोशिशें तेज हुई हैं, जिनका व्यापक प्रभाव सामाजिक ध्रुवीकरण और सांप्रदायिक तनाव के रूप में दिखाई देता है।

ऐतिहासिक रूप से, सिनेमा के माध्यम से समाज की सामूहिक चेतना को दिशा देने की प्रक्रिया नई नहीं है। किन्तु डिजिटल युग में सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स, जैसे ट्विटर, फेसबुक और व्हाट्सएप के माध्यम से फिल्मों द्वारा बनाए गए नैरेटिव को तेजी से फैलाने और उसे वास्तविकता में बदलने की प्रक्रिया पहले की तुलना में कहीं अधिक तीव्र हो गई है।[12] इस प्रक्रिया को मनोविज्ञान में 'कन्फर्मेशन बायस' (Confirmation Bias) और 'सामूहिक ध्रुवीकरण' (Group Polarization) की अवधारणा से समझा जा सकता है। कन्फर्मेशन बायस के तहत लोग उन्हीं सूचनाओं को स्वीकार करते हैं जो उनके पूर्वाग्रहों और मान्यताओं को मजबूत करती हैंRaymond S. Nickerson, Confirmation Bias, p. 175। इस तरह की फिल्में सोशल मीडिया के जरिए ऐसे पूर्वाग्रहों को बल देती हैं और एकध्रुवीय सोच को मजबूत करती हैं।

इस संदर्भ में, 'कश्मीर फाइल्स' (2022) और 'केरला स्टोरी' (2023) जैसी फिल्में स्पष्ट उदाहरण हैं। इन फिल्मों की रिलीज के तुरंत बाद सोशल मीडिया पर व्यापक स्तर पर नैरेटिव बिल्डिंग का अभियान चला, जिसमें फिल्मों के काल्पनिक दृश्यों और विवादास्पद संवादों को सच के तौर पर पेश किया गया। ट्विटर और व्हाट्सएप जैसे माध्यमों पर इस तरह के संदेशों का वायरल होना और इनके जरिये सांप्रदायिक भावनाओं का भड़कना सामाजिक तनाव और हिंसा का कारण भी बना है। उदाहरण के तौर पर 'कश्मीर फाइल्स' की रिलीज के बाद देश के कई इलाकों से हिंसा और तनाव के मामले सामने आए, जहाँ लोगों के बीच आपसी अविश्वास बढ़ा (The Wire, 2022)।

सामाजिक मनोवैज्ञानिक शांति मणि (2021) के अनुसार, सोशल मीडिया पर इस तरह की फिल्मों के क्लिप्स, संवाद और विवादास्पद हिस्से बहुत तेजी से प्रसारित होते हैं। सोशल मीडिया पर इन फिल्मों के समर्थक और विरोधी गुटों के बीच लगातार बहसों और तीखे संवादों से एक 'Echo Chamber' निर्मित होता है, जिसमें हर पक्ष सिर्फ अपनी ही सोच को मजबूत करता है, और बहुलतावादी विमर्श की संभावना खत्म हो जाती है। यह Echo Chamber एक सामाजिक ध्रुवीकरण का निर्माण करता है, जिसमें लोग अपने-अपने समूह की पहचान के आधार पर एक-दूसरे के खिलाफ खड़े हो जाते हैं।[13]

एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है राजनीतिक समर्थन या मूक स्वीकृति, जिसके चलते सोशल मीडिया पर चल रहे इन अभियानों को वैधता मिलती है। राजनीतिक दलों के आईटी सेल, सोशल मीडिया पर नैरेटिव को सुनियोजित रूप से चलाते हैं, जिससे बहुसंख्यकवादी दृष्टिकोण व्यापक तौर पर

स्वीकृति प्राप्त कर लेता है।[14] इसके परिणामस्वरूप बहुलतावादी समाज की अवधारणा कमजोर पड़ती है और अल्पसंख्यक समुदाय हाशिये पर पहुँच जाते हैं।

अत:, सिनेमा और सोशल मीडिया के इस संगम ने समाज में न सिर्फ एकध्रुवीय नैरेटिव को मजबूती दी है, बल्कि सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को भी हवा दी है। इन फिल्मों का इस्तेमाल सामाजिक-राजनीतिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए होता है, जिसके दूरगामी परिणाम साम्प्रदायिक सद्भाव और लोकतांत्रिक बहुलता के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहे हैं।

केस स्टडी : हालिया फिल्में - स्त्री विमर्श और सांप्रदायिकता का विश्लेषण

1. पद्मावत (2018)

'पद्मावत' फिल्म का कथानक मेवाड़ की रानी पद्मावती और अलाउद्दीन खिलजी के मध्य कथित ऐतिहासिक टकराव पर आधारित है। फिल्म में पद्मावती के 'जौहर' (सामूहिक आत्मदाह) को वीरता और स्त्रीत्व के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह चित्रण स्त्री स्वतंत्रता की बजाय उनके मातहतकरण को महिमामंडित करता है।[15] फिल्म में खिलजी के किरदार को एक बर्बर आक्रमणकारी के रूप में प्रस्तुत किया गया, जिससे मुस्लिम पहचान के प्रति नकारात्मक धारणा बनी। स्त्री विमर्श के नजरिए से देखें तो महिलाओं के अधिकारों की तुलना में सामुदायिक सम्मान को अधिक प्राथमिकता दी गई।

2. छावा (2024)

फिल्म 'छावा' छत्रपति शिवाजी के पुत्र संभाजी महाराज की मुगल सम्राट औरंगजेब से लड़ाई पर आधारित है। फिल्म में संभाजी को हिंदू अस्मिता के प्रतीक नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि औरंगजेब को कट्टर मुस्लिम शासक के तौर पर दर्शाया गया। फिल्म में स्त्री चरित्र पृष्ठभूमि में सीमित हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि फिल्म का उद्देश्य ऐतिहासिकता से अधिक बहुसंख्यकवादी अस्मिता को बढ़ावा देना है। फिल्म में औरंगजेब के किरदार के जरिए मुस्लिम समुदाय को सीधे तौर पर आक्रमणकारी और विरोधी छवि में प्रस्तुत किया गया है, जो सांप्रदायिक तनाव को बढ़ावा देता है।

3. द केरला स्टोरी (2023)

'द केरला स्टोरी' का कथानक यह दावा करता है कि केरल की युवा हिंदू लड़कियों को जबरन इस्लाम में धर्मांतरित कर आतंकवादी संगठन ISIS में शामिल किया जा रहा है। फिल्म स्त्री विमर्श को इस्तेमाल करती है लेकिन स्त्रियों को स्वतंत्र इकाई के बजाय पीड़ित और बेबस चरित्र के रूप में चित्रित करती है। यह महिलाओं की अस्मिता और अधिकारों के संरक्षण के नाम पर मुस्लिम समुदाय के प्रति भय और संदेह पैदा करती है। यह फिल्म धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय को संदेह और खतरे के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करके बहुसंख्यकवादी नैरेटिव को बढ़ावा देती है।

4. द कश्मीर फाइल्स (2022)

'द कश्मीर फाइल्स' 1990 के दशक में कश्मीरी पंडितों के पलायन की घटनाओं पर आधारित है। फिल्म में कश्मीरी मुस्लिमों को पूर्णत: खलनायक के तौर पर दिखाया गया है, जबकि पंडित समुदाय को सिर्फ पीड़ित के रूप में प्रस्तुत किया गया है। फिल्म में स्त्री चरित्रों की उपस्थिति भी हिंसा के प्रतीकों तक सीमित है, जो महिलाओं की एजेंसी को नजरअंदाज करता है। यह फिल्म बहुसंख्यक समुदाय की संवेदनाओं का शोषण करके मुस्लिम समुदाय के प्रति घृणा और असुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है।

ऊपर विश्लेषित इन फिल्मों में स्पष्ट पैटर्न देखा जा सकता है। ये फिल्में स्त्री विमर्श को सतही तौर पर इस्तेमाल करती हैं, किन्तु महिलाओं को स्वतंत्र और अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों के बजाय सामुदायिक गौरव या पीड़ित की भूमिका में सीमित करती हैं। सांप्रदायिक दृष्टिकोण से इन फिल्मों में एक समुदाय विशेष (अल्पसंख्यक) को लगातार नकारात्मक और हिंसक छवि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। फिल्मकारों द्वारा ऐतिहासिक और सामाजिक जटिलताओं को नजरअंदाज कर, सरल 'हम' बनाम 'वे' का नैरेटिव तैयार किया गया है। यह स्पष्ट है कि इन फिल्मों का उद्देश्य सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और बहुसंख्यकवादी प्रभुत्व को स्थापित करना है। ऐसे नैरेटिव का सामाजिक प्रभाव बेहद हानिकारक है, जो भारतीय समाज की बहुलवादी पहचान और सांप्रदायिक सद्भाव के लिए गम्भीर चुनौती प्रस्तुत करता है। यह पैटर्न केवल संयोग नहीं, बल्कि एक सुविचारित और योजनाबद्ध रणनीति का हिस्सा प्रतीत होता है, जिसका उद्देश्य बहुसंख्यकवादी वर्चस्व की स्थापना है।

निष्कर्ष

इस शोध आलेख के माध्यम से हमने देखा कि लोकप्रिय ऐतिहासिक फिल्मों का नैरेटिव निर्माण महज मनोरंजन या सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह

सामाजिक-राजनीतिक नैरेटिव को गढ़ने और जनमानस को एकध्रुवीय दिशा में प्रेरित करने का एक प्रभावी माध्यम बन गया है। विशेष रूप से पिछले एक दशक में हिंदी फिल्मों का यह चलन स्पष्ट तौर पर बहुसंख्यकवादी और सांप्रदायिक मानसिकता को प्रोत्साहित करता दिखाई देता है। इस प्रक्रिया में इतिहास की जटिलताओं को दरकिनार कर उसे सरल और एकांगी बनाया जा रहा है, जो भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक बहुलवाद के लिए एक बड़ा खतरा बन सकता है।

इस आलेख में चर्चा की गई फिल्मों—'पद्मावत', 'छावा', 'द केरला स्टोरी', और 'द कश्मीर फाइल्स'—के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इन फिल्मों में निहित नैरेटिव और चित्रण जानबूझकर एक खास सांस्कृतिक और राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैयार किए गए हैं। उदाहरण के तौर पर, 'पद्मावत' में स्त्री के मातहतकरण को जौहर के रूप में महिमामंडित किया गया है, जबकि 'छावा' और 'द कश्मीर फाइल्स' जैसी फिल्मों में समुदाय विशेष की छवि को पूर्णत: नकारात्मक और हिंसक तौर पर चित्रित किया गया है। 'द केरला स्टोरी' जैसे उदाहरणों में महिला सुरक्षा के नाम पर सांप्रदायिक भय का वातावरण निर्मित किया गया है। इन सभी फिल्मों में स्त्री चरित्रों को स्वतंत्र और अधिकार संपन्न व्यक्तियों के बजाय या तो समुदाय की प्रतिष्ठा के प्रतीक या पीड़ित की छवि तक सीमित रखा गया है।

ऐसे चित्रण और कथानक जब सोशल मीडिया के जरिए वायरल होते हैं तो समाज में गहरे विभाजन को बढ़ावा देते हैं। ट्विटर, फेसबुक और व्हाट्सएप जैसे माध्यमों के माध्यम से यह नैरेटिव और तीव्र तथा विषाक्त बनता जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वास्तविक हिंसा और सांप्रदायिक तनाव की घटनाएं भी सामने आई हैं। ऐसे मामलों में अक्सर राजनीतिक नेतृत्व की मौन स्वीकृति या सक्रिय समर्थन भी देखा गया है, जिससे ध्रुवीकरण की प्रक्रिया और तीव्र होती है।

इतिहास के इस तरह से एकध्रुवीय प्रस्तुतिकरण के गंभीर सामाजिक परिणाम हैं। यह न सिर्फ सामाजिक सद्भाव और बहुलतावादी समझ को नुकसान पहुँचाता है, बल्कि लोकतंत्र की नींव समझे जाने वाली विचारों की विविधता (Diversity of Thought) और आलोचनात्मक चिंतन (Critical Thinking) को भी कमजोर करता है। इसलिए यह बेहद जरूरी है कि दर्शक इन फिल्मों को सिर्फ मनोरंजन के साधन के रूप में देखें और इतिहास को समझने के लिए गंभीर अकादमिक स्रोतों और शोध-आधारित पुस्तकों का सहारा लें। अंतत:, भारतीय समाज की बहुलवादी संरचना को बचाने के लिए मीडिया और समाज, दोनों को ही अधिक सजग और जिम्मेदार होना होगा।

एसोसिएट प्रोफेसर
जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. Charu Gupta, Representations of History in Bollywood Cinema: Politics of Culture, p. 229
2. Ashish Rajadhyaksha, The Bollywoodization of Indian Cinema, p. 161
3. Rachel Dwyer, Filming the Gods, p. 42
4. Times of India, Controversy Erupts over Renaming of Streets Post 'Chhava' Film Release, p. 1
5. Rachel Dwyer, Filming the Gods, p. 42
6. Fareed Kazmi, The Politics of India's Conventional Cinema, p. 75
7. Ira Bhaskar, The Indian Cinema and Communal Politics, p. 2
8. Subhash K. Jha, How Bollywood Became a Tool for Propaganda, p. 1
9. Apoorvanand, Kashmir Files: When Cinema Becomes an Instrument of Hate, p. 1
10. The Indian Express, The Kashmir Files made tax-free in multiple BJP states, p. 1
11. Sonia Livingstone and Ranjana Das, The End of Audiences?, p. 110
12. Shakuntala Banaji and Ram Bhat, WhatsApp Vigilantes, p. 10
13. Cass R. Sunstein, #Republic: Divided Democracy in the Age of Social Media, p. 22
14. Milan Vaishnav and Jamie Hintson Gupta, Social Media and Political Polarization in India, p. 3
15. Rachel Dwyer, The Controversy of 'Padmaavat', p. 36

संदर्भ ग्रंथ सूची

- Apoorvanand. "Kashmir Files: When Cinema Becomes an Instrument of Hate." *The Wire*, 2022, thewire.in/film/kashmir-files-cinema-hate-instrument. Accessed 10 Apr. 2025.
- Banaji, Shakuntala, and Ram Bhat. *WhatsApp Vigilantes: An Exploration of Citizen Reception and Circulation of WhatsApp*

Misinformation Linked to Mob Violence in India. LSE, 2019.
- Bhaskar, Ira. "The Indian Cinema and Communal Politics." Seminar, vol. 647, 2013, www.india-seminar.com/2013/647/647_ira_bhaskar.htm. Accessed 10 Apr. 2025.?
- Dwyer, Rachel. *Filming the Gods: Religion and Indian Cinema*. Routledge, 2006.
- Dwyer, Rachel. "The Controversy of 'Padmaavat': Representation and History in Indian Cinema." *Economic & Political Weekly*, vol. 53, no. 10, 2018, pp. 36-41.
- Gupta, Charu. "Representations of History in Bollywood Cinema: Politics of Culture." *Contributions to Indian Sociology*, vol. 47, no. 2, 2013, pp. 229-255.
- Jha, Subhash K. "How Bollywood Became a Tool for Propaganda." National Herald, 2022, www.nationalheraldindia.com/opinion/how-bollywood-became-a-tool-for-propaganda. Accessed 10 Apr. 2025.
- Kazmi, Fareed. *The Politics of India's Conventional Cinema: Imaging a Universe, Subverting the Multiverse*. Sage Publications, 1999.
- Nandy, Ashis. *The Romance of the State: And the Fate of Dissent in the Tropics*. Oxford University Press, 2002.
- Pillai, Manu S. *The Courtesan, the Mahatma & the Italian Brahmin: Tales from Indian History*. Context, 2019.
- Rajadhyaksha, Ashish. "The Bollywoodization of Indian Cinema." *Inter-Asia Cultural Studies*, vol. 10, no. 2, 2009, pp. 161-176.
- Sarkar, Bhaskar. *Mourning the Nation: Indian Cinema in the Wake of Partition*. Duke University Press, 2018.
- Sunstein, Cass R. *#Republic: Divided Democracy in the Age of Social Media*. Princeton University Press, 2017.
- Thapar, Romila. *Voices of Dissent: An Essay*. Penguin Random House India, 2023.?
- Thapar, Romila. "Why Simplifying History is Dangerous." The Hindu, 2023, . Accessed 10 Apr. 2025.
- Vaishnav, Milan, and Jamie Hintson Gupta. "Social Media and Political Polarization in India." *Carnegie Endowment for International Peace*, 2019.

आदिवासी दुनिया : एक संक्षिप्त परिचय

सीता मीना

आदिवासी- आदिवासी शब्दकाल बोधक शब्द है। यह दो शब्दों से मिलकर बना है- 'आदि' एवं 'वासी', आदि शब्द का अर्थ है- शुरुआत या प्रारंभ तथा वासी शब्द का अर्थ है- किसी स्थान पर निवास करने वाले। इस तरह आदिवासी शब्द का अर्थ जोड़कर देखा जाये तो वह निकलता है कि किसी स्थान विशेष पर ज्ञात समय से निवास करने वाले लोग। ऐसे लोगों को उस स्थान का मूल निवासी भी कहते हैं। मूल निवासी शब्द किसी भौगोलिक क्षेत्र के उन निवासियों के लिए प्रयोग किया जाता है जिनका उस भौगोलिक क्षेत्र से ज्ञात इतिहास में सबसे पुराना संबंध रहा हो। डॉ. गंगा सहाय मीना आदिवासियों के संबंध में लिखते हैं कि ''देश के मूलनिवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम हैं। इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' इन समुदायों के आदिम युग के इतिहास का घोतक है।''[1] हिंदी में आदिवासी के अलावा वनवासी, जनजाति, जंगली, बर्बर, गिरिजन, लंगोटिया आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी में इंडीजीनस, अबोर्जिनल, प्रिमिटिव, नेटिव, बैंड, नैव, सैवेज आदि प्रमुख है।

2011 जनगणना के अनुसार भारत में आदिवासियों की जनसंख्या, भारत की जनसंख्या का 8.6% (स्रोत-रजिस्ट्रार जनरल कार्यालय, भारत) है। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए 'अनुसूचित जनजाति' का उपयोग किया जाता है।

भारत के प्रमुख आदिवासी समुदायों में संथाल, उरांव, कोल, मुंडा, मीना, गोंड, सहरिया, असुर, हो, भील, नायक आदि हैं। भारत के कुछ राज्यों में आदिवासी बहुसंख्यक के रूप में पाए जाते हैं जिनमे हैं झारखण्ड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजस्थान, अंडमान एवं निकोबार, सिक्किम, त्रिपुरा, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, नागालैंड और असम है। तथा कुछ राज्यों में आदिवासी अल्पसंख्यक के रूप में पाए जाते हैं जिनमे गुजरात, बिहार, कर्नाटक, उत्तरप्रदेश व पश्चिम बंगाल शामिल है।

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने दिसंबर 1994 मे पहली बार 9 अगस्त को विश्व आदिवासी दिवस के रूप में घोषित किया। संयुक्त राष्ट्र के अनुसार विश्व में आदिवासियों की जनसंख्या करीब 47 करोड़ है जो दुनिया की कुल आबादी का 6.2% (स्रोत- विश्व बैंक) है। दुनिया के लगभग 90 देशों में आदिवासियों की आबादी पाई जाती है जो दुनिया के लगभग 22% भूभाग पर अपना दावा करते हैं।

विश्व के कुछ प्रमुख आदिवासियों में उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियन, दक्षिणी अमेरिका के बोरो जनजाति, अफ्रीका के पिग्मी, मसाई, तुआरेग जुलू आदि, यूरोप के नॉर्डिक जनजाति, कुर्द जनजाति ओशनीय के ब्लैक फेलो, माआरी जनजाति आदि है।

अवधारणा- आदिवासियों को सहज ही असभ्य और बर्बर समझ लिया जाता है। उसकी सभ्यता को नहीं तो कोई सहृदय के साथ समझने की कोशिश करता है और ना कोई उनके साथ बराबरी का व्यवहार करता है। उनके बाहरी स्वरूप के आधार पर परिभाषा गढ़ दी जाती है। इस विकासमान मानव के प्रति लोगों की विभिन्न अवधारणाएं बनी हुई है।

रमणिका गुप्ता आदिवासियों के लिए लिखती है कि "अधनंगे रहने के कारण या लंगोटी पहने शिकार के लिए जंगल-जंगल भटकने से भी उन्हें 'भूमिपुत्र' या 'वनपुत्र' कहना

समीचीन समझते हैं। जंगल के 'अनभिषेक राजा' के रूप में भी उनका उल्लेख किया जाता है।''[2]

डॉ. मजूमदार ने आदिवासियों के लिए लिखा है, ''आदिवासी जनजाति, परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक समूह है, जो सामान्य नाम धारण किए हुए हैं। इसके सदस्य एक भूमि पर निवास करते हैं और एक भाषा-भाषी, विवाह की प्रथाओं तथा कारोबार संबंधी पारस्परिक व्यवहार को विकसित करते हैं। साधारणत: आदिवासी जनजाति अंतर्विवाह का समर्थन करती है और इसके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति में विवाह करते हैं। कई गोत्र से मिलकर आदिवासी जनजाति की रचना होती है। प्रत्येक गोत्र का परस्पर रक्त संबंध जुड़ा होता है। इस तरह आदिवासी जनजाति को एक राजनीतिक संघ भी माना जाता है।''[3]

जनसत्ता में आदिवासियों के लिए लिखा है कि ''आदिवासी प्रकृति पूजक होते हैं। पारिस्थितिक तंत्र में उनकी भूमिका प्रकृति-हितेषी की है। अत: उनके द्वारा प्रकृति को नुकसान पहुंचाने का प्रश्न ही नहीं उठता।''[4]

वेरियर एल्विन आदिवासियों के लिए लिखते हैं कि ''आदिवासी भारतवर्ष की वास्तविक स्वदेशी उपज है जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ये वे प्राचीन लोग हैं जिनके भौतिक आधार और दावे हजारों वर्ष पुराने हैं। वे सबसे पहले यहाँ आए उन पर सबसे पहले विचार होना चाहिए।''[5]

आई. एम. लेविश के शब्दों में, ''वैचारिक दृष्टि से आदिवासी समुदाय आकार में छोटे होते हैं और सामाजिक, वैचारिक और राजनीतिक संबंधों में विशेष सांस्कृतिकता तक सीमित है और उनके अपने नैतिक मूल्य, धर्म, और दृष्टिकोण होते हैं। आदिवासी भाषाएँ अलिखित होती है और इस प्रकार समय और स्थान के अनुसार संचार निश्चित रूप से कम से कम ही हो पाता है।''[6]

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार, ''सरलतम रूप में आदिवासी ऐसी टोलियों का समूह है जो अपना उद्‌गम समान पूर्वज होने का दावा करते हैं।''[7]

स्वरूप- भौतिक विज्ञान के अनुसार 13.8 अरब वर्ष पहले बिग-बेंग नामक घटना से ऊर्जा, छोटे-छोटे परमाणु के रूप में पदार्थ में परिवर्तित हो गई। रसायन विज्ञान के अनुसार छोटे-छोटे परमाणुओं के आपस में मिलने से अणुओं, तत्वों, योगिकों, पिंडों ग्रहों तथा सौरमंडल का निर्माण हुआ। इस प्रकार आज से 4.8 अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी का निर्माण हुआ। जीव विज्ञान के अनुसार कुछ न्यूक्लोइट्स के आपस में मिलने से पृथ्वी पर तकरीबन 3.8 अरब वर्ष पहले पानी में जीवन की उत्पत्ति हुई। चार्ल्स डार्विन के अनुसार समय के साथ-साथ यह जीव विकासवाद की लंबी प्रक्रिया से गुजरते हुए बंदरों से मनुष्य में परिवर्तित हुए। ये मानव दो पैरों से चलने में सक्षम थे। इस वजह से धरती के सभी भूभाग में फैल गए। ज्ञान के विकास से मानव कृषि करना सीख गया तथा इस तरह एक जगह पर रहकर जीवन यापन करना संभव हो पाया। इस प्रकार धीरे-धीरे समाज एवं संस्कृतियों का निर्माण हुआ।

इस प्रकार मनुष्य जिस स्थान पर शुरुआत से रहना प्रारंभ किया वह उस स्थान का आदिवासी या मूलनिवासी कहलाया। आर्यों के आने से पहले आदिवासी जनजाति के लोग नदी-झीलों, पर्वत-पहाड़ों, घाटी-दर्रों में अपना जीवन यापन कर रहे थे। अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रकृति से चीज ले रहे थे तथा प्रकृति के साथ संतुलित जीवन यापन कर रहे थे। ''खेबर दर्रे से जब आर्य भारत आए तो वह अपने साथ रथ, बरछी, कुल्हाड़ी, गाय, घोड़े, ढोरों की फौज लेकर आए और पहला हमला उन्होंने आदिवासियों पर किया।''[8] आदिवासियों को हार का सामना करना पड़ा क्योंकि बाहरी आर्यों के पास युद्ध कौशल एवं औजारों की आधुनिकता थी। इस तरह गौर आर्यों ने काले आदिवासियों को अपने अधीन कर लिया। चमड़ी का रंग वर्ण का स्वीकृत अर्थ हो गया और यह घटना जिसे भारत के इतिहास का आरंभ कहा गया इसकी आधारशिला बन गई। आर्य अपने उपलब्ध घोड़ा शास्त्रों के बल पर आदिवासियों के जंगल व जमीन पर अतिक्रमण करने लगे तथा उन्हीं के जंगलों और जमीनों से निकालकर उनको बाहर करने लगे। आर्य यज्ञ करते थे तथा यह हिस्सा हमारा हुआ ऐसी घोषणा करते थे। आदिवासियों के प्रतिकार करने पर उन्हें असुर, राक्षस कहकर उनका कत्ल किया गया। आर्यों के पश्चात ही सही अर्थों में आदिवासियों की दुर्गति होनी शुरू हुई और संभवत: आर्यों से पराजित होने के बाद आदिवासियों के पास दो ही विकल्प रहे होंगे-

1. वे आर्यों की जीवन शैली धर्म को स्वीकार करें तथा उनके बीच रहे।

2. आदिवासी लोग उस स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान जंगल, पहाड़ी पर चले जाये, जहाँ पर आर्यों अथवा आक्रमणकारियों की पहुंच से दूर जीवन यापन करें।

मूलनिवासी जो आर्यों की जीवन शैली से जीवन यापन करने लगे, आर्यों ने उन्हें दास की तरफ वर्ण की चतुर्थ श्रेणी में रखा किंतु वे आदिवासी जो आर्यों को अपना नहीं पाये वे दुर्गम

वनों में चले गए। इस वजह से भारतीय आदिवासी समाज के लोग अधिकत्तर घने जंगलों में पाए जाते हैं।

संरचना- सन् 1891 की जनसंख्या रिपोर्ट में तात्कालिक आयुक्त जे. ए. बेन्स ने आदिवासियों को वन जातियाँ कहा था। सन् 1891 से 1947 तक की जनगणना रिपोर्ट में उन्हें विभिन्न नामों से उल्लेखित किया है- जीववाद, जंजातीय, पर्वतीय और वनीय जनजातियाँ, आदिम जनजातियाँ आदि। नृतत्वशास्त्रियों ने आदिवासियों को अलग-अलग नामों से संबोधित किया है। रिसले लेके, ग्रीयर्सन, सोबर्ट, टेलेटस सेजविक तथा ए. पी. जक्कर ने उन्हें आदिवासी नामों से पुकारा हैं। हटसन ने उन्हें आदिम जाति के नाम से संबोधित किया है। सर बेन्स ने उन्हें वन्य जाति नाम से संबोधित किया है। टेलेंटस, सेजविक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी कहते हैं।

सामाजिक मानव वैज्ञानिक में एक ऐसा समूह है, जो जनजातियों को आदिवासी स्वीकार नहीं करता है। इस समूह के अग्रणीय धुरिये है। धुरिये अपने तर्कों को कथा-कथित आदिवासी प्रकल्पना को आधार बनाकर रखते हैं। धुरिये का कहना है कि वे लोग जो जनजातियों के लिए आदिवासी शब्द का प्रयोग करते हैं कुछ प्रजातीय भाषा, सांस्कृतिक तत्व और संस्कृति के स्तर को भूल जाते हैं। धुरिये के अनुसार जनजातियों को आदिवासी कहना केवल आभासीय नृजातीय ऐतिहासिकता है। धुरिये के अनुसार—संस्कृति और सामाजिक दृष्टि से जनजातियाँ हिंदू समाज का ही एक अंग है। वे लिखते हैं ''तथाकथित आदिम जनजातियों, अनुसूचित जनजातियों का बहुत बड़ा अंग है और जिन्हें जनगणनाओं में जीववादी कहा गया है, बहुत करके पिछड़ी हिन्दू जातियाँ हैं।''[9] धुरिये ने आदिवासी समाज के लिए अनुसूचित जनजातियाँ (शेड्यूल ट्राइब) नाम प्रस्तावित किया है, जो की भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अंतर्गत स्वीकारा गया है। सन् 1915 में भारत में लगभग 212 जनजातियों की सूची तैयार की थी और समय के साथ जनजातियों की संख्या बढ़ती गई और भारत में 2011 जनगणना के अनुसार लगभग 700 से ज्यादा अनुसूचित जनजातियाँ हैं। जिनकी जनसंख्या लगभग 10.4 करोड़ है जो कुल जनसंख्या का 8.6% (स्रोत-रजिस्ट्रार जनरल कार्यालय, भारत) है।

किसी भी जनजाति को अनुसूचित जनजाति में सम्मिलित करने के लिए निम्न तत्वों का ध्यान रखा जाता है-

1. आदिम लक्षण
2. भौगोलिक पिछड़ापन
3. विशिष्ट संस्कृति
4. बाह्य समुदायों के साथ संपर्क करने में संकोच
5. आर्थिक रूप से पिछड़ापन

संस्कृति- आदिवासियों की संस्कृति विस्तृत एवं व्यापक है क्योंकि संस्कृति शब्द में एक समुदाय के रहन-सहन, भाषा, वेशभूषा, पहनावा, धार्मिक मान्यता आदि शामिल होते हैं। संस्कृति एवं परंपराओं को लेकर ड्रेवर का मत है कि ''परंपरा कानून, प्रथा और पौराणिक गाथाओं का संग्रह है जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्थानांतरित किया जाता है। आदिवासी परंपराओं में सृष्टि, पृथ्वी और मनुष्य के साथ-साथ प्रकृति के विभिन्न रूपों को विषय वस्तु बनाया जाता है। आदिवासी समूहों की भिन्न-भिन्न संस्कृति होती है जो उनके भौगोलिक क्षेत्र पर निर्भर करती है। भारत के कुछ प्रमुख आदिवासी समुदायों की जीवन शैली निम्न प्रकार है-

निवास स्थल- आज के समय भी आदिवासी समुदाय के लोग दूर-दराज जंगल, पहाड़ी अथवा नदियों के समीप जल स्रोत के आस-पास होता है। आदिवासी लोग मिट्टी के घरों में रहना पसंद करते हैं।

खानपान- आदिवासी जंगलों में निवास करते हैं इसलिए भोजन के लिए जंगलों से प्राप्त फल तथा कृषि पर आश्रित रहते हैं। आदिवासी लोग महुआ, कंदमूल, ज्वार, बाजरा, चना, चावल, मक्का, गेहूं आदि का सेवन करते हैं। इसके साथ आदिवासी समुदाय उपलब्धता के अनुसार मांस व पेयपदार्थ में विभिन्न तरह की मदिरा का सेवन करते हैं।

वेशभूषा- सजने-सँवरने का चलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। आदिवासी में सामाजिक व सांस्कृतिक झलक दिखती है। आदिवासी द्वारा हड्डी, लकड़ी, शंक, मिट्टी, सीप, पंछी, हाथी, दांत, पत्तियाँ, पंख, चमड़ा, फूल, जानवरों के जबड़े, मिट्टी, धातु आदि से आभूषण बनाए जाते हैं।

त्योहार-भारतीय आदिवासी समाज में त्योहार धूमधाम से मनाए जाते हैं। आदिवासी समाज के लोग अच्छे-अच्छे पकवान बनाकर देवी-देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। आदिवासियों के कुछ प्रमुख त्योहारों में मड़ई, भगोरिया, हार्निवल, बैसाखी, सुई-धागा आदि धूमधाम से बनाए जाते हैं।

संस्कार- हिंदू समुदायों में 16 संस्कारों की मान्यता है परंतु आदिवासी समुदायों में जन्म, मुंडन, विवाह तथा मृत्यु संस्कार का ही प्रचलन है।

आदिवासी धर्म-संपूर्ण विश्व में धर्म के अस्तित्व को

स्वीकार किया है। धर्म के द्वारा अलौकिक, आध्यात्मिक, पराभौतिक, परलोक तथा ईश्वर आदि के रूप को समझने का प्रयास किया है। आदिवासियों ने धर्म के रूप में जीववाद को माना है जिसमें प्रकृति तत्वों एवं पूर्वजों को देवी शक्ति के रूप में माना गया है। जिसे आदिवासी 'सरना' धर्म कहते हैं।

आदिवासी साहित्य-आदिवासी साहित्य से तात्पर्य ऐसे साहित्य से है जिसमें, आदिवासियों तथा आदिवासी जीवन दर्शन की बात हुई है। आदिवासी दर्शन प्रकृतिवादी है। आदिवासी समुदायों में सृष्टि से प्राप्त ज्ञात-अज्ञात निर्देश को सर्वोच्च स्थान देते हैं। आदिवासी साहित्य को विभिन्न नाम से पूरी दुनिया में जाना जाता है। यूरोप और अमेरिका में से नेटिव अमेरिकन, कलर्ड लिटरेचर, स्लेव लिटरेचर और अफ्रीकन लिटरेचर के नाम से जाना जाता है। अफ्रीकन देशों में ब्लैक लिटरेचर फर्स्ट पेपर लिटरेचर और ट्राइबल लिटरेचर कहते हैं। भारत में इसे सामान्य भाषा में आदिवासी साहित्य कहते हैं। प्रोफेसर वेंकटेश आजम लिखते हैं, ''जो आदिवासी जीवन से प्रेरणा लेकर लिखा हुआ है वह आदिवासी साहित्य है।''[10] केन्याई के आदिवासी चिंतक नगुगी वा थ्योंगों आदिवासी साहित्य का आधार वाचिकता को मानते हैं। आदिवासी साहित्य को परिभाषित करते हुए विनायक तुकाराम जी लिखते हैं, ''आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है जिनके प्रश्नों के अतीत में कभी उत्तर नहीं दिया गया है। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है जिनके आक्रोश पर मुख्य धारा की समाज व्यवस्था ने कान ही नहीं धरे, गिरी-कंधरों में रहने वाले अन्याय ग्रस्तों का क्रांति साहित्य है। सदियों से जारी क्रूर अथवा कठोर न्याय व्यवस्था ने जिनकी सैकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया है उस आदिम समूह का मुक्ति साहित्य है। आदिवासी साहित्य वनवासियों का क्षत जीवन, जिसकी संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उस संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रस्तुत आदम वेदना तथा अनुभव का शब्द रूप है।''[11] आदिवासी साहित्य को पांच भाषाओं में लिखित माना जाता है-

1. आस्ट्रो-एशियाई भाषा परिवार
2. तिब्बती भाषा परिवार
3. द्रविड़ भाषा परिवार
4. अंडमानी भाषा परिवार
5. भारतीय आर्य भाषा परिवार

शोध छात्रा,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. गंगा सहाय मीना, आदिवासी साहित्य विमर्श, नेहा पब्लिशर्ष एंड डिस्ट्रीब्युटर्स, पृ-19
2. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, पृ-15
3. डॉ. एस के सोनी, राजस्थान के आदिवासी, ट्रेडर्स पृ-9
4. जनसत्ता, 06 जुलाई 2014, रविवारीय, पृ-3
5. डॉ. हरिश्चंद्र उत्प्रेती, भारतीय जनजातियाँ : संरचना एवं विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ-2
6. लेविश आई. एम. सोशल एंथ्रोपोलोजीकल इन पर्सपेक्टिव, ग्रेट ब्रिटेन यूनिवर्सिटी प्रेस केंब्रिज, पृ-13
7. ओनियंस सी. टी. शर्टर, ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी, वॉल्यूम-2, लन्दन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, पृ-243
8. रमणिका गुप्ता, आदिवासी कोन, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. पृ.-15
9. शंगुलाल दौजी, उच्च सामाजिक मानव विज्ञान दिल्ली, विकाश पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड 1997, पृ-218
10. खन्नाप्रसाद आमीन, आदिवासी साहित्य, पृ-24
11. रमणिका गुप्ता, आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ-17

रश्मिता साहू

भूमंडलीकरण के दौर में बदलते मानवीय संबंध : विशेष संदर्भ रेहन पर रग्घू

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास भूमंडलीकरण के दौर में मानवीय संबंधों की त्रासदी को चित्रित करता है। बाजारवाद और निजीकरण ने शहरों की तरह गांवों को भी संवेदन शून्य बना दिया है जिससे लोगों के क्रियाकलापों में काफी परिवर्तन दिखाई देता है। ग्लोबल विलेज की अवधारणा ने गांवों का गंवाईपन खत्म कर दिया है जिससे व्यक्ति के संबंधों में शिथिलता दिखाई देती है। इस परिवर्तन को लेखक ने रघुनाथ के माध्यम से दिखाया है कि कैसे उसके रिश्तेनाते धीरे-धीरे टूट रहे हैं और लोगों की संवेदना कैसे खत्म हो रही हैं। इस उपन्यास के शीर्षक से ही समझ में आ जाता है कि अब वर्तमान समय में जमीन और घर रेहन पर नहीं है बल्कि व्यक्ति के आपसी संबंध रेहन पर है।

बीज शब्द - भूमंडलीकरण, बाजारवाद, सामाजिक परिवर्तन, सम्बन्धों में शिथिलता, उपभोक्तावादी संस्कृति

विषय प्रवेश - 'काशी नाथ सिंह' ने हिंदी कथा साहित्य में बहुमूल्य योगदान दिया है। 'काशी का अस्सी' के बाद रेहन पर रग्घू इनका महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इन्होंने कहा है कि अगर काशी का अस्सी मेरा नगर था तो ' रेहन पर रग्घू' मेरा घर है और शायद आप का भी।

21वीं शताब्दी में सामाजिक परिवर्तन पर कोई भी चर्चा भूमंडलीकरण के संदर्भ पर विचार किया बगैर करना न्याय संगत नहीं होगा।भूमंडलीकरण ने समूचे विश्व को एक ग्लोबल विलेज में बदल दिया है। आज के समय में सूचना क्रांति और AI ने इसमें अहम् भूमिका निभाई है। भारत में उदारीकरण के बाद से इसका व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। इससे व्यक्ति के क्रियाकलापों में काफी बदलाव आया है और संबंधों में शिथिलता भी दिखाई देती है।

भूमंडलीकरण हमारे समय का एक चर्चित विषय बन गया है। कहना न होगा कि आज इसकी व्यापक घुसपैठ हर विषय, हर क्षेत्र में व्याप्त है। वैसे तो भूमंडलीकरण शब्द कोई नया नहीं है पर सन् 1990 के दशक से यह एक विशेष परिघटना के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है। गिरीश मिश्र का मानना है कि ''इंटरनेट और नई प्रौद्योगिकियाँ आज हर जगह अपना दबदबा जमाए हुए है। वे हमारे युग की प्रमुख प्रतीक बन गई हैं। वे लोगों के दैनिक जीवन पर जोरदार असर डाल रही हैं। भूमंडलीय संस्कृति के क्षेत्र में आए दिन यथास्थिति और बदलाव की संस्कृतियों के बीच तनाव देखने में आ रहा है। विश्वव्यापी मीडिया कारपोरेशन की भूमिका लगातार बढ़ रही है। वे जनप्रिय संस्कृति को बढ़ावा दे रही है और भाषाओं का भूमंडलीकरण कर रही है।'' भूमंडलीकरण के कारण बड़ी-बड़ी कंपनियों का निर्माण हुआ, नए-नए शहर बने जिससे लोग रोजगार के लिए गांव से शहर के लिए पलायन किया। लोग सोच रहे थे कि इससे 'सब जन हिताय सब जन सुखाय' होगा लेकिन यह सिर्फ व्यापार के लिए दुनिया को एक करना चाहती थी। बाकी सारी बातें पीछे छूट गई। इसमें यह भ्रम बनाया गया कि दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों के बीच परस्पर संवाद बनाना इसका लक्ष्य है लेकिन इसने छोटी-छोटी संस्कृतियों को खाकर सांस्कृतिक एकरुपता को ला दिया।

हमने हमेशा से ही यह पाया है कि साहित्य और सामाजिक परिवर्तन या सामाजिक परिस्थितियाँ अन्योन्याश्रित रहे हैं। अपने समय के सामाजिक मूल्यों, आचार-विचार एवं परस्पर रहन

सहन में हो रहे परिवर्तन साहित्यकार की प्रखर दृष्टि से ओझल नहीं रह पाते। भूमंडलीकरण विज्ञापनवाद, उपभोक्तावाद के इस युग 'काशीनाथ सिंह' का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' आज के समय की सारी सच्चाईयों के साथ हमारे समक्ष उपस्थित होता है। 'रेहन पर रग्घू' आज के महत्वाकांक्षी युवा पीढ़ी की सारी कलई हमारे सामने खोल कर रख देता है। जहाँ आत्मीय रिश्ते भी बाजारवाद की चपेट में हैं। इस संदर्भ में वरिष्ठ आलोचक 'नामवर सिंह 'का कथन है कि भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दुष्प्रभाव से गाँव भी नहीं बचे हैं। घर के घर तबाह हो रहे हैं पति पत्नी के बीच के संबंध खत्म होते जा रहे हैं, बेटी बाप के लिए पराई होती जा रही है, उपभोक्तावाद ने मानवीय रिश्तों को ध्वस्त कर दिया है और लोग वस्तु बनते जा रहे हैं।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में मध्यवर्गीय परिवार को केंद्र में रखा गया है और उसका मुख्य पात्र रघुनाथ है। उपन्यास के नायक का जीवन इन बदलती हुई परिस्थितियों में किस तरह बनता बिगड़ता है यह उपन्यास इस कथा को पूरे विस्तार से प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास गांव से लेकर अमेरिका तक की घटनाओं को अपने अंदर समेटे हुए है। रघुनाथ का पांच लोगों का परिवार है एक पुत्री सरला, दो पुत्र संजय और धनंजय तथा पत्नी शीला है। परिवार के लिए इसने बहुत त्याग किया है बच्चों को पढ़ने के लिए गांव से शहर आया। उपन्यास के नायक रघुनाथ की अगली पीढ़ी यानी उनकी संतानों की महत्वाकांक्षाओं, पूँजी आकर्षण, उत्तरोत्तर क्षय होती संवेदनशीलता ने उन्हें अकेला और दयनीय बना दिया है। रग्घू के विडंबनात्मक जीवन के लिए सिर्फ उनकी संतानें जिम्मेदार नहीं हैं बल्कि हमारी सामाजिक व्यवस्था भी जिम्मेदार है।

इस भूमंडलीकरण के दौर में बाजारवाद हावी हो गया है। लोग अपने संबंधों को लाभ के आधार पर बना रहे हैं और एक समय के बाद उसको तोड़ दे रहे हैं। मनुष्य में संवेदना खत्म हो गई। करुणा प्रेम जैसे मूल्य बाजारू हो गए हैं अब सिर्फ लाभ का सम्बन्ध बचा है। उपन्यास में रघुनाथ का बड़ा बेटा संजय इंजीनियर बन जाता है। इसी को देखकर मैनेजर (रघुनाथ के कॉलेज का) अपनी बेटी की शादी उससे करना चाहता है लेकिन संजय अमेरिका जाने की लालच में सक्सेना की बेटी सोनल से शादी कर लेता है और अपने इस संबंध को अमेरिका जाने में प्रयोग करता है। वहां जाने के कुछ ही दिन बाद आगे बढ़ने की लालच में संजय आरती गुर्जर से शादी करके उसकी कंपनी का मालिक बनना चाहता है। वहीं रघुनाथ का छोटा बेटा जो डोनेशन देकर एडमिशन लेना चाहता है। आपने लाभ के लिए एक ऐसा रिश्ता बनाता है जिसे वो खुद आगे नहीं बढ़ाना चाहता है। के. विजया नाम की एक महिला के साथ रहता है और उसकी निगाह उसकी संपत्ति पर होती है। धनंजय अपनी भाभी सोनल से कहता है कि हम दोनों के बीच मामला कुछ नहीं है! बात सिर्फ इतनी है कि उसे मेरी जरूरत है, और मुझे उसकी जब तक नौकरी नहीं मिल जाती!" इंसान में अब सब्र नाम की चीज नहीं है। वह जल्दी से जल्दी ऊंची से ऊंची ऊंचाइयों को छूना चाहता है और जैसे ही एक ऊंचाई पर पहुंचता है, थोड़े ही दिनों में वह नीची लगने लगती है।

भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने मनुष्य का वस्तुकरण कर दिया है। जिससे लोगों के आपसी रिश्ते खत्म हो रहे हैं। अब कोई किसी के सगे-संबंधी नहीं है। बस अपना लाभ ही लोग देख रहे हैं। रघुनाथ और उसके भतीजे नरेश से जमीन को लेकर झगड़ा होता है। वहीं नरेश जिसको रघुनाथ ने पढ़ाया हर जरुरत पर साथ खड़ा रहा आज छोटी सी जमीन के टुकड़े को लेकर अपनी सारी मर्यादा पार कर देता है। नरेश का भाई देवेश रघुनाथ को मारता है और गांव वाले बस तमाशा देखते है। इस पर लेखक लिखता है ''क्या हो गया है गांव को ! यहीं पैदा हुए, पले बढ़े, पढ़े लिखे, सबकी मदद की कभी किताब कापी से, कभी फीस माफी से कभी रूपये पैसे से, कितने रिश्तेनाते और रहेंगे आज भी, कल भी, क्या हो गया है गांव को ?'' क्योंकि गांव का रूप बदल रहा है। अब गांव के लोगों में परस्पर सहयोग की भावना नहीं हैं।

इस नई संस्कृति ने इस प्रकार से प्रहार किया है कि मानवीय संबंध बिखर गए हैं। रघुनाथ अपने परिवार और बच्चों के लिए क्या क्या करता है लेकिन इस भूमंडलीकरण के कारण व्यक्ति में आए बदलाव ने उसके सपनों को तोड़ दिया। तीन बच्चों का पिता होने के बाद भी आज उसके पास कोई भी नहीं है ''मां और पिता होने का सुख नहीं जाना हमने! हमने न बेटे की शादी देखी, न बेटी की! न बहू देखी, न होने वाला दामाद देखा। हम ऐसे अभागे मां बाप है जिसे उनका बेटा अपने विवाह की सूचना देता है और धौंस देती है बेटी की इजाजत नहीं दोगे तो न्यौता नहीं दूंगी।''

रघुनाथ के माध्यम से लेखक ने उपन्यास में लोगों के संबंधों को कैसे बाजार का प्रभाव पड़ा है कैसे लोगों की भावना खत्म हो गई है इसे बड़े जीवंत रूप में दिखाया है। ''देखो

जग्गन, परायों में अपने मिल जाते हैं लेकिन अपने में अपने नहीं मिलते। ऐसा नहीं कि अपने नहीं थे। थे लेकिन तब जब समाज था, परिवार थे, रिश्तेनाते थे, जब भावना थी! भावना यह थी कि यह भाई है, यह भतीजा है, भतीजी है, यह चाचा है, बुआ है भाभी है। धुरी भावना थी, गणित नहीं, लेनदेन नहीं!''

भूमंडलीकरण के कारण नव उपनिवेशवादी तत्वों की प्रधानता हो गई है। लोगों के आस-पास के रोजगार के साधन चले गए। छोटे-छोटे उद्योगों को पूंजीवादी कंपनियों ने तहस नहस कर दिए। खेती किसानी में अब इतना उपज नहीं की लोग उससे अपना जीवन यापन कर सके। इसलिए लोग रोजगार के लिए अपने घर से दूर जाते हैं सालों साल वहीं रहते हैं कई तो अपने गांव और संबंधों को छोड़ के वही के होकर रह जाते हैं। रघुनाथ जब अशोक विहार पहुंचता है तो एक ऐसा दृश्य देखता है जो भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा अभिशाप है। यहां एक ऐसी कालोनी है जो सिर्फ वृद्धों की कालोनी है। ऐसे वृद्धों की जिनके बेटे बेटी अपनी बीवी के साथ और बच्चों के साथ परदेस में नौकरी कर रहे हैं। वे अपनी जगह जमीन, रिश्तेनाते, संगी साथी, बाग बगीचे, ताल तलैया छोड़कर जिन संतानों के लिए आए, वे ही अब बाहर..... और अब वे बच्चे लौट कर वापस नहीं आना चाहते।

इस नई संस्कृति ने मनुष्य के गुणों को बदल दिए हैं अब वो सिर्फ अपने बारे में सोचता है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्यों को अपना गुलाम बना लिया है। 'नैतिकता' नामक शब्द इनके जेहन से निकल चुका है। आँखों के सामने ऐसी परत पड़ चुकी है कि अब उन्हें अपना परिवार या समाज नहीं दिखता है, दिखता है तो केवल उपभोक्ता और बाजार। बकौल डॉ. अमरनाथ ''उपभोक्तावादी संस्कृति का गुण है कि वह अनावश्यक वस्तुओं को मनुष्य के लिए आवश्यक बना देती है और इस तरह मनुष्य की सीमित आवश्यकताओं को सीमाहीना चूँकि आवश्यकताएं सीमाहीन बन जाती है इसलिए लोग रात-दिन सारी जिंदगी एक न एक वस्तु जुटाने में लगे रहते हैं। आदमी पर एक तरह से गुलामी हावी हो जाती है।" आज का आधुनिक मनुष्य पशुओं से प्रेम करता है और उसका मुझे मतलब यह लगता है कि जब उसको वो चाहेगा तब अपने जीवन से निकालकर फेंक देगा और उसकी अपनी कोई जवाब देयता नहीं होगी। सोनल के घर जब शीला जाती है वो बचा हुआ भोजन महरी को खिला देती। तो सोनल ये कहती है कि भोजन कुत्ते बिल्ली को भले खिला दो पर उसको न दो क्योंकि वो नौकर है कल कौन उसको रोज खिलने की जिम्मेदारी लेगा। इस आधुनिकता ने एक प्रोफेशनल शब्द को गढ़ा है। जिसमें मानवीय संबंध नहीं होते रुक कर सांस लेने की भी फुरसत नहीं होती बस एक मशीन नुमा आदमी होता है।

रघुनाथ जब अशोक विहार जाते हैं। वहां उनके एक मित्र बापट बनते हैं। जिनके साथ वो घंटों पुल पर बैठ कर बातें करते हैं। एक दिन सोनल से वो सुनते हैं कि बापट की हत्या हो गई है और हत्या का केस उसके बेटे के ऊपर चल रहा है। इस घटना के माध्यम से कहा जा सकता है की मनुष्य का ये व्यवहार पशुओं से भी बदतर है। बाजारवाद ने एक लोभी मनुष्य को जन्म दिया है।

भूमंडलीकरण ने लोगों को अपनों से दूर कर दिया है। लोग आगे बढ़ने के लिए अपने रिश्तों का भी उपयोग करते हैं। मनुष्य अब व्यक्तिवादी हो गया है। रघुनाथ को जब जीवनाथ वर्मा कहता है कि अपनों के लिए बहुत जी चुके रग्घू, अब अपने लिए जिओ! तब रघुनाथ यह सोचता है कि मेरे सारे संबंध और रिश्तेनाते ही तो मेरे अपने हैं। रघुनाथ उस समय का व्यक्ति है जब भूमंडलीकरण, बाजारवाद नहीं आया था। था भी तो अपने एक सीमित रूप में वो आज के लोगों की तरह नहीं कि खून की नसों में भी बस लोभ और लालच दौड़े। रग्घू ने सबके लिए सोचा अपने घर की तो छोड़ो गांव के लोगों के लिए भी जरूरत पड़ने पर जो कुछ बन पड़ा किया। अपने खेतों से लगाव होने के कारण उसे कभी बेचा नहीं। इस मामले में वो होरी से कम नहीं है। लेकिन आज के लोग रिश्तेनातों को छोड़ के बस आगे बढ़ना चाहते है।" अपनों से अलग भी अपना कुछ होता है क्या? क्या बेटे अपने नहीं थे? बेटी अपनी नहीं थी? बीबी अपनी नहीं थी? खेत खलिहान अपने नहीं थे? यह जरूर है कि इनमें से हर एक अपने लिए उनका जीवन चाहता था। किसी को इस बात की परवाह नहीं थी कि वे जी रहे हैं या मर रहे हैं? उसकी अपनी जरूरत सबसे ऊपर होती थी और नहीं चाहता था कि कोई उस पर सवाल उठाए!''

इस तरह की सोच का विकास भूमंडलीकरण के कारण हुआ है। लोग इस दौर में आसमान से भी आगे निकल जाना चाहते हैं चाहे उनके पैर ही क्यों ही न उखड़ जाए। लोग आगे बढ़ने में अपने संबंधों को बांधा मन रहे हैं।" यह क्या होता जा रहा है लोगों को! यह कैसी होती जा रही है दुनिया! इस प्रश्न की खोज उपन्यास के माध्यम से लेखक करता है।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने लोगों को वस्तु में तब्दीली कर

दिया है। रग्घू अपनों को जोड़ के रखना चाहता है वो अपने गांव से जितना प्रेम करता है उतना है अपने खेतों से लेकिन इस आधुनिक संस्कृति ने उसको इन सब से दूर कर दिया है।अब उसको देखने वाला कोई नहीं है बुढ़ापे का सहारा। शीला कहती हैं ''सारे दुख इसी बुढ़ापे में देखने बदे थे क्या? एक बेटा परदेश में, पता नहीं कब आएगा! दूसरा यहां लेकिन उसका भी वही हाल। बल्कि उससे भी ख़राब! और इधर बाप की अलग मुसीबत गांव छोड़े तो जान बचे, नहीं मारे जाएं। न कोई देखने वाला, न सुनने वाला। जाने किस मनहूस की नजर लग गई है इस घर को? ये कैसी नजर है जो आज उसके अपने बच्चे उसके पास नहीं हैं। इस आधुनिक युग में तकनीक का भी विकास हुआ है ऐसे-ऐसे यंत्रों का आविष्कार हुआ है कि लोग दूर रहकर भी लोगों से बात कर लेते हैं। लेकिन इस समय लोगों के पास इसके लिए भी समय नहीं है। जब संजय अमेरिका जाता है तो उसका छोटा भाई घर में टेलीफोन लगवाता है कि भईया बात करेंगे लेकिन संजय वो भी नहीं करता। वो पता नहीं किसमें रमा है अमरीका जाकर।

रघुनाथ मास्टर थे। पेंशन आती है। वो अपने बेटों से पैसे की उम्मीद नहीं करते हैं लेकिन इस बात की उम्मीद जरूर करते हैं कि उनके बेटे उनके साथ खड़े रहे। वो अपनी जमीन को बेच दे या क्या करें अपने बेटे से राय लेते हैं। उनका बेटा उसको बेचने के लिए कहता है। उससे वो बहुत दु:खी होते हैं। कोई बेटा उनके साथ नहीं है वो बिल्कुल अकेले हैं। रग्घू, शीला से कहता है कि, " शीला हमारे तीन बच्चे हैं लेकिन पता नहीं क्यों, कभी कभी मेरे भीतर ऐसी हूक उठती है जैसे लगता है मेरी औरत बाँझ है और मैं निसंतान पिता हूँ।"

रग्घू कहता है कि रुपए पैसों से जिंदगी तो काटी जा सकती है, जी नहीं जा सकती। और आज का समाज अपनी शांति और सुकून छोड़ के बस इसी के पीछे भाग रह है। यह भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा अभिशाप है।

व्यक्ति के संबंध खत्म होते जा रहे हैं। व्यक्ति के पास उपभोग के लिए तरह तरह की वस्तुएं तो हैं लेकिन उनके अपने रिश्तेनाते नहीं हैं सगे संबंधी नहीं हैं। रघुनाथ अंत में अपहरणकर्ताओं से कहता है कि मुझे ले चलो और मेरे अपने लोगों से फिरौती मांगो देखूं मुझे बचाने कौन आता है। वास्तव में रघुनाथ ऐसा करके यह देखना चाहता है कि जिनके लिए हमने अपना सारा जीवन खपा दिया उनमें से कोई मेरी टोह लेते हैं कि नहीं। रग्घू इसका उत्तर जानता है। इस वर्तमान दौर में ऐसे अनेकों रघुनाथ हैं जो अपने संबंधों को टटोल रहे हैं।

निष्कर्ष

भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप संवेदना, संबंध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम ध्वंस हुआ है। तब्दीलियों का जो तूफान निर्मित हुआ है उसका प्रामाणिक और गहन अंकन इस उपन्यास में देखा जा सकता है। रघुनाथ बिल्कुल अकेला है उसके आसपास अपना कोई नहीं है। यह भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा अभिशाप है।

''जिनके लिए बेघर हुए उन्हीं के अपने अलग घर है।''

असिस्टेंट प्रोफेसर
श्यामलाल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल - rashmita.sahu@shyamlal.du.ac.in

सन्दर्भ ग्रंथ

1. अग्रवाल रोहिणी, समकालीन कथा साहित्य सरहदें और सरोकार, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्रथम संस्करण 2007 (पृष्ठ संख्या 133, 142)
2. सिंह पुष्पपाल, 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2016 (पृष्ठ संख्या 33)
3. सिंह पुष्पावली, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012 (पृष्ठ संख्या 94 से 96)
4. सिंह ओम प्रकाश (सं), शीतांशु (सं), उपन्यास का वर्तमान, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018
4. हिंदी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, डॉ.अमरनाथ संस्करण 2023 (पृष्ठ संख्या 260)
6. रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, सातवां संस्करण 2023 (पृष्ठ संख्या 54)
7. रेहन पर रग्घू, पृष्ठ संख्या 110, 125, 128
8. रेहन पर रग्घू, पृष्ठ संख्या 133,148,163
9. रेहन पर रग्घू, पृष्ठ संख्या 76, 26

प्रकृति की गोद में - नागा योद्धाओं के नृत्योत्सव

डॉ. वन्दना सूरज भान

भारतवर्ष विविधताओं से परिपूर्ण देश है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक, कामरूप से कच्छ तक - देश का हर प्रदेश अपना पृथक् वैशिष्ट्य रखता है। किसी राज्य का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से अतुलनीय है तो किसी की भौगोलिक संरचना अनेक दृष्टियों से विशिष्ट है। किसी प्रदेश में कला तथा संस्कृति की छटा अद्वितीय है तो किसी-किसी प्रदेश को ईश्वर ने दिल खोलकर अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य से सरोबार किया है। वस्तुतः जिस प्रकार इन्द्रधनुष के सातों रंग एक साथ मिलकर एक अद्‌भुत एवं चित्ताकर्षक दृश्य उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार भारत के सभी प्रदेश उसकी गरिमा के उपस्थापक हैं।

भारत के सुदूर उत्तर-पूर्वी पर्वतों के मध्य स्थित राज्य - नागालैण्ड ने अपनी विशेषताओं के द्वारा देश की ऐतिहासिक एवं साँस्कृतिक विरासत को अद्यतन सुदृढ़ एवं समृद्ध किया है। नागालैण्ड को पहले 'नागाओं की भूमि' (Land of Nagas) कहा जाता था। नागा शब्द नग्न रहने से उत्पन्न हुआ (यथा नागा साधु) अथवा पर्वत के अर्थ में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के शब्द 'नग' (न गच्छति इति) से, इसका निश्चय कर पाना सरल नहीं किन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि अपनी दुर्गम तथा विषम भौगोलिक स्थिति के कारण नागालैण्ड राज्य ने सर्वदा विस्मय (Awe) तथा रहस्यवाद (Mysticism) की भावना का उद्‌बोधन किया है। अफ्रीका में स्थित 'बुशमैन' अथवा अण्डमान द्वीप में संरक्षित जारवा जनजाति के समान ही, नागालैण्ड ने अपनी जीववादी (Animist) संस्कृति को अभी भी संजो कर रखा हुआ है।

इतिहास के पन्नों पर दृष्टिपात किया जाए तो ज्ञात होता है कि नागालैण्ड प्राचीन काल से ही बहादुर एवं स्वतन्त्रता-प्रेमी योद्धाओं की भूमि रहा है। यहाँ तक कि अंग्रेज भी इसे अपने शासन के अधीन नहीं कर पाए थे। अंग्रेजों के सभी प्रयत्न नागाओं के कड़े प्रतिरोध के द्वारा विफल किए गए। पहले नागालैण्ड के क्षेत्र में वर्तमानकालीन बर्मा (म्यांमार) भी सम्मिलित था। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् भी नागालैण्ड का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था। अंततः सन् 1963 में इसे औपचारिक रूप से भारतीय राज्य का दर्जा दिया गया।

नागा जनजातियों का सामान्य परिचय

नागालैंड के समस्त निवासी जनजातियों में विभक्त है जिनकी कुल संख्या 16 है। इनके नाम हैं - अन्गामी (Angami), आओ (AO), चांग (Chang), कचारी (Kachari), खियामनुंगम (Khiamnungam), कोन्याक (Konyak), लोथा (Lotha), माकुरी (Makuri), पॉचुरी (Pochuri), फोम (Phom), रेंगमा (Rengma), संगतम (Rengma), रौंग्मी (Rongmei), सुमी (Sumi), तिखिर (Tikhir) तथा यिमचुंगेर (Yimchunger)। प्राचीनकाल से ही ये जनजातियाँ नागालैंड के सुदूर, ऊबड़-खाबड़, गगनचुम्बी पर्वतीय क्षेत्रें में अपने-अपने गाँव बसाकर निवास करती आई हैं। ये क्षेत्र जंगली जानवरों से भरे गहन जंगलों से व्याप्त हैं। प्रत्येक नागा जनजाति परम्पराओं, रीति-रिवाजों, भाषा, वेशभूषा तथा संस्कृति की दृष्टि से दूसरी जनजाति से पूर्णतया भिन्न है। तथापि प्रत्येक जनजाति स्वतन्त्रताप्रिय तथा अनुशासन प्रिय है तथा एक नागा होने की पहचान ने इन सब जनजातियों को परस्पर एकसूत्र में पिरोकर रखा हुआ है।

नागा उत्सव एवं नृत्य

प्रत्येक जनजाति द्वारा मनाए जाने वाले उनके परम्परागत वार्षिकोत्सव नागालैण्ड की संस्कृति तथा जीवनशैली का एक

अभिन्न अंग है। प्रत्येक जनजाति का अपना अलग लोकनृत्य तथा उत्सव होता है तथा प्रत्येक नागा उत्सव नृत्य, संगीत, ताल, वेशभूषा, शारीरिक सुदृढ़ता आदि का अद्‌भुत दृश्य उपस्थित करता है। धरती की उर्वरता की वृद्धि, जनसमुदायों की पारस्परिक सामाजिक एकता, पवित्रीकरण की रस्में तथा प्रतिदिन की कठोर दिनचर्या के बाद मनोरंजन तथा आनन्द मनाने की इच्छा – संभवत: उपर्युक्त कारणों से जन्म हुआ नागा लोकनृत्यों तथा उत्सवों का। प्रत्येक नागा उत्सव तथा नृत्य किसी न किसी रूप में प्रकृति से जुड़ा है अथवा किसी न किसी सामाजिक मान्यता का प्रतिबिम्ब है। इसके अतिरिक्त ये युद्ध तथा खेल सम्बन्धी निपुणता दिखाने का भी एक माध्यम हैं। अत्यन्त रोचक तथ्य है कि अधिकांश नागा उत्सव मृतात्माओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करने, उन्हें प्रसन्न रखने तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के उद्देश्य से अस्तित्व में आए। उदाहरणार्थ – आओ (AO) जनजाति का मोआत्सु (Moatsu) उत्सव। एक के बाद एक दूसरी विपत्ति से भयभीत होकर लिजाबा (Lizaba) नामक आत्मा को प्रसन्न करने के लिए छ: दिन तक चलने वाली एक रस्म के फलस्वरूप इसका उद्‌भव हुआ। इसी प्रकार अन्धकार से मुक्ति पाने के लिए चांग (Chang) जनजाति द्वारा पराशक्ति शम्बुले–मुघा (Shambula-Mugha) को प्रसन्न करने के लिए नाक्न्युलुम (Naknulum) उत्सव मनाया जाता है। कचारी (Kachari) जनजाति अपने इष्ट सेबाराय (Sebarai) तथा यिमचुंगेर (Yimchunger) जनजाति अपने इष्ट अरिम्पूह (Arimpuh) को प्रसन्न रखती है।

इन उत्सवों तथा नृत्यों के माध्यम से प्रत्येक जनजाति की परम्पराओं, रीति–रिवाजों तथा आस्थाओं का भी पर्याप्त विवरण मिल जाता है। इसे अन्धविश्वास कहें, भय समझें अथवा श्रद्धा का नाम दें – सदियों से चले आ रहे इन उत्सवों में निभाए जाने वाली रस्मों के फलस्वरूप नागा लोगों का चरित्र अत्यन्त सन्तुलित एवं सुदृढ़ रूप से विकसित हुआ। किन्हीं अदृश्य शक्तियों से मिलने वाली सजा के भय से इस प्रदेश में चोरी तथा भीख मांगना सर्वथा निषिद्ध था। वस्तुत: इन जनजातियों का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना मानो एक सागर को गागर में भरने के समान अत्यन्त कठिन है। अत: विस्तारभय से इस लेख में नागालैण्ड की उन जनजातियों का ही परिचय दिया जा रहा है, जो भारत के मुख्य भूभाग से दूरस्थ तथा सीमा के समीपस्थ हैं। इस आधार पर क्रमानुसार मुख्य जनजातियों की जीवनशैली की झलक प्रस्तुत है।

खियामनियुन्गन – यह प्रमुख नागा जनजातियों में से एक है जो नागालैण्ड के यूनसांग (Tuensang) जिले में तथा भारत से सटे बर्मा के कुछ भागों में निवास करती है। ब्रिटिश राज में इन्हें 'केलू केन्यू' (State-House Dwellers) भी कहा जाता था। अन्य नागा जनजातियों के समान इसके उद्‌भव के विषय में भी कुछ निश्चित अथवा लिखित जानकारी नहीं है। इन लोगों के पूर्वजों के विषय में केवल मौखिक लोककथाओं तथा मिथकों द्वारा ही जाना जा सकता है। एक लोकप्रिय मिथक के अनुसार खियामनियुन्गन का अर्थ है – विशाल जल का स्रोत (Source of Great Water) तथा इसी स्थान से इस जनजाति के पूर्वजों का उद्‌भव माना जाता है। यह स्थान वर्तमान नॉकलैक तथा पैथ्सो कस्बों से परे स्थित लैंग्न्यू (Lengnyu) व सुवाओ (Tsuwao) गांवों के समीप माना जाता है। अन्य नागा जनजातियों के विपरीत यहाँ ईसाई धर्म का प्रभाव अधिक नहीं हुआ था। सन् 1947 में ईसाई बनने वाला प्रथम खियामनियुन्गन नागा का नाम – खामिंग था। इस जनजाति के परम्परागत वस्त्र चमकीले लाल तथा गहरे नीले रंग के बने होते हैं तथा आभूषण कौड़ियों तथा शंखों के खोल से निर्मित होते हैं। उनके वाद्ययन्त्रों में कद्दू (Gourd) से बने ड्रम तथा बाँसुरी विशेष हैं। इस जनजाति का प्रमुख व्यवसाय 'झूम कृषि' है। फसल बोने के समय प्रकृति के देवता को प्रसन्न करने के लिए मियु (Miu) नामक उत्सव मनाया जाता है जिसमें उत्तम फसल के लिए अनेकविध प्रार्थनाएँ की जाती हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण उत्सव है – सोकुम सुमाई (Tsokum Sumai) जो फसल की कटाई के समय एक सप्ताह तक मनाया जाता है। नाचना, गाना, घरों तथा रास्तों की सफाई, मार्गों की मरम्मत, घरों से बाहर भोजन पकाना तथा खाना – इस उत्सव की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस उत्सव में भरपूर फसल के लिए, पशुधन को समृद्ध करने के लिए तथा मनुष्यों के अच्छे स्वास्थ्य के लिए भी देवताओं से प्रार्थनाएँ की जाती हैं। उन्हें प्रसन्न करने के लिए प्रत्येक परिवार के द्वारा अपने किसी पालतू पशु की बलि अनिवार्य रूप से दी जाती है। इसी उत्सव के दौरान पुरुषों द्वारा जंगल में जाकर गाँव के सर्वाधिक धनी व्यक्ति के मिथुन (भैंसे) को खोजकर उसे खींचकर लाया जाता है। अन्त में इस भैंसे की बलि चढ़ाकर भोज का आयोजन किया जाता है। चावल के खेतों में विशेष स्थान पर इन मृत पशुओं के रक्त का छिड़काव करता था उनके यकृत तथा आँतों को रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य रस्म होती है।

एक अन्य विशेष उत्सव खाओत्जाओ–से–हॉक–आह–सुमई (Khaotzao-Sey-Hok-Ah-Sumai) भी अत्यन्त

उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। इसमें मुख्य रूप से गाँव के पुराने लॉग-ड्रम (log-drum) को बदला जाता है। जंगल में पेड़ के चयन से लेकर, उसे काटना, लॉग-ड्रम के रूप में तराशना तथा गाँव तक उसे खींचकर लाना बड़ी लगनपूर्वक किया जाता है। तदनन्तर एक मुर्गे की बलि दी जाती है तथा सम्पूर्ण विधि-विधान सम्पन्न होने पर गाँव के सभी पुरुष मौरोंग में एकत्रित होते हैं तथा चावल से बनी बियर तथा माँस आदि से युक्त भोज का आनन्द उठाते हैं। विशेष उल्लेखनीय है कि महिलाओं को वहाँ प्रवेश करने की अनुमति नहीं होती।

उपर्युक्त सामान्य जानकारी के अतिरिक्त खियामनियुन्गन लोगों के बीच व्याप्त एक अत्यन्त विस्मयकारी मान्यता, एक अजीब आस्था विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नौकलैक गाँव से लगभग तीन किलोमीटर दूर जंगल के बहुत अन्दर, जमीन में एक तीन फुट व्यास वाला गड्ढा स्थित है। वह पृथ्वी के अन्दर की ओर संकरा होता जाता है तथा नीचे जाकर केवल एक फुट चौड़ा ही है। इसकी गहराई का कोई छोर नहीं है। जनजाति के पुरखों का विश्वास है कि मरने वाले व्यक्ति की आत्मा इस छेद में से होकर पूर्व दिवंगत लोगों की आत्माओं के पास चली जाती है तथा जीवित लोगों को इस स्थान पर जाना सर्वथा वर्जित था क्योंकि यहाँ की एक दन्तकथा के अनुसार इस स्थान को देख लेने वाले व्यक्ति की, घर पर आने के बाद मृत्यु होना निश्चित था।

हैरानी की बात यह है कि इस तथ्य की पुष्टि स्वरूप कई उदाहरण भी मिलते हैं। कहा जाता है कि एक बार एक योद्धा किसी लड़ाई के बाद अनजाने में ही उस विवर की ओर जाने वाले रास्ते से घर लौट रहा था। अचानक ही उसने अपनी बेटी को अपनी ओर भागकर आते देखा। सुनसान जंगल में उसकी कण्ठी के घुंघरुओं की मधुर खनखनाहट सुनकर वह आश्चर्यचकित रह गया। उसने पुत्री को गले लगाना चाहा लेकिन अपनी बाजुओं को रिक्त पाकर स्तब्ध रह गया। किसी तरह संभलकर जब वह घर पहुँचा तो उसके अपनी बेटी को मृत पाया। तब उसे समझ में आया कि जंगल में उसने अपनी बेटी की आत्मा को देखा था जो मृतात्माओं के संसार को जाने वाले मार्ग उस गड्ढे की ओर जा रही थी।

एक अन्य लोककथा एक दूसरे योद्धा के विषय में प्रसिद्ध है जो घर वापसी के समय उस गड्ढे के समीप से गुजरा। उत्सुकतावश उसमें झांकने पर उसका टोप गड्ढे के अन्दर गिर गया। गहराई के कारण उसे निकाल पाना संभव न था। वह अपने टोप को वहीं छोड़कर घर आ गया, जहाँ पहुँचते ही तुरन्त उसकी मौत हो गई। विचित्र, किन्तु सत्य कहानियाँ। यहाँ तक कि आज की तारीख में भी मरने के भय से कोई भी वहाँ जाने का साहस नहीं करता। कुछ गिने चुने लोगों तथा कुछ अनुभवी शिकारियों को ही इस स्थान की जानकारी है।

खियामनियुन्गन नागाओं के विषय में अन्य विचित्र जानकारी यह है कि ये लोग अपने घर अथवा रसोईघर के चूल्हे में निवास करने वाली प्रेतात्मा-आओसिझिनियु (Paosijhiniu) अथवा कोआनियु (Koaniu) के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि ये उनके पूर्वजों की आत्माएँ हैं जो उनके साथ घर में ही रहती हैं तथा आवश्यकता के समय उनकी सहायता करती है। किसी भी विपत्ति अथवा मानव तथा प्रेतात्मा का ऐसा अनोखा व अद्‌भुत साहचर्य संभवत: नागा लोगों के अतिरिक्त संभवत: कहीं और देखने को नहीं मिलता। पुनश्च, प्राचीन खियामनियुन्गन समाज में आत्मा के आह्वाहन हेतु एक माध्यम की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। पुरुष माध्यम एहन्यू (Ehnyu) तथा महिला माध्यम इहपू (Ehpou) को समान रूप से आदर प्रदान किया जाता था।

कोन्याक - नागालैण्ड के सर्वाधिक उत्तरी छोर पर स्थित मोन (Mon) जिले के निवासी कोन्याक नागा, म्यांमार तथा अरुणाचल प्रदेश में भी पाए जाते हैं। अरुणाचल में इन्हें वाञ्चो (Wancho) कोन्याक कहा जाता है। नागाओं में इनकी जनसंख्या सर्वाधिक है। इनकी बोलचाल की भाषा कोन्याक है। कोन्याक शब्द की व्युत्पत्ति 'Kaonyak' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'काला सिर' अथवा 'मानव'। कोन्याक नागाओं के उद्‌भव तथा इतिहास को जानने के लिए भी कोई लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है। अत: मिथकों तथा दन्तकथाओं के आधार पर इस विषय में अनेक मत प्राप्त होते हैं। कुछ कोन्याक मानते हैं कि उनके पुरखे लौंगहौंग (Hill of Stones) नामक स्थान से आए तथा कुछ के अनुसार उनका मूल स्थान दक्षिण-पूर्वी एशिया था।

कोन्याक जनजाति के विषय में विभिन्न स्रोतों से जानकारी एकत्रित करते समय एक से एक विचित्र तथा आश्चर्यजनक तथ्य सामने आए। उनमें से किसे लिखा जाए तथा किसे छोड़ दिया जाए - इसका निर्णय करना ही अत्यन्त कठिन प्रतीत हुआ। यहाँ यथासंभव सभी को संक्षेप में लिखने का प्रयास किया गया है।

अन्य नागाओं के मध्य खड़े कोन्याक लोगों को उनके चेहरे, वक्षस्थल तथा हाथों पर गुदे हुए गोदनों से पहचाना जाता

है। हाथों पर गोदना कोई विशेष बात नहीं किन्तु चेहरे के गहरे काले गोदनों के पीछे रोंगटे खड़े कर देने में सक्षम अत्यन्त विशिष्ट कारण है तथा वह है – कोन्याक जनजाति का अति खूँखार सिर काटकर लाने वाले योद्धाओं (Head Hunter) से युक्त होना। प्राचीन काल से ही इस जनजाति में अपने शत्रु को मारकर, उसके सिर को काटकर लाना वीरता तथा गर्व का प्रतीक माना जाता था। इनके पूर्वजों का मानना था कि मानव कपाल में एक प्रकार की जादुई शक्ति विद्यमान होती है। तत्कालीन समाज में नरमुण्ड के शिकारी योद्धा का भव्य तथा शानदार स्वागत किया जाता था। गाँव के मौरोंग में रखे लॉगड्रम के साथ उस सिर को बांध दिया जाता था तथा गाँव के सभी स्त्री पुरुष पूरी रात नृत्य तथा आनन्द करते थे। इस प्रकार का समारोह अत्यन्त धूमधाम से तथा प्रथानुसार मनाया जाता था। कुछ दिनों के बाद माँस तथा रक्त सूख जाने पर कपाल को उसी योद्धा को ट्रॉफी के रूप में दे दिया जाता था, जिसे वह अत्यन्त गर्वपूर्वक अपने घर ले जाकर सजाता था। कोन्याक योद्धा के चेहरे पर एक नरमुण्ड लाने के उपलक्ष्य में एक गोदना उकेरा जाता था। जितने सिर, उतनी ही आकृतियाँ तथा उतना ही योद्धा के शक्तिशाली होने का प्रमाण। कोन्याक जनजाति में गोदना तथा सिर काटने की परम्परा एक साथ विकसित होती गई। सर्वाधिक संख्या वाला योद्धा सबसे वीर माना जाता था। यश तथा गर्व के साथ-साथ सिर एकत्रित करने से इन योद्धाओं में एक अजीब सा भरोसा भी उत्पन्न होता था कि कपाल में स्थित जादुई शक्तियों से फसल तथा मनुष्यों की उर्वरता में वृद्धि होती है तथा उनका कल्याण होता है। कैसा अजीब वृत्तान्त है – सुनकर भी अन्तरात्मा सिहर उठती है फिर जो वास्तव में इस सब के प्रत्यक्षदर्शी होते होंगे उनका हृदय तो अवश्य वज्र का बना होगा।

ईसाई मिशनरियों के आगमन के पश्चात्, कोन्याक नागाओं ने दीर्घकाल तक ईसाई धर्म अपनाने का प्रतिरोध किया। कारण कि वे अपनी इस अनादिकाल से चली आ रही बर्बर नरमुण्ड काटने की परम्परा को कतई छोड़ना नहीं चाहते थे। सन् 1940 तक ही इस प्रथा का प्रचलन था। नरमुण्ड काटकर लाने की अन्तिम घटना सन् 1969 में घटित हुई। उसके बाद ऐसी किसी घटना की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह प्रथा समाप्त होने के पश्चात् अन्ततः सभी घरों से कपालों को हटाकर उन्हें एक स्थान पर दफनाया जा चुका है किन्तु फिर भी कोन्याक नागाओं के विशाल घरों में, शिकार किए गए जानवरों तथा पक्षियों की अस्थियों के ढेर तथा दीवारों पर लकड़ी अथवा पत्थर के बने कपाल, मिथुन, हिरण, जंगली शूकर आदि के कपाल तथा हॉर्नबिल की चोंच अथवा पंखों की सजावट देखी जा सकती है।

मोन (Mon) जिले का सबसे बड़ा गाँव लौंगवा (Longwa) है। इसी गाँव में सिर काट कर लाने वाला अन्तिम योद्धा चिन्खुम (82 वर्ष) का घर भी है तथा इन्हीं योद्धाओं की अन्तिम पीढ़ी में से एक अन्य पैन्गशौन्ग (76 वर्ष) भी है जिसने सात लोगों के सर कलम किए। ये सभी वृद्ध पुरुष संभवतः शीघ्र ही अपने साथ अपनी वीर गाथाओं को भी कब्र तक ले जाएंगे।

एक अन्य कोन्याक पैन्हपा (80 वर्ष) भी इसी गांव में रहता है जिसे अपने जीवनकाल में पाँच शत्रुओं के सिर काटकर लाने पर अत्यन्त गर्व है। किसी पश्चाताप का तो कोई सवाल ही नहीं। योद्धाओं के मुख पर गोदना बनाने की कला में निपुण नाओखे नामक महिला भी इसी गांव में रहती हैं। जिसने विगत कई दशकों से किसी भी योद्धा के चेहरे पर कोई गोदना नहीं उकेरा है। ईसाई मिशनरी तथा धर्म को कोटिशः धन्यवाद जिसके प्रभाववश Head Hunting की परम्परा समाप्त हुई।

कोन्याक नागाओं पर वर्तमान में भी पुश्तैनी मुखियाओं का शासन चलता है जिन्हें आंग (Angh) कहा जाता है। गाँव के मुखिया को वहाँ का राजा माना जाता है। वर्तमान मुखिया के अधीन आसपास के सत्तर गाँव हैं। उसके विषय में आश्चर्यजनक बात यह है उसकी साठ पत्नियाँ हैं जिनसे उसकी अनेक सन्तान हैं। लौंगवा (Longwa) गाँव की एक विशेषता यह है कि अपने शासन के अन्तिम काल में अंग्रेजों ने इस गांव को दो भागों में बांटते हुए सीमारेखा का निर्धारण किया। फलस्वरूप यह गाँव आधा बर्मा में तथा आधा भारत में है। अत्यन्त विचित्र किन्तु सत्य – भारत तथा बर्मा की सीमा रेखा मुखिया के घर के मध्य से होकर गुजरती है। परिणामतः उसकी रसोई बर्मा में तथा शयनकक्ष भारत में है!! वास्तव में लौंगवा गाँव के सभी निवासी बिना किसी पारपत्र तथा वीजा के स्वच्छन्द रूप से दोनों देशों में आ जा सकते हैं।

उत्सव – कोन्याक जनजाति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्सव है – आओलेंग मोन्यू (Aoleng Monyu) इसे वांगवान आओलेंग, वान, जू-वान के नाम से भी जाना जाता है। फसल की बुआई के बाद मनाए जाने वाले इस नृत्योत्सव में चावल, माँस तथा बियर का सेवन, मछली पकड़ना, शिकार करना, नाचना-गाना, वैवाहिक मुद्दों पर विचार करना प्रमुख हैं। सिर काटकर लाने वाले इन नागाओं को भी इस अवसर पर अपने

सर्वोत्तम पारम्परिक परिधान, आभूषण तथा युद्ध आदि में विजित पुरस्कार चिह्न धारण करना अत्यन्त प्रिय है। यंगवान (Youngwan) तथा काहशिह (Kahshih) नामक देवताओं के प्रति प्रार्थनाएँ तथा बलि प्रदान की जाती हैं ताकि स्वास्थ्य, फसल, सुरक्षा तथा सन्तान में वृद्धि हो। गांव के मौरोंग में स्थित लॉग ड्रम को दीर्घ अन्तराल तक जोर-जोर से बजाया जाता है ताकि शत्रुओं की आत्माओं को बहरा बनाया जा सके। यह उत्सव विवाह निश्चित करने का अत्युत्तम अवसर माना जाता है। इस प्रकार कोन्याक नागा इस उत्सव को बड़े हर्षोल्लास से मनाते हैं।

यिमचुन्गेर - यिमचुन्गेर नागालैण्ड की प्रमुख जनजातियों में से एक है, जो यहाँ के यूनसैंग (Tuensang) जिले तथा बर्मा के कुछ भागों में निवास करती है। यिमचुन्गेर शब्द का अर्थ है - वे लोग जिन्होंने अपने मनपसन्द स्थान को प्राप्त कर लिया है। इस जनजाति के अन्य अनेक नाम भी हैं - यिमचुन्गरु, यिमचुन्गरु नागा, यिमचुन्गर, यान्चुन्गर। इनका एक अन्य नाम याचुमी भी है जो कि सेमा जनजाति से प्रभावित नाम है। इन जनजाति के उद्‌भव से विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

यिमचुन्गेर परम्परा के अनुसार इस जनजाति का मूल स्थान मोरु (Moru) नामक गाँव था तथा वहाँ से ये लोग जूर (Jure) गांव आ गए। ऐसी भी मान्यता है कि यिमचुन्गेर तथा खियामनियुन्गन दोनों जनजातियाँ ऊपरी बर्मा से एक साथ वर्तमान नागालैण्ड तक आई तथा मोरु गांव के बाद दो दलों में विभक्त हो गईं।

यह जनजाति प्रमुख रूप से कृषि-प्रधान है तथा कृषि के प्रति उनके प्रेम तथा सनक का परिचय उनके गीतों के प्रत्येक सुर, प्रत्येक ताल में झलकता है। शिल्पकला को समर्पित इन गीतों में मानो उनकी सांस्कृतिक सुदृढ़ता का प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है। इस जनजाति के पारम्परिक परिधान का प्रमुख आकर्षण है - बालों तथा पक्षियों के पंखों से सजे टोप। इनके वाद्य-यन्त्रों में लॉग-ड्रम, तुरही तथा बाँसुरी प्रमुख हैं।

उत्सव - यिमचुन्गेर जनजाति का प्रमुख उत्सव मेतुम-नेओ (Metum-Neo) है, जो बाजरे की फसल की कटाई के बाद अगस्त मास में मनाया जाता है। पांच दिन तक चलने वाले इस उत्सव का आरम्भ गांव के बुजुर्ग-कियुन्पु (Kiungpu) द्वारा किया जाता है। मृतात्माओं के लिए प्रार्थनाएँ करना, मित्रों को अपने घर बुलाना, उपहार प्रदान करना तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना - इस उत्सव की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। नाचना, गाना, विशेषत: लट्टू घुमाने का खेल दिखाना अत्यन्त हृदयाकर्षक गतिविधियाँ हैं। नागा उत्सवों के बारे में अत्यन्त विचित्र बात यह है कि प्रत्येक उत्सव के साथ मृतात्माओं को जोड़ना किसी न किसी रूप में अनिवार्य है। सामान्यत: किसी भी व्यक्ति के मन में प्रेतात्माओं के प्रति एक भय की भावना होना स्वाभाविक बात है, किन्तु नागाओं की आस्था, विश्वास तथा मान्यताएँ - सामान्य दुनिया से कहीं अलग तथा विचित्र प्रतीत होती हैं। यिमचुन्गेर नागाओं का तो यहाँ तक मानना है कि उनके प्रत्येक पुरुष के साथ छ: तथा महिला के साथ पांच आत्माएं हमेशा रहती हैं और कहा जाता है कि मेतुम-नेओ उत्सव में विशेष बात इन आत्माओं के कारण ही आती है। इस उत्सव में देवता अरिम्पूह (Arimpuh) को चावल से बनी बियर के प्रसाद द्वारा प्रसन्न किया जाता है।

इस उत्सव का एक अन्य दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। इस उत्सव के द्वारा दिवंगत आत्माओं के प्रति प्रार्थनाओं के साथ, नवजात शिशुओं के रूप में माध्यम से नए जीवन के अवतरण का भी आनन्द मनाया जाता है। नवजात शिशुओं के साथ आत्माओं को संयुक्त करने की रस्म अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उत्सव के तीसरे दिन गाँव के स्वस्थ पशुओं की बलि दी जाती है तथा उनके माँस का कुछ निश्चित भाग आत्माओं को अर्पित किया जाता है - नर शिशु से संलग्न आत्माओं के लिए छ: टुकड़े तथा मादा शिशु के साथ आत्माओं के लिए पांच टुकड़े रखे जाते हैं। शिशुओं में आत्माओं को अनुप्रेरित करना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है, ताकि वे स्वस्थ, बहादुर तथा बुद्धिमान बन सकें। लड़कियों को इन आत्माओं से आकर्षक तथा लावण्यमयी बनने में सहायता मिलती है।

संक्षेप में कहें तो यह उत्सव समृद्धि तथा सम्पन्नता की इच्छा के साथ-साथ, शत्रुता को भूलकर मित्रता में वृद्धि करने का भी एक जरिया है। इसके लिए क्रीड़ाओं, उपहारों का आदान-प्रदान, सामुदायिक भोज, नृत्य-गान, चावल निर्मित बियर - इन सबका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है।

गांव की सड़कों तथा खेत आदि अन्य स्थलों की मरम्मत तथा सफाई, जल स्रोत व झरनों की सफाई, खेती के उपकरणों तथा औजारों की सफाई तथा पूजा भी इस उत्सव के दौरान की जाने वाली अन्य गतिविधियाँ हैं।

फोम - फोम जनजाति का परम्परागत क्षेत्र उत्तर-पूर्व में कोन्याक, पश्चिम में आओ तथा दक्षिण में चांग जनजातियों के क्षेत्र के मध्य में स्थित है। इनका सबसे बड़ा गाँव यौनन्याह (Yongnyah) है। अन्य जनजातियों के समान ही इनका उद्‌भव

स्थान भी अनिश्चित है। मौखिक परम्परा के अनुसार फोम जनजाति के पूर्वजों का उद्‌भव पत्थरों से हुआ था। ऐसा संभवत: इनकी शारीरिक सुदृढ़ता तथा मजबूती को देखते हुए कहा जाता होगा।

फोम जनजाति का परम्परागत व्यवसाय कृषि है। यहाँ झूम खेती होती है। साथ ही मिट्टी के बर्तन बनाना, बांस की कारीगरी तथा कताई बुनाई का फाम भी किया जाता है। इनके पारम्परिक परिधान में पुरुषों का सफेद तथा नीले रंग का उत्तरीय तथा महिलाओं की शंगनैंग नामक स्कर्ट सम्मिलित है जो कि अनेक रंगों तथा डिजाइनों से बनी होती है। शत्रु का सिर काटकर लाने वाले अथवा अन्य लोगों को भोज कराने वाले व्यक्ति को कौड़ियों से सजा उत्तरीय (Fanet-Henyu Shawl) पहनने का विशेषाधिकार प्राप्त होता था।

कोन्याक तथा चांग जनजाति के समान फोम नागाओं में भी शव को दफनाने के स्थान पर ऊँची मचान पर खुला रखने की परम्परा विद्यमान थी। यद्यपि वर्तमान में यह प्रथा प्रचलन में नहीं है। शवों को जमीन में दफनाया जाता है।

उत्सव - फोम जनजाति के उत्सवों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है - मोन्यू। यह परम्परागत उत्सव अप्रैल के आरंभ में 12 दिनों तक मनाया जाता है। उत्सव से एक या दो दिन पहले, एक विशेष धुन - लैन-न्यांगशेम (Lan-Nyangshem) पर लॉग ड्रम को बजाकर उत्सव के आगमन की सूचना दी जाती है। तदनन्तर गाँव के बुजुर्ग लोग अथवा पुजारियों द्वारा कुछ रीतियों व रस्मों की सहायता से उत्सव द्वारा शुभ अथवा अशुभ लाने की भविष्यवाणी की जाती है। इस उत्सव में भी भोज, नृत्य, गान तथा सामाजिक कार्यों का अभिन्न स्थान है। किन्तु अन्य जनजातीय उत्सवों से यह एक विशेष कारण से सर्वथा भिन्न भी है। मोन्यू उत्सव का सीधा-सीधा सम्बन्ध है - फोम नागाओं द्वारा परिवार की महिलाओं के प्रति प्रेम, स्नेह तथा आदर की भावना प्रदर्शित करने से। परिवार के पुरुष सदस्यों के लिए अपनी विवाहित बेटियों तथा बहनों पर प्रेम न्यौछावर करने का यह अत्युत्तम अवसर होता है तथा वे उन्हें चावल की बनी बियर तथा विशेष रूप से तैयार किए गए भोजन भेंट स्वरूप प्रदान करते हैं।

उत्सव का समापन बुजुर्गों द्वारा माँस तथा चावल की बियर के आदान-प्रदान से होता है। वहीं दूसरी ओर युवा वर्ग एक प्रकार की पिकनिक के लिए गांव के बाहर चले जाते हैं तथा जंगली बेलों पर झूलना भी सम्पन्न किया जाता है। संभवत: इसके माध्यम से मानव जीवन का एक सिरे से दूसरे तक झूलना इंगित है। इस प्रकार कृषि कार्य में पूरे साल की गई कठोर मेहनत के बाद इस उत्सव के द्वारा मानो भरपूर आनन्दोल्लास की भावना से इन लोगों में नवजीवन का सञ्चरण होता है।

वर्तमान में इन जनजातियों में से अधिकांश जिन समस्याओं का सामना कर रही हैं, उनमें से प्रमुख है - वर्तमान पीढ़ी का आधुनिक परिवेश से अत्यधिक प्रभावित होना। वे धीरे-धीरे अपनी परम्परागत रीति-रस्मों तथा रिवाजों को पीछे छोड़ते जा रहे हैं। अपने परम्परागत परिधान के स्थान पर आधुनिक वस्त्र धारण करना पसंद करते हैं। पुश्तैनी व्यवसाय जैसे - कृषि आदि को छोड़कर बहुत से युवा कलकत्ता, दिल्ली जैसे महानगरों में रोजगार ढूँढने जा रहे हैं। अनेक स्थानों पर युवा-वर्ग अफीम के सेवन का शिकार हो रहा है। मोबाईल जैसे इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का प्रयोग उनके जीवन का अभिन्न अंग बनता जा रहा है। राज्य के विषम तथा दुर्गम स्थानों पर शिक्षा, बिजली, स्वास्थ्य जैसी मूलभूत सुविधायें अत्यन्त कठिनाई से पहुँच पाती है किन्तु ऐसी स्थिति में भी नागालैण्ड सरकार को बहुश: धन्यवाद दिया जाना चाहिए। प्रत्येक वर्ष नागालैण्ड की राजधानी कोहिमा से कुछ दूर किजामा नामक स्थान पर Hornbill festival (1 से 7 दिसम्बर) का आयोजन किया जाता है, जिसमें राज्य की सभी प्रमुख जनजातियों तथा बर्मा की कुछ जनजातियों द्वारा अपने उत्सव तथा नृत्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार आधुनिक समय में भी नागाओं के गौरवपूर्ण इतिहास तथा संस्कृति की झलक देखने को मिलती है। जिस प्रकार वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी इस राज्य के लोग अपनी परम्पराओं तथा मौलिक जीवनशैली से जुड़े हुए हैं, आशा की जाती है कि लुप्तप्राय: कुछ जनजातियाँ वर्तमान परिस्थितियों में भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने में समर्थ होंगी।

एसोसिएट प्रोफेसर
लेडी श्रीराम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल - vandanasbhan@lsr.du.ac.in

डॉ. प्रसून सेनगुप्त

दन्तचिकित्सा : एक तुलनात्मक अध्ययन

शोध सारांश

आयुर्वेद में दंत संरक्षा, दंतरोग निदान, लक्षण और चिकित्सा विषयक वर्णन सूत्र रूप में मिलता है। यह विषय बृहत्त्रयी एवं लघुत्रयी के अतिरिक्त अन्य आयुर्वेदीय ग्रंथों में विशेषकर शालाक्य संबंधित रोगों व दिनचर्या के वर्णन में कहीं-कहीं देखा जा सकता है। वस्तुतः यह विषय जगह-जगह फैला हुआ है जिसका विधिवत् तारतम्य अत्यंत आवश्यक हो गया है क्योंकि आज जब पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में दंतशास्त्र के क्षेत्र में प्रगति हो रही है, जैसे कि शल्य के क्षेत्र में दन्तोत्पाटन से लेकर अत्याधुनिक यंत्रों के द्वारा टूटे मुखावयवों एवं दंतों को जोड़ने व आकर्षक बनाने के लिए पुनर्रचना की जाती है, वहीं चिकित्सा के क्षेत्र में नये-नये दन्त द्रव्यों के प्रयोग से दांतों को दृढ़ एवं निरोग बनाने के प्रयास जारी है।

आयुर्वेद के दंतशास्त्र संबंधी विषयों का विचार आधुनिक संदर्भ में करना आवश्यक है। प्राचीन समय से चले आ रहे आयुर्वेदीय दंतरक्षा के साधन निरापद, प्रभावकारी, सहज, सुलभ व सुग्राह्य होने से अब भी सर्वाधिक प्रयोग में आ रहे हैं। पाश्चात्य जगत् भी संप्रति प्रचलित टूथपेस्ट ब्रश आदि के विभिन्न दुष्परिणामों के कारण संतुष्ट नहीं है। इस प्रकार अखिल विश्व में अब विकल्प के रूप में आयुर्वेदीय ग्रन्थों में वर्णित दन्त्य द्रव्यों को स्वीकार करना प्रारम्भ हो चुका है। इन आयुर्वेदिक (हर्बल) दन्त्य द्रव्यों को सहज ग्रहण करने वाला समाज धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार इसकी विश्वसनीयता को और अधिक समझने व व्यवहार में लाने के लिए प्रचलित आयुर्वेदीय दंत संरक्षा संबंधी संसाधनों का यथोचित मूल्यांकन करने के लिये इस विषय का चयन किया गया है।

कूटशब्द

दन्त, चिकित्सा, आधुनिक, संरक्षा, टूथपेस्ट

प्रस्तावना

दंत विषयक वर्णन की ऐतिहासिकता देखने से ज्ञात होता है कि वेदों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतिग्रंथों, काव्य एवम् इतिहास ग्रंथों में विकीर्ण रूप से दंतों का वर्णन देखा जा सकता है। इस व्यापकता के साथ प्रस्तुत प्रकरण में दंतविषयक ऐतिहासिक विवरण जो कि चिकित्सा सम्बद्ध है उसी का उल्लेख किया जा रहा है।

वैदिक काल-

विश्व की सर्वाधिक प्राचीनतम रचना वेद है। जिसका काल हालांकि विवाद का विषय है अपितु सृष्टि के आरंभ से यथा अथर्ववेद का प्राचीनत्व सिद्ध है तथैव इसका उपवेद आयुर्वेद शाश्वत है। आधुनिक इतिहासकार ईसा से 10-12 हजार वर्ष पूर्व से 5 हजार वर्ष पूर्व तक इसका काल मानते हैं। संभव है यह वेदों के प्रथाकार में आने का समय रहा हो।

ऋग्वेद

ऋग्वेद में 7/55 में दांतों का वर्णन आया है। (Mcdonell, 1982)

अथर्ववेद

अथर्ववेद 5 118 /8 में दंत विषयक वर्णन है।

11 48/22 में दंष्ट्रा अर्थात् चर्वण दंत का वर्णन मिलता है।

इसके अतिरिक्त मुखांगों के वर्णन स्थान-स्थान पर मिलते हैं। यथा-

अथर्ववेद 2 33 11 जिव्हा,

1/ 34 / 2 जिव्हाग्र, जिव्हामूल 1 में

6 /56 3 में आस्य,

10 2 6 मुख,

25 ।2 ओष्ठौ या सृक्क का वर्णन देखा जा सकता है।

यजुर्वेद-

यजुर्वेद 25 /1 में दंतमूल एवं तालु विषयक वर्णन है।

अन्य विवरण

अन्य विवरण (डॉ. वायस, 1860) के अनुसार अश्विनौ के द्वारा या पुषण को कृत्रिम दंत प्रदान करने का वर्णन मिलता है। परमार बी.पी.एच. 1975.

इस वर्णन से स्पष्ट है कि अन्य चिकित्सा शास्त्रों से भिन्न आदि चिकित्सकद्वय अश्विनौ प्राचीन समय में ही दंतविद्या में पारंगत थे। दक्ष व कुशल दंतज्ञ दंतोत्पाटन व कृत्रिम दंतपंक्ति निर्माण में प्रवीण रहे होंगे।

जेडी लोगोन, मेगेजिन 1912 के अनुसार बेलझोनी आदि ने उदुम्बर काष्ठ निर्मित कृत्रिम दंत को स्वर्ण या रौप्य के तारों से में बांधने का उल्लेख किया है। यह विवरण प्राचीन भारतीय दंतविद्या में उल्लेखित है।

भारतीय दंतविद्या प्राचीन एवं उत्कृष्ट ज्ञान से परिपूर्ण रही है। जिसमें दांतों की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। जिस प्रकार से बहुमूल्य रत्नों की सुरक्षा की जाती है तथैव प्राचीन काल से भारत में दांतों की सुरक्षा रोगों से की जा रही है। हर्ज इन्बेर (आयटम आफ इंटरेस्ट जून 1893 एवं ओरल टॉपिक, अक्टू. 1922) यह जानकर विस्मय प्रकट करते हैं कि प्राचीन भारतीयों के दांत वृद्धावस्था में भी दृढ़ होते रहे हैं।

जो कि कभी कष्ट नहीं होने देते थे। दंतपंक्तियां ऐसी थी कि जैसे सुसज्जित स्वस्थ सैनिक कतार में सतर्क खड़े हैं।

डॉ. जे. जे. मोदी, प्रोफेसर, दंतशास्त्र, ग्रांट मेडिकल कॉलेज बम्बई (इण्डियन डेंटल रिव्यू 1928) के अनुसार भारतीय दंतशास्त्र प्राचीन समय में निश्चित ही विकसित रहा होगा तब ही तो ऐसी दंत सुरक्षा हेतु शिक्षा व्यवस्था का उल्लेख मिलता है जिसमें दांतों की सुरक्षा के उपाय व दंतकष्ट की चिकित्सा सर्वांग रूप से रही है।

प्राचीन भारतीय दंतशास्त्र में उत्पाटित या दंताभाव में उत्पन्न हुए रिक्त स्थल को सफाई से स्वर्ण के द्वारा पूर्ण किया जाता है, ऐसा स्पष्ट वर्णन मिलता है। (डॉ. जे. एच. बेडलाक) जो कि कुशल व दक्ष स्वर्णकारों के द्वारा किया जाता रहा है (इण्डियन डेंटल जर्नल 1927 -डॉ. जोंस)।

दंतशास्त्र में दंत के प्राकृत स्वास्थ व तत्सम्बधी रोगों का वर्णन विषय के व्यापक स्वरूप को व्यक्त करता है। आज दंत संबंधी क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। किंतु इस शोध प्रबंध की मर्यादा स्वस्थवृत्त तक सीमित रखी गई है। शालाक्य में जो दंतरोगों व उनकी चिकित्सा का वर्णन है उसमें अनुसंधान की व्यापक संभावनाएं हैं। शालाक्य के अतिरिक्त काय चिकित्सा में वर्णित रोगों के साथ भी उपद्रव स्वरूप या सहलक्षण स्वरूप व्याधियों के साथ रोगी दंतरोगों से या स्वतंत्र दंत रोग से भी ग्रस्त होते हैं। इस परिपेक्ष्य में यहां निम्न स्थितियां विचारणीय है-

1. स्वतंत्र दंत व्याधिप्रसित सामान्य या नवीन रोगी।

2. अन्य व्याधि के साथ उपद्रव या सहलक्षण के रूप में दंत रोगग्रस्त रोगी

3. जीर्ण या शल्य चिकित्सा योग्य रोगी।

4. सद्यः चिकित्स्य दंत रोगी

5. आधुनिक दंत सुरक्षा साधनों के दुष्परिणाम से ग्रस्त रोगी।

इनमें प्रथम स्थिति के रोगी को मात्र वर्तमान उपाय त्याग कर दंत संरक्षण प्रयोगान्तर्गत समाविष्ट किया। गया है। द्वितीय प्रकार के रोगी जो कि पहले से ही दंतभिन्न व्याधि की चिकित्सा ले रहे हैं साथ में दंत रोगी भी है उन्हें वर्तमान दंतशोधक उपायों को त्यागने का निर्देश देकर प्रयोग जारी करने के साथ दंत योग, दंत काष्ठ का प्रयोग निर्देश दिया गया। तृतीय व चतुर्थ स्थिति के जीर्ण व शल्य साध्य दंत रोगी सद्यः चिकित्स्य रोगी को भी इस शोध क्षेत्र से मुक्त रखा गया है।

एक या दो सप्ताह तक प्रथम दोनों स्थितियों के रोगियों का आयुर्वेदीय दंतसंबंधी, स्वस्थवृत्त व सद्वृत्त के पालन के साथ मूल्यांकन किया। मूल्यांकन करते समय द्वितीय स्थिति में अन्य चिकित्सा की आवश्यकता को मान्य करते हुए प्रथम स्थिति के समान ही मूल्यांकन पर रखा है। क्योंकि द्वितीय स्थिति के रोगी पहले से या अध्ययन के साथ ही चिकित्सा में रखे गये हैं। स्वस्थवृत्त पालन स्वस्थ व रोगावस्था दोनों में ही वांछनीय है इसलिये हमारा मूल्यांकन इन औषधियों से प्रभावित नहीं माना जायेगा।

टूथपेस्ट ब्रश, माऊथवाश आदि आधुनिक दंत सुरक्षा उपायों को अपनाने वालों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है वहीं दंतरोगों से प्रभावित रोगियों की संख्या भी निरन्तर बढ़ रही

है। दंतचिकित्सकों के पास आनेवाले दंतरोगियों में अधिकतर रोगी ऐसे होते हैं जिन्हें दन्तशूल, कृमिदंत, दंतमांसशोथ, दंताधार शोथ, दन्तावरण वैवर्ण्य आदि कष्ट होते हैं। इनमें वयस्कों के साथ-साथ अल्पायु बालक भी होते हैं। जिनके अभी अस्थायी दांत टूटे नहीं है। आधुनिक दंत सुरक्षा उपायों की चिरस्थायी हानि चिन्तनीय है। इसके विपरीत आयुर्वेदीय साधनों यथा दंतपवन, मंजन, कवल, गण्डूष आदि उपायों के प्रति अनभिज्ञता बढ़ती जा रही है।

दंतशास्त्र का व्यापक क्षेत्र होते हुए भी स्वस्थवृत्त के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही यहां मूल्यांकन किया गया है। शालाक्यतंत्र विभाग से रोगियों का चयन विशेष रूप से किया गया किंतु शालाक्य में अतिव्याप्ति न हो जावे इसलिये दंतरोगों के उपचारों पर विषय को जाने नहीं दिया गया है। कायचिकित्सा आदि से संबंधित कुछ उपद्रव दंतरोग में अन्य व्याधि की चिकित्सा प्रयोग को त्यागने के लिए नहीं कहा गया हैं जो कि संबंधित व्याधियों में कही गयी हैं। स्वस्थवृत्त के साथ दंत संबंधी सदवृत्तों के पालन का भी रोगी को निर्देश दिया गया है। इस प्रकार उभयवृत्तों के पालन से संपूर्ण उपक्रम हो सके।

दन्तविषयक परिभाषिक संज्ञाएं

दांतों की रचना का वर्णन करते समय उनका बाह्य रूप वर्णन संबंधित कुछ पारिभाषिक निश्चय आधुनिक शारीरज्ञों ने किया है। क्योंकि प्रत्येक दंत की अपनी स्वयं की विशेष स्थिति व विशेषता है जो कि उसके रचनात्मक वैभिन्य के कारण स्पष्ट है। सामान्य रूप से प्रत्येक दंत के पक्ष (सतह) पृष्ठ एक जैसे नहीं होते कि उन्हें अग्र, पश्च, बाह्य, अन्तय ऊर्ध्व, अधः आदि से स्पष्ट किया जा सके। अतः कुछ विशिष्टताओं को ध्यान में रख व्यापक पारिभाषिक पक्ष निश्चित किये गये हैं। दांतों की जो सतह औष्ठ या अन्तर्गण्डभित्ति या कपोल अभिमुख होती है उसे क्रमशः औष्ठीय (Labial) या कापोलीय (Buccal) पक्ष या पृष्ठ या सतह कह सकते हैं जिव्हा को स्पर्श करने वाला जैव्हा (Lingual) मूर्ध्ना अभिमुख मूर्द्धन्य (Palatal) अन्तः अभिमुखी को जो कि निकटस्थ दूरी वाला होता है वह अन्तः (Mesial) और जो अपेक्षया दूर हो वह दूरस्थ (Distal) पक्ष या सतह कहलायेगा। जिस सतह से चर्वण प्रक्रिया के समय भोजनान्नादि को चबाया या काटा जाता है वह पक्ष चर्वण या कर्तन (Occlusal) पक्ष माना गया है इन पारिभाषिक पृष्ठों, सतहों, या पक्षों का ध्यान में रखकर ही रचना वर्णन में आसानी हो सकती है। (Central incisor) का वस्त दंत (Lateral incisor) से युक्त होने वाला भाग दूरस्थ व अन्य राजदंत से मिलनेवाला अन्तर्भाग होगा। क्योंकि यहां पर मध्यरेखा से दूरी की सापेक्षता रखी गई है। किंतु हानव्यदंतों में वही भाग अन्तर्गण्ड पृष्ठ की ओर चला जाता है। कापोलीय हो गया और क्रमशः पीछे की ओर रहने वाले भाग दूरस्थ व अग्रभाग अन्तः हो जाता है।

दंत का महत्व

मनुष्यातिरिक्त सर्व प्राणियों में प्राकृतिक दंत का अतिजैविक महत्व माना गया है। अस्तनपायी कशेरूकीय प्राणियों में दंत टूटने पर पुनः दंतोद्भव होने से क्षति पूर्ति निरंतर होती रहती है। कभी दंताभाव नहीं होता। ऐसे प्राणियों के दंत (Polyphyodonty) बहुजदंत कहलाते हैं। इनमें दांतों का टूटना व फिर से बनना जीवन भर चलता रहता है। संभवतः बृहद् शरीर के ऐसे प्राणियों के लिए यह आवश्यक है कि निरंतर दांतों की टूटफूट होने पर स्थानापन्न नवीन दांत आते रहें।

इसके विपरीत स्तनपायी जन्तुओं या मनुष्यों में दो बार ही दंतोद्भव होने से ये दांत द्विज (Diphyodonty) कहलाते हैं प्रथमोद्भव दुग्धदंत (Milk or deciduous) व द्वितीयोद्भवित स्थायी दंत (या Permanent) कहलाते हैं। यही नहीं चूहों में तो यद्यपि ये स्तनपायी है किंतु जीवन में एक ही बार दंतोद्भव होता है। अतः चूहों के दंत एकज दंत (monophyodont) कहलाते हैं।

द्विज दंत चर्वणादि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऊर्ध्व दंत पंक्तियां परस्पर ऐसे मिल जाती है कि चर्वण प्रक्रिया सुचारू रूप से संपन्न हो सके। जबकि बहुज दंतों वाले प्राणियों में ऊर्ध्व एवम् अधः दंतों में ऐसा चर्वण सामंजस्य नहीं देखा जाता। शारीर रचनात्मक दृष्टिकोण से उनकी ऊर्ध्व अधः पंक्तियां परस्पर चर्वण क्रिया में मिलती भी नहीं है। दोनों हनुओं में रचनात्मक वैभिन्य भी इन जंतुओं में भेद करता है। चर्वण क्रिया में ऊर्ध्वाध्वः के साथ दक्षिण वाम गति मनुष्यादि की दंत पंक्तियां ऊर्ध्वाधः रूप से परस्पर चर्वण आदि के समय निरंतर दबाव डालकर दांतों में दृढ़ता प्रदान करती रहती है। यहीं नहीं इन दांतों के ऊपरी स्तर पर अतिदृढ़ वज्रलेप होने से टूटफूट को काफी सीमा तक रोका जा सकता है। इसलिए बहूद्भव दंत की परिस्थिति मनुष्यों में नहीं होती। कहीं ऐसे संकेत मिलते हैं कि मनुष्यों में वृद्धावस्था में भी नवीन दंतोद्भव

हुआ है। (चीन के जिग्यांग्सू प्रान्त में रहने वाली जियांग इज्मेन को 92 वर्ष की उम्र में दंतमांस में वेदना प्रारंभ हुई। परीक्षण करने पर देखा गया कि उस दंतविहिन वृद्धा को 12 नये दांत आ रहे हैं। सबरंग, जनसत्ता, बम्बई, 27.11.94, पृ.25) सरिस्त्रपों में घडियाल के अतिरिक्त, हन्वस्थि के दंतवेष्ट में प्रत्येक दंत योजक धातु (Cement) से मजबूती से जुड़ा होता है जबकि स्तनपायी जंतुओं के दांत हन्वस्थि में उलूखल संधि द्वारा दंतवेष्टों में स्नायुओं से मृदु मांस से बद्ध रहते हैं इस संधि की विशेषता से ही चर्वण समय में अत्यल्प रूप से प्रत्येक दंत में कदाचित् गति हो भी जाती है तो उसका कुप्रभाव, यथा दंतच्यूति, नहीं हो पाती। यही नहीं संवेदनशील नाड़ियों से आच्छादित दंतवेष्ट सीमा से अधिक क्षति की ओर तुरंत ज्ञान कराकर ऐसे आघातों से बचा लेते हैं जिसमें कि दंतच्यूति की संभावना हो। इस प्रकार चर्वण जन्य आघात से अन्य ऐसे कारणों से बच्चे दांत दीर्घ जीवी होते हैं। ये विशेषताएं अन्य बहुदंतोदय प्राणियों से मनुष्यादि को विशिष्ट श्रेणी प्रदान करती है।

दंत स्थिति खाद्य पदार्थों पर भी निर्भर करती है। मनुष्य प्राय: ऐसे संस्कारित आहार ग्रहण करता है जो कि दांतों को हानि न पहुंचाकर उसे दीर्घजीवन देते हैं। यही नहीं दांतों के टूटने पर भी मनुष्य में इतनी योग्यता तो है कि ऐसे आहारों से काम चला लें जिनमें दांतों के उपयोग की आवश्यकता न हो या फिर कृत्रिम दंत पंक्ति का उपयोग करे किंतु प्रकृति ने अन्य कशेरूकीय प्राणियों में यही विशेषता रखी है कि उनके असंस्कारित भोजन के दुष्प्रभाव से प्राय: दांतों में टूट-फूट होती ही रहती है इसलिए इनके दांत सदैव स्थानापन्न होते रहते हैं जो कि ऐसे प्राणियों के जीवन के लिए अत्यावश्यक भी है। विभिन्न जातियों, प्रजातियों के मनुष्यों की संस्कार भिन्नता काल, आहार, देश, शारीरिक विशिष्टता से भी दंत रचना प्रभावित होती है। जैसे मंगोलों में अधो तृतीय हानव्य (बुद्धिदंत) का अभाव देखा गया है।

वैसे तो दांतों को आज भी पौरातात्विक प्रमाण के रूप में लिया जाता है क्योंकि शताब्दियों तक जमीन में गड़े रहने पर नष्ट नहीं होते। क्योंकि शरीर की सबसे कठिनतम धातु यही है इसी के आधार पर आनुवांशिक विज्ञान बहुत सी उपलब्धियों का दावा करता है।

दंतावरण (एनामेल ENAMEL)

दंत का बाह्य आवरण जिसे दंतशीर्ष या क्राउन कहते हैं। श्वेत वर्ण का बाह्य आवरण होता है। दंतावरण के निर्माण की प्रक्रिया द्विभाजित की जा सकती है। गर्भकाल या निषिक्तावस्था में इसके बीज से निर्माण प्रारंभ होता है। इस विकास को मेट्रिक्स निर्माण कहते हैं। उसके बाद इसका सुधाभवन प्रारंभ होता है। सुधा कण (Calcium) के एकत्रित होने से अन्तरकोशिकीय स्थानों का सुधा घनत्व बढ़कर दृढ़ता भी बढ़ती जाती है। निषिक्तावस्था के अंत में सुधाभवन के साथ काठिन्य होकर दंतावरण निर्माण एवं विकास पूर्ण होता है। दंतावरण शरीर का सर्वाधिक सुधामय घनत्ववाला भाग एवं कठोरतम ऊतक है। दंतवस्तु योजकधातु एवं अस्थि के विपरीत इसका निर्माण बाह्यत्वगीय कोशिकाओं से होता है मनुष्यों में दंतावरण पूर्ण रूप से दंतशीर्ष को आवृत्त किये होते हैं। इसके स्तर की मोटाई दंत के स्थान स्थान पर न्यूनाधिक होती। यथा कर्तन सतह पर यह स्थूलतम 2.5 मी.मी. तक तो ग्रीवा स्थल पर अल्पतम दंतावरण होता है। इसी प्रकार घनत्व व काठिन्य भी न्यूनाधिक होता रहता है यथा कर्तन सतह पर सर्वाधिक काठिन्य जबकि ग्रीवा स्थल पर काठिन्य कम होता है। स्थायी दंत प्रारंभिक दंतों की अपेक्षा से दोनों स्थितियों में उत्कृष्ट होते है. काठिन्य एवं सुधा का घनत्व क्रमश: दंतवस्तु की ओर कम होता जाता है।

दंतावरण का काठिन्य गुणंक 19×10/6 पौण्ड प्रति वर्ग इंच बताया गया है भंजन के लिये 11000 पौण्ड प्रति वर्ग इंच औषत दबाव की आवश्यकता होती है।

दंतावरण का वर्ण पीत से श्वेत व घूसराभ नील या नीलाभ घूसर इसके पारदृष्टित्व पर निर्भर करता है। यदि यह अधिक पारदर्शी होगा तो दंतवस्तु के घनत्वानुसार पीताभ होगा। कर्तन पृष्ठ पर दंतवस्तु के अभाव में श्वेताभ नीला या नीलाभायुक्त होगा। वैसे सुधा के घनत्व व वितरण पर दंतावरण का वर्ण निर्भर करता है।

दंतावरण में लगभग 96-97% अकार्बनिकतत्व होते हैं। जबकि कार्बनिक तत्व स्थायी दंत में 0.4- 0.8% व अस्थायी में 0.5 से 0.9% होते हैं। इसमें केलशियम 37%, सोडियम - 0.5, मेगनेशियम 0.5. फास्फेट 55.5%, कार्बोनेट 3.5% होते हैं।

अल्पांश में जल, एवं अन्य कुछ तत्वों के सूक्ष्मांश होते हैं। सूक्ष्मदर्शन से पता चलता है कि दंतावरण के सूक्ष्म कण षट्कोणीय लंबकण होते हैं। प्राय: सम आकार, समरूप होते है किंतु कभी-कभी विषमाकार रूप भी मिलते हैं। इनकी लम्बाई 1600 ए (एंगस्ट्रोम) से 10,000 एं तक तथा चौड़ाई

25द्र एं से 400 एं तक होती है। (1 एं = 3.94×10 / 9 इंच या 9×10 / 9 से.मी.) इनके पार्श्वीय जोड़ परस्पर आर्गेनिक मेट्रिक्स के द्वारा जुड़े होते हैं। ऊपरी सतह पर ये रेडियोधर्मी विकिरण से भी अप्रभावित, कठिन एवं अघुलनशील होते हैं। यहां फ्लोराइड पांच से दस गुणा तथा कार्बोहायड्रेट अपेक्षया अधिक सान्द्र होते हैं।

निष्कर्ष

उक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आयुर्वेदीय दंतसाधनों व प्रयोगों को यदि आधुनिक प्रकार से रूपान्तरित करते हुए यदि दैनिक जीवन में प्रयोग किया जाये तो दीर्घकालीन लाभ की पूर्ण संभावना है। अत: आयुर्वेदोक्त संसाधनों को इस युग में युगानुरूप, परिस्थत्यनुसार आधुनिक संसाधनों के रूप में उपयोग करते हुए लाभान्वित हो सकते हैं। परन्तु प्रयोग के समय यह निश्चय कर लिया जाये कि जो भी द्रव्य प्रयुक्त किये जा रहे हैं वे पूर्ण रूप से आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार कार्य में लिए जाते रहे हों। साथ ही स्वस्थवृत्त के साथ सद्वृत्तानुरुप इन संसाधनों का प्रयोग किया जाये तो दन्तव्याधि ही नहीं अपितु शरीरगत अन्य व्याधियों से भी बचा जा सकता है।

Post Doctoral Fellow
Indian Council of Social Science Research

सन्दर्भ ग्रंथ

1. अष्टांग संग्रह/ श्रीमद् वाग्भट्, श्री गोवर्धन शर्मा (सम्पादक), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
2. कौमारभृत्यतंत्र- दुर्गा पराजपे, श्री विद्या प्रकाशन, पुणे
3. चरक-संहिता महर्षि अग्निवेश, डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (सम्पादक),चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
4. पदार्थविज्ञान परांजपे रानडे, अनमोल प्रकाशन, पुणे
5. A, Lakshmi Pathy, A Text Book of Ayurveda: Principles of Pathology, Delhi, Chaukhambha Sanskrit Pratisthan, 2005
6. Devaraj, T.L,Ayurveda: The Complete HandBook (UK, Motial Books, 2002)

राजेश जोशी की काव्य संवेदना

डॉ. रंजीत सिंह

राजेश जोशी का जन्म 18 जुलाई 1946 को नरसिंहगढ़, मध्य प्रदेश में हुआ। पत्रकार के रूप में अपने कैरियर की शुरुआत करने के उपरान्त आपने अध्यापकीय कार्य भी किया। 'एक कवि का नोटबुक' पुस्तक काफी चर्चित रही। तदुपरान्त 'एक कवि की दूसरी नोट बुक', 'समकालीनता और साहित्य' भी चर्चा के केन्द्र में रही। उनकी प्रकाशित रचनाओं की सूची बड़ी लम्बी है, समरगाथा (लम्बी कविता), एक दिन बोलेंगे पेड़, मिट्टी का चेहरा, धूपघड़ी, नेपथ्य में हंसी, चांद की वर्तनी, दो पंक्तियों के बीच, कवि ने कहा, सोमवार और अन्य कहानियां, जादू जंगल, अच्छे आदमी, ब्रह्मराक्षस का नाई, हमें जवाब चाहिए, कविता का शहर आदि। सम्पादन के क्षेत्र में भी राजेश जोशी का उल्लेखनीय योगदान रहा। इसलिए (1977-1983), नया पथ के निराला शताब्दी अंक के साथ पांच अंक, वर्तमान साहित्य का कविता विशेषांक (1992), त्रिलोचन के कविता संग्रह ताप के तपे हुए दिन (1980), नागार्जुन संचयन (साहित्य अकादमी, 2005), मुक्तिबोध संचयन (2015, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित) प्रमुख रचनाएं हैं।

राजेश जोशी के कविता का क्षितिज अनंत और व्यापक है इसलिए समकालीन, हिन्दी की परिधि में उनका व्यक्तित्व अपना स्थान बनाए रखता है। निरन्तर लेखन कर्म के माध्यम से वे पाठकों के बीच में अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहते हैं। आपको साहित्य अकादमी पुरस्कार, श्रीकान्त वर्मा स्मृति सम्मान, शमशेर सम्मान, मुक्तिबोध पुरस्कार पहल सम्मान, माखन लाल चतुर्वेदी पुरस्कार, मुकुट बिहारी सरोज स्मृति सम्मान, निराला स्मृति सम्मान, कैफी आज़मी अवार्ड, शिखर सम्मान, प्रो. आफाक अहमद स्मृति अवार्ड, जनकवि नागार्जुन स्मृति-सम्मान से भी आप नवाजे गए।

राजेश जोशी की कविता के केन्द्र में महाजीवन को गति देने वाली इन साधारण चीजों का एक भरा पूरा संसार है, इन साधारण चीजों का असाधारण सौन्दर्य हैं। यह महान जीवन महान चीजों से कभी गतिमान नहीं हुआ, इस महा जीवन को मामूली से मामूली चीजें गतिमान करने में अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करती रहीं। अपनी कविताई के इस तल पर अपने इस साधारण के असाधारण आख्यान और प्रस्तुति में राजेश जोशी अप्रतिम और अद्वितीय है-

जादू है
जादू है
जादू है कविता
.....
जो है
जो जैसा है
तुरत-फुरत
पलक झपकते
सब कुछ की शक्ल
बदल डालने की ललक जादू।[1]

दरअसल राजेश जोशी की कविताओं को पढ़ना एक पीढ़ी और उसके समय से दस-पन्द्रह साल पीछे की कविता और उससे जुड़ी बहसों के बारे में सोचना, और इतने ही साल आगे की कविता और उसकी मुश्किलों की ओर ताकना है। शायद इतना भर भी पर्याप्त नहीं है। क्योंकि राजेश ने जब कवि-कर्म आरम्भ किया और उसके तीन साल अनन्तर उनकी

कविता को अलग पहचान मिली, उस समय तीन-चार पीढ़ियां और उससे कई गुना अधिक साहित्यिक वैचारिक छवियां काव्य परिदृश्य में उद्यत थीं। कुछ थोड़े पुराने और कुछ बिल्कुल नए कवियों के बीच उनके थोड़ा साथ होकर और उनसे थोड़ा उनसे अलग हटकर, राजेश खड़े देखे गए। कुछ नए कवि पिछले दशक की चेतना से ही आविष्ट थे, जो कुछ राजेश की पहचान के इर्द-गिर्द थे। इनसे अलग के अधिकांश नए बिम्ब, और संवेदना वगैरह की दुनिया में अंधी दौड़ के लिए मजबूर थे। उनमें से शायद ही कोई हिन्दी कविता में बने रहने की ताकत दिखा सका हो। लेकिन कविता के नव-आगमन में उनकी भी भूमिका थी, इससे आज इंकार नहीं किया जाना चाहिए।[2]

कवि की उपस्थिति कविता में केवल सच उद्घाटित कर देने तक नहीं है, उससे कहीं आगे जाकर समाधान देना भी कवि कर्म का हिस्सा है। राजेश जोशी इसके सशक्त हस्ताक्षर हैं। वे छोटे-छोटे संघर्षों को मैग्नीफाई भी करते हैं। भाषा के स्तर भी वे कहीं जमीन से जुड़ते हैं तो कहीं संवेदना के तह तक जाने का प्रयास करते है परन्तु एक स्तरीय और कलात्मक सजगता के साथ-

दादा ख़ैरियत
दादा खैरियत
आवाज कसता है
जब कोई दादा ख़ैरियत
दर्जन भर गालियां बकते हैं
दादा ख़ैरियत
ज्यादा तंग करे कोई
तो झुझलाकर पत्थर लेकर दौड़ते हैं
दादा ख़ैरियत[3]

लेखकीय सजगता और सचेतता राजेश जोशी की अद्भुत है। वे बाजारवाद से लेखकों, आलोचकों, कवियों को आगाह भी करते हैं। मुझे लगता था कि बाजार हिन्दी की कविता का कभी कुछ नहीं बिगाड़ पाएगा, क्योंकि न तो इस क्षेत्र में अधिक पैसा है, और न ही कीर्ति के कोई बहुत बड़े अवसर ही हैं पर मैं गलत था बाजार एक प्रवृत्ति है। इसका ताल्लुक अवसर, पैसे या कीर्ति से नहीं है। हिन्दी साहित्य का वर्तमान परिदृश्य जिस तरह के घमासान और निरर्थक विवादों से भरा नजर आ रहा है, वह बाजार के प्रभाव का ही परिणाम है। विगत तीन दशकों की कविता का जैसा मूल्यांकन होना चाहिए, वह नहीं हो पा रहा है। आलोचना से यह उम्मीद तब तक निरर्थक ही होगी। जब तक कि कवि स्वयं इस दृश्य के मूल्यांकन की कोशिश नहीं करेंगे। यही हालत गद्य की भी है, विशेष रूप से कहानी और उपन्यास की। उसमें हल्ला अधिक है, सार्थक विमर्श और साफ बोलने वाली 'आलोचना कम' आलोचना का एक बड़ा हिस्सा या तो उजड्ड़ता और अहंकार से भरा है या 'अहो रुपम् अहो ध्वनि', के शोर से एक कवि और कथाकार ही इसमें हस्तक्षेप कर सकता है। उसी की जरूरत है। राजेश जोशी को समय को पहचानने में दक्षता हासिल है वे उदारवादी बाजार व्यवस्था के खतरों से पूरी तरह से भिज्ञ भी है और दूसरों को भी जागृत करना चाहते हैं। इसलिए उनकी कविता में एनकेशमेंट की कला भी दिखती है। वे लोगों को बताना चाहते हैं कि अपने हक और अधिकारों को पाने के लिए प्रतिरोध भी करना पड़ता है, और लड़ना भी।[4] देश में जनतंत्र के जब बुरे दिन शुरू हुए थे, राजेश जोशी की पीढ़ी ने लिखना शुरू किया था। आपातकाल की भट्ठी में तपकर वह अनुभव तपा हुई। जनतंत्र की पुनः बहाली हुई तो उसमें से पांच-सात पहचाने जाने योग्य वयस्क चेहरे दिखाई पड़े। राजेश जोशी उनमें से उम्र के हिसाब से ज्यादा वयस्क और कविता के हिसाब से ज्यादा कमसिन लगते थे। अपने प्रथम संग्रह 'एक दिन बोलेंगे पेड़' में पेड़, बच्चे, गेंद, प्याज, घोड़ा, बाल्टी पर उनकी जो कुछ कविताएं हैं उसके आधार पर यही बात कही जा सकती थी। हालाँकि उस 'कमसिन' मासूमियत के भीतर गहरी परिपक्वता छुपी हुई थी, उसे समझने की जरूरत आज भी थोड़ी बनी हुई है। बहरहाल यह है इसके साथ यह भी है, जैसा कि हमने शुरू में ही कहा, पुरानी दो-तीन पीढ़ियों के कवियों ने भी अपने ढंग से पुनरुत्थित किया। .... सातवें दशक के भी कुछ कवियों में नई स्फूर्ति और ताजगी देखी गई। अशोक बाजपेयी का दिया गया मुहावरा 'कविता की वापसी' इसी संदर्भ में आया है और वह अनुचित नहीं है। लेकिन अशोक जी के साथ मुश्किल यह है कि कविता की उस वापसी के नए किरदारों का नाम लेते उनसे नहीं बनता।[5]

राजेश जोशी समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझते हैं, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व धार्मिक क्षेत्रों की उनकी अपनी व्याख्या और मान्यताएं हैं-

मकान मालिक परेशान है
और आँगन में टहल रहा है, देख रहा है
दाहिनी ओर की दीवार पर
भीत फोड़कर
एक पीपल उग आया है

दीवार में दूर तक पड़ गयी है दरार
.....पर पीपल को
न तो उखाड़ा जा सकता है
न काटा जा सकता है
क्योंकि यह
धर्म के विरुद्ध है[6]

राजेश जोशी की कविता ने सामाजिक अर्थ और उसकी अस्मिता के नये मानक तय किए। कविता का एक आत्म सजग समाजशास्त्र विकसित किया जो उनके राजनीतिक ही नहीं नैतिक और नदन्तिक (एस्थेटिक) दृष्टिकोण को नया स्वरूप प्रदान करता है उसमें एक विश्वसनीयता का भाव भी है। आपकी भाषा समाज के प्रति संवेदनात्मक रुख रखती है परन्तु रूढ़ियों पर यह मारक प्रहार भी करती है। भूख, गरीबी, जलालता की जिंदगी पर आपके शब्द बाण सीधे हमला बोलते हैं। 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' राजेश जोशी की सर्वाधिक चर्चित कविताओं में से एक है।

बच्चे काम पर जा रहे हैं
हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए, इसे कमाल की तरह[7]

सवाल सिर्फ यह नहीं कि बच्चे काम पर जा रहे हैं स्कूल जाते बच्चे भी बस्तों के बोझ से लद-फद कर जा रहे हैं। यह भी भयानक है। बच्चों को जादुई दुनिया से खींचकर स्वप्नहीन बनाने का काम किया जा रहा है, कवि का सवाल मुख्यत: इस बात से जुड़ा है। इसी सवाल से जुड़ी कविता है 'हमारे समय के बच्चे'। इस कविता के बच्चे काम पर नहीं जा रहे हैं। वे आधुनिक तकनीकों के सारे रहस्य जानते हैं। यह भी स्वप्नहीनता से जुड़ा उपक्रम है। राजेश जोशी यथार्थ की इस समझ के कवि है।[8]

दरअसल राजेश जोशी बौद्धिक उछल कूद और अनावश्यक प्रलाप, नारेबाजी से दूर ही रहे हैं, और यही कारण है कि वे अपने समय के दृश्य और बिम्बों को देख पाने में सक्षम रहे। उनकी कविताओं में बनावट नहीं यथार्थपरकता का स्वर है। वह अपनी जिन्दगी के सीधे-सादे प्रसंगों को बनावट रहित भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं जो पाठक के हृदय में सीधे चोट करती है-

जो इस पागलपन में शामल नहीं होंगे
मारे जाएंगे
कटघरे में खड़े कर दिए जाएंगे, जो विरोध में बोलेंगे
जो सच-सच बोलेंगे, मारे जाएंगे
बर्दाश्त नहीं किया जाएगा कि किसी की कमीज हो
'उनकी' कमीज से ज्यादा सफेद
कमीज पर जिनके दाग नहीं होंगे, मारे जाएंगे[9]

राजेश जोशी ने भाषा या काव्य भाषा का अपना आदर्श बेलौस, निर्मम, वस्तुपरक पारदर्शिता बनाया है। यह पारदर्शिता प्राणहीन और यांत्रिक न हो इसलिए वे चाहते हैं कि भाषा विनम्र हो पर चापलूस नहीं फटकार हो पर, न हो उदण्ड, इस मानवीय शील के साथ ही उनका आग्रह है कि उसमें हो लाखों के बोलने का ढंग उसमें हो पूरे जीवन का रंग।[10]

राजेश जोशी समझ के कवि हैं, भावनाओं और संवेदनाओं के कवि हैं। उनमें ढकोसला नहीं सत्य की चमक है, उनकी कविताएं सत्य का सामना भी करतीं हैं और ढोंग को उजागर भी। ''राजेश जोशी की कविताओं को पढ़ना एक पीढ़ी और उसके समय से दस पन्द्रह साल पीछे की कविता और उससे जुड़ी बहसों के बारे में सोचना, और इतने ही साल आगे की कविता और उसकी मुश्किलों की ओर ताकना है। ....कविता की एक संश्लेषी परम्परा रही है, जिसके भीतर राजेश जोशी की सक्रियता देखी जा सकती है। इसी बात ने उन्हें खास पहचान दी और समकालीन कविता को भी। केदारनाथ सिंह का यह कथन बिल्कुल दुरूस्त है कि राजेश जोशी आज की कविता के उन थोड़े से महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों में हैं जिनसे समकालीन कविता की पहचान बनी है। राजेश जोशी की 'समझ' से समकालीन कविता और उसकी नई पीढ़ी अभिन्न है।... कविता की एक संश्लेषी परम्परा जो पीछे नहीं आगे भी जाती है। इसमें प्रतिरोध और प्रतिबद्धता हैं तो पर्याप्त लोच भी है।''[11]

राजेश जोशी की कविताओं के मर्म तक जाने के लिए नए रास्ते, यथार्थ के रास्ते से होकर गुजरना होगा। रास्तों को टटोलना होगा जो सामाजिक यथार्थ को व्यक्त कर सके।

कोई गुजरे हमारे आसमान से
कोई गुजरे हमारे बगल के समुद्र से, नदी से
लगेगा उसे
बाकी है, बाकी है, अभी
हमारे घरों में हंसी
हमारी हंसी ठीक इसी समय
उम्मीद के सबसे कमजोर घोड़े पर सवार
कहीं अधेरे में
टटोल रही होगी अपना रास्ता[12]

राजेश जोशी की कविताएं अंधेरे में रास्ता नहीं टटोलती बल्कि प्रकाश उत्पन्न कर रास्ते को सबके लिए उपयोगी भी बनाती है। इसलिए आपकी कविताएं ज्यादा जनतान्त्रिक हैं और अलग-अलग किस्म की भाषा-भंगिमा को तोड़ती है। यह स्वर निराला, कबीर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, नागार्जुन में पहले सुनाई पड़ता है, वही स्वर तदन्तर, राजेश जोशी की कविताओं में सुनाई पड़ता है। वे आत्मसंघर्ष के माध्यम से बाह्य संघर्ष का नया स्वरूप देते हैं। उनकी कविताएं चेतना को प्रभावित करती हैं। राजेश जोशी समकालीन हिन्दी कविता के सबसे मुख्य स्वरों में से एक है। जिन्हें अपने वाली पीढ़ियां आदर्श मानेगी काव्य कला के क्षेत्र में।

असि. प्रोफेसर-हिन्दी
सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सन्दर्भ सूची

1. प्रतिनिधि कविताएं: राजेश जोशी जादू सम्पादक सुधीर रंजन सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ. 33-34
2. वही, पृ. 05
3. प्रतिनिधि कविताएं: राजेश जोशी (दादा खैरियत), सम्पादक सुधीर रंजन सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ. 50-51
4. एक कवि की दूसरी नोट बुक: समकालीनता और साहित्य राजेश जोशी, राजकमल प्रकाशन, फ्लैप।
5. प्रतिनिधि कविताएं: राजेश जोशी, सम्पादक सुधीर रंजन सिंह - कविता की संश्लेषी परम्परा, राजकमल प्रकाशन, पृ. 7, 8
6. प्रतिनिधि कविताएं: राजेश जोशी (धर्म के विरुद्ध है), सम्पादक सुधीर रंजन सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ. 57
7. बच्चे काम पर जा रहे है-राजेश जोशी
8. प्रतिनिधि कविताएं: राजेश जोशी, कविता की संश्लेषी परम्परा, सम्पादक-सुधीर रंजन सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ. 16
9. प्रतिनिधि कविताएं : राजेश जोशी, (मारे जाएंगे) सम्पादक-सुधीर रंजन सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ. 79-80
10. आवर्त, सयुक्तांक-7-8 सितम्बर, 2000, पृ. 79
11. प्रतिनिधि कविताएं : राजेश जोशी, सम्पादक-सुधीर रंजन सिंह, फ्लैप कवर, राजकमल प्रकाशन।
12. प्रतिनिधि कविताएं : राजेश जोशी, (नेपथ्य में हंसी) सम्पादक-सुधीर रंजन सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ. 72

मंगरे पै कौवा

डॉ. रीता नामदेव

शोधसार

कौआ यानि कागा कबूतर, तोता और हंस पक्षियों की तुलना में लोकजीवन से जुड़ा अपनी मिट्टी की सुगंध लिये संदेशवाहक पक्षी है। ग्रामीण परिवार जहाँ स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होती थीं, जो चिट्ठी लिखकर तोता, कबूतर या हंस के गले में बांध कर अपना संदेश भेज सकें, ऐसे में यह कौआ इन निरक्षर स्त्रियों के मौखिक संदेश ले जाता था। विशिष्ट वर्ग की वे स्त्रियाँ जो थोड़ा बहुत पढ़ी-लिखी तो थीं किंतु पत्र लिखने की स्थिति में नहीं थीं वे भी इसी कौए के पास जा कर अपना मौखिक संदेश देती थीं जैसे मलिक मोहम्मद जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत्' की उपनायिका, रानी नागमति ने अपने पति, राजा रत्नसेन को भेजा था। प्रस्तुत शोध आलेख में बुंदेलखंडी भाषा के ऐसे अनोखे लोकगीत का विस्लेषण है जिसमें किसान नायक सुबह-सुबह अपने घर के मुंड़ेर पर बैठे कौए को काँव-काँव बोलते सुनता है। कौए के सुबह-सुबह मुड़ेर पर बोलने का शगुन विचारता है तो उसे लगता है कि उसकी पत्नी को मायके से लेने आने वाले हैं। कौए के बोलने से भी पत्नी नींद से नहीं जगती इस दृश्य पर नायक को आश्चर्य होता है क्योंकि पहले कौए को मुड़ेर पर बोलते सुन कर पत्नी तुरंत नींद से जग कर आँखें खोल देती थी और आंगन की ओर दौड़ आती थी। उसका मन प्रसन्नता से भर जाता था इस विश्वास से कौए के बोलने का शगुन है कि उसके मायके से परिजन लेने आने वाले हैं। आज जब नायिका को नींद से उठते नहीं देखा तो पत्नी को मायके से लेने आने का शगुन विचार कर प्रसन्तापूर्वक पत्नी को जगाता है और कौए के बोलने पर भी न उठने पर आश्चर्य प्रकट करता है। नायिका को अभी मायके से लेने आने वाले हैं इसका विश्वास नहीं होता तो पति विश्वास दिलाता है कि तुम्हारी भाभी के बच्चा होने वाला है इस लिये काम-काज के लिये तुम को लिबाने के लिये आने वाले हैं। तुम्हारे गाँव का नाई परसो मिला था जो कुछ ऐसी ही चर्चा कर रहा था। अपने खाने-पीने का प्रबंध करने को कहता है, भाभी के जल्दी-जल्दी बच्चे होने के कारण नायिका की भाभी की तुलना सबरतिया महुए से कर चुहल भी करता है। इस दाम्पत्य प्रेम के दृश्य मनोहर हैं, अपनी लुप्त होती संस्कृति की झाँकी के दृश्य देखने को मिलते हैं।

बीज शब्द

अपने घर-परिवार और पास-पड़ोस के घरों में स्त्रियों को अपना संदेशा कहते और मानों कौआ मायके का संदेशा लाया है यों प्रसन्न होते तो देखा फथा, यहाँ तक कि यह कहते भी सुना की कौआ मुंड़ेर पर कांव-कांव बोल रहा था मायके से लेने आने का इंतजार करती नायिका ने कहा,—कौए मेरे बप्पा यानि पिता या भईया लेने आ रहे हों तो उड़ जा! इतना कहते ही कौआ उड़ गया। मायके से लेने आने की प्रतिक्षा करती नायिका का अनुमान सत्य हो गया! वास्तव में कौआ मायके से आने वालों का संदेशा लेकर ही आया था!। लोकजीवन की स्त्रियों का कौए द्वारा संदेश प्राप्त करना और भेजना देखते हुए बड़ी हुई थी इस में मेरे लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, मगर बुंदेलखंड का एक ऐसा लोकगीत जिस में किसान नायक अपने मुंड़ेर पर बैठ कर कौए को बोलते सुनता है तो अपनी पत्नी को जगाने लगता है। पति को आश्चर्य होता है कि उसकी पत्नी कौए की आवाज सुनकर क्यों नहीं उठी! पति

स्वयं ही कौए के बोलने का शगुन विचारता है कि पत्नी के मायके से लेने वाले लेबउवा आने वाले हैं। इस गीत के दाम्पत्य सौंदर्य और सांस्तिक झाँकी ने मुझे इस बुंदेलखंडी लोकगीत पर आलेख लिखने को प्रेरित किया क्योंकि आज प्रेम का जिस तरह बाजारीकरण हो रहा है, पारिवारिक सहयोग की भावनाएं लुप्त हो रही हैं, ऐसे में यह लोकगीत महत्वपूर्ण हो जाता है।

मूल आलेख

संचार क्रांति से पूर्व कौआ मायके से दूर बैठी प्रत्येक बेटी का संदेशवाहक था। घर की मुंड़ेर पर बैठ कर कौआ, काँव-काँव बोलता था तो मायके से दूर ससुराल में बैठी बेटी को लगता था कि उसके मायके से लेने के लिये आने का संदेशा है, यदि कौआ मुड़ेर पर चुपचाप बैठा हो तो वे मायके के लिये संदेशा कह देती थीं। एक हरियाणवी नायिका कौए से कहती है, कौए उड़ जा यदि मेरा जिले सिंह भाई आ रहा हो। वह कौए को बताती है कि उसकी ननद गाड़ी न लाने के लिये ताने देती है वे सात बहने हैं भाई किस-किसको गाड़ी दे इसी प्रकार एक और हरियाणवी नायिका बेटा उत्पन्न होने पर पीलिया लाने का संदेशा मायके भेज रही है। इस हरियाणवी लोकगीत की विशेषता है कि कौआ संदेशा दोनों ओर से लाने-लेजाने का कार्य करता है। नायिका की मां और भाभी अपनी मजबूरियों के कारण पीलिया न भेज पाने की विवशता कह कर मना कर देती है। तब वह बहन से पीलिया लाने को कहती है। नायिका की बहन पीलिया लाना स्वीकार कर लेती है।

''हे उड़जा रे काग उड़ारी, मेरा आ रेया जिले सिंह भाई।
हे मेरी नणदी ने बोली मारी, के लाया मोटर लारी।"
''उड़ जा रे काले से काग, मेरी मां नैं जा कैं कह दिये।
तेरी बेटी के हुआ नंदलाल, तेरी बेटी माँगे पीड़िया।"

दोनों लोकगीत हरियाणवी भाषा के हैं। एक में दहेज का दानव बेटी की खुशियों को निगल रहा है तो दूसरे में समाज-निंदा के भय से लड़की स्वयं मायके संदेशा भेज कर पीलिया मांगती है। मां देने में असमर्थता बताती है तो फिर भाभी से माँगती है। भाभी के मना करने पर, बहन से पीलिया माँगती है। खर्चीली परंपराओं को निंदा के भय से निभाना सामाजिक बुराई है। जैसे कि हम देखते हैं कि बारी-बारी से मायके के सदस्यों से पीलिया मांगना यहाँ तक की बहन से भी माँगना जो स्वयं मायके से ससुराल जा चुकी है परंपरा के नाम पर आत्मसम्मान दांव पर लगाने जैसा महसूस होता है। लोकगीत मिट्टी से उपजे गीत हैं, ये अपनी मिट्टी की सांस्कृतिक धरोहर को संभाले रहते हैं इस लिये बहुत आवश्यक है कि हम विविध भाषाओं के लोकगीतों की तुलना करें और सड़ी-गली दुष्परंपराओं को संस्कृति से अलग कर दें। आइये बुंदेलखंडी भाषा में बुंदेल खंड के किसान के मुड़ेर पर कौआ के बोलने का संदेशा में किसान दाम्पत्य-प्रेम और बुंदेलखंडी संस्कृति की झाँकी देखें।

प्रस्तुत लोकगीत के गायक हैं, बुंदेलखंड के लोक-सम्राट स्वर्गीय देसराज पटेरिया, ये लोकगीत भारतीय संस्कृति और ग्रामीण परिवार की जीवन शैली की झाँकी प्रस्तुत करता है। यह गीत विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि कौए के बोलने के शगुन पर पति विश्वास कर स्वयं पत्नी को शुभ-सूचना देकर जगाता है। नायिका पूरे गीत में श्रोताओं के समक्ष कुछ नहीं बोलती मगर श्रोताओं को नायिका के सांकेतिक शब्दों और हाव-भाव तथा सांकेतिक चेष्ठाओं में बात करने का पूर्ण आभास होता रहता है। नायक अपनी प्रिया के प्रत्येक हाव-भाव एवं सांकेतिक चेष्ठाओं को समझता है और सभी के जवाब देता है। नायक अपनी आवश्यकताओं के विषय में बताता है, साथ ही चुहल व मजाक भी करता है। कउए का मुड़ेर पर अर्थात् घर के सबसे ऊँचे स्थान पर बोलने को किसी के आगमन की सूचना के शुभशगुन के रूप में माना जाता है। इसी मान्यता की परंपरा व बुंदेलखंड की संस्ति तथा दाम्पत्य जीवन की अनोखी झाँकी देखने को मिलती है।

पति, अपनी पत्नी को जगाते हुए कहता है, गोरी अर्थात् गोरे रंग वाली सुंदर प्रिया उठ जाओ।

शगुन की शुभसूचना देते हुए कऊआ घर की मुंड़ेर पर बोल गया है! ऐसा लगता है तुम्हारे मायके से तुम्हें लेने वाले आ रहे हैं अत: अब तुम शीघ्र उठ जाओ!

''उठो गोरी बोल गयो मंगरे पे कौआ,
लगत तोरे मायके से आ रऐ लुबउवा!"

मंगरे-मुंड़ेर घर का सबसे ऊँचा स्थान, लिबउवा-बुंदेलखंड में लड़की को लेने ससुराल से आएँ तो मायके में मायके से आएँ तो ससुराल में लुबउवा कहा जाता है। पति द्वारा पत्नी को कौए के बोलने का शगुन और मायके से आने वाले लुबुओं की शुभ सूचना देना, लोकगीत का मुखड़ा ही दाम्पत्य प्रेम की झाँकी उपस्थित कर देता है।

नायक पत्नी को मायके से लेने आने की संभावित सूचना

देकर पत्नी को जगाता है और आश्चर्य से प्रश्न करता है कि आज तुम कऊए की कांव-कांव सुनकर क्यों नहीं उठीं! लेकिन मैंने कऊए के मुंड़ेर पर बोलने का शगुन विचार कर देख लिया है। ऐसा लगता है तुम्हारे मायके से तुम को लेने वाले लबुआ आ रहे हैं! यह सगुण मुझे सच्चा प्रतीत होता है क्योंकि परसों यानी एक दिन पहले दूसरे गाँव का नाई कुछ ऐसी चर्चा तुम्हारे घर के विषय में कर रहा था इसलिये अब तुम उठ जाओ और मायके जाने की तैयारी करो!

''जगीं न तुम अबै लौं कांव-कांव सुनके!
शगुन को जे मतलब लगाओ हमने गुनके!
परों चर्चा-सी करत हतो अनगईयाँ नअउआ!''

कांव-कांव-कौए की बोली, अनगईयाँ-दूसरे गांव का, चर्चा-बताना, नअउआ-नाई जो संचार सुविधाओं के पहले संदेशा लेकर जाता था।

कौए का बोलना और मायके से लुबउवा आने की बात सुन कर भी, नायिका नहीं उठती। नायक को प्रश्नवाचक नजरों से देखती रहती है तब नायक बताता है, अनगइँयां नअउआ अर्थात् दूसरे गांव का नाई तुम्हारे मायके के विषय में परसो कुछ ऐसी बातों की चर्चा कर रहा था। नायक के दूसरे गांव का नाई कहने पर हमारे मन में कौतुहल जागता है, उसने तुम्हारे मायके का नअउआ क्यों नहीं कहा! ऐसा लगता है नायक अपनी पत्नी के हृदय में मायके के प्रति धीरे-धीरे उत्कंठा जगाना चाहता है या ठिठोली कर रहा है, इसीलिये अनगइँयां यानी दूसरे गांव शब्द का प्रयोग किया है या फिर शायद वह नाई पत्नी के मायके के पास के किसी दूसरे गांव का था, जिसे नायक के ससुराल की जानकारी थी पर उसे संदेश देना नहीं कहा जा सकता। यही कारण अधिक सार्थक लगता है क्योंकि नायक, नाई द्वारा संदेश की नहीं, चर्चा करने की बात कहता है। चर्चा को प्रमाणिक संदेश नहीं माना जा सकता इसी कारण नायक ने पहले अपनी पत्नी से यह बात नहीं बताई किंतु मुंड़ेर पर कऊआ के बोलने से जो चर्चा पत्नी के गांव या गाँव के पास वाले नाई से सुनी थी। उस पर अब नायक को विश्वास हो रहा है। ऐसे में कौए का बोलना अपनी प्रिया के लेने आने वालों का शगुन विश्वसनीय लग रहा है।

ग्रामीण किसान नायक, हैरान होकर आश्चर्य से कहता है कउवे की कांव-कांव सुनकर तुम अभी तक नहीं उठीं! नायक के आश्चर्य का कारण यह नहीं है कि उसकी पत्नी आज अधिक देर तक क्यों सो रही है। नायक को सबसे अधिक आश्चर्य इस बात का है कि कऊए को बोलते सुनकर पहले तो नायिका कऊए को प्रिय वचन बोलने, आशीर्वाद देने, उल्लास से भरकर कौए की ओर दौड़ पड़ती थी! मायके से लेने आने वालों की संभावना से वह प्रसन्न होकर जाने की तैयारी की योजना बनाने लगती थी। आज कैसे कऊए की आवाज सुनकर जगी नहीं! आपने अनेक लोकगीतों यहाँ तक फिल्मी गीतों में भी सुना होगा! मैंने तो प्रत्यक्ष भी सुना है। ससुराल में मायके से लेने आने वालों का इंतजार करती लड़कियां जब मुंड़ेर पर कौआ को बोलते देखती थीं तो खुश होकर कौए से कहती थीं, (अगर मेरे भईया या पिता मुझे लेने आ रहे हैं तो, उड़ जा रे कौआ! मैं तेरी दूधन-दही से चोंच मढ़ा दूंगी।) तो कोई धनवान नायिका (सोने से चोंच मढ़ाने) की बात भी कहती है। पंजाबी नायिका, कौए के मुंह में खांड यानी शक्कर खिलाने की बात कहती है-

''उड़ जा काले कौवा, तेरे मुंह बिच खंड पाँवाँ।
ले जा तू संदेशा मेरा, मैं सद के जाँवाँ।''

नायिका प्रश्नवाचक दृष्टि से पति को देखती है क्योंकि पहले लड़कियां किसी विशेष अवसर पर ही मायके जाती थीं। नायिका को अभी मायके में कोई शुभ अवसर की संभावना नहीं लगती है इसीलिये वह कौए के बोलने से प्रसन्न नहीं होती और न ही मायके से लेने आने वाली बात पति से सुनकर विश्वास करती है। किंतु मायके की ओर से आने वाले नाई के साथ पति की कोई चर्चा हुई है इसलिये संभव है जाना ही हो यह विचार कर, नायका पूछती है, तुम्हारे लिये खाने में क्या बनाकर रख दूं! नायक पत्नी से दोपहर के अपने रुचिकर भोजन के विषय में बताता है। बिर्रा की दस रोटी पनपतु बनाकर रख दो। बिर्रा गेहूँ में एक-चौथाई चना मिलाकर पिसाए गए आंटे को कहते हैं। गढ़ा-सा छाँछ थोड़ा-सा अछिया कर रख दो। अछियाना काफी समय तक छाछ बिना हिलाए-डुलाए रखी रहे तो उसका गाढ़ा पदार्थ और पानी दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। छाँछ रखे हुए बर्तन को सावधानी से धीरे-धीरे टेढ़ा करके पानी-पानी अलग कर लेने की प्रक्रिया को अछियाना कहते हैं। ठाकुरों के डेरा यानी उस खेत से जहाँ घर भी बने है कनकौआ का साग तोड़ कर बना दो।कनकअउआ एक प्रकार का साग होता है।

''बिर्रा की दस रोटी पनफतू बनाके,
गाढ़ो सो मठा तनक धर देओ अछिया के।
ठाकरन के डेरा से तोड़ लो कनकौवा।''

किसान परिवार के खानपान का सजीव चित्रण इस लोकगीत में देखने को मिलता है। नायक ने रोटियाँ बनाने, मट्ठा का गाढ़ा भाग अछा कर रखने को कहा है लेकिन कनकउवा के साग को कहाँ से तोड़ ले बताया है। बनाने की बात नहीं कही क्योंकि उसे मालूम है कि पत्नी समझ जाएगी कि रोटियों के साथ साग बनाना है। मट्ठा रोटियों के विषय में बताना आवश्यक था ताकि मट्ठा के विशेष भाग को ही रखा जाए और रोटियाँ पसंद की बनें साथ ही उतनी मात्रा में बनें जितनी आवश्यकता है। मेहनत करने वाले किसानों के लिये बिर्रा का आँटा पाचनतंत्र को मजबूत बनाता और ताकत देता है। बिर्रा के आँटा से बनी रोटियां बहुत सोंधी होती हैं जो खाने मे रुचिकर लगती हैं। पनफतु हाथ में पानी लगा कर बनाई गई मोटी रोटियों को पनफतु कहते हैं। बिर्रा के आँटे की बेली रोटियों की तुलना में पनफतु रोटी अधिक स्वादिष्ट लगती है। मोटी पनफतु दस रोटियाँ सुनकर पाठक चौंकें नहीं! जब हल-बैल से खेती की जाती थी या दिन भर कोई शारीरिक मेहनत करे तो बहुत भूख लगती है इतनी रोटियां हमारे किसान और मझदूर खाते रहे हैं। जिन किसानों के घर में दूध नहीं होता या बहुत कम होता है, ऐसे किसानों और मजदूरों के घर में मट्ठा यानी छांछ बड़ी रुचि से भोजन में शामिल होता है। मट्ठा गरीबों और आम किसानों की थाली में उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अमीर वर्ग की थाली में दही और गिलास में दूध का महत्व है।

अनेक प्रकार के साग जो विभिन्न ऋतुओं में पाए जाते हैं, पहले आम वर्ग को नि:शुल्क ही प्राप्त हो जाते थे। जैसे लेसुआ, कनकौआ, चेंच, चकौंड़ा, चौरइया, नारीभाजी, सकौलीभाजी, मलमला जिसे कुछ लोग कुलफा और नुनियां या नोनियां भी कहते हैं। चने, मेथी, बथुवा और सरसो के साग के विषय में तो लगभग सभी जानते हैं और विशिष्ट वर्ग में भी इन सागों का प्रयोग किया जाता है। ये साग छोटे किसान और मजदूर वर्ग के भोजन में विशेष स्थान रखते हैं। जो अब लुप्त हो रहे हैं! दालें और सब्जियां न खरीद पाने वाले आम वर्ग इन सागों को अपने भोजन में नि:शुल्क ही बड़े किसानों के खेतों व पशुचरागाहों आदि से प्राप्त कर लेते थे।

नायिका मायके से आने वाले सदस्यों का इंतजार नहीं करती पहले ही पति की रुचि का भोजन बनाने की बात पूछ लेती है। शायद मायका पास के ही किसी गांव में है! मायका यदि पास के ही किसी गाँव में होता था तो, मायके से आने वाले परिजन उसी दिन अपनी बेटी को लेकर चले जाते थे क्योंकि बेटी के घर में भोजन-पानी न लेने की परंपरा थी इसलिये पास के गांव वाले अपनी बेटी को उसी दिन लेकर चले जाते थे, जिस दिन लेने आते थे। हालाँकि बेटी के घर का भोजन न करने की परंपरा सभी निभाते थे पास के हों या दूर के जो उचित नहीं थी।

नायिका की आँखों में अभी भी प्रश्न और कौतुहल है कि आखिर अभी इतनी जल्दी मायके से लेने आने की वजह क्या हो सकती है क्योंकि नायक ने अभी तक यह नहीं बताया है कि नाई मायके के विष्य में क्या चर्चा कर रहा था! नायिका के आश्चर्य और कौतुहल भरे प्रश्नवाचक भावों को समझ कर, नायक बताता है, लगता है तुम्हारी भाभी के अभी यानी जल्दी ही बच्चा होने वाला है! वहाँ काम-काज करने वाला कोई नहीं है, इसी लिये तुमको लेने आने वाले हैं। नायक के जवाब पर नायिका आश्चर्य से सोचती है कि इतनी जल्दी भाभी के दूसरी संतान कैसे हो सकती है! कुछ समय पहले ही तो भाभी के संतान हुई थी! लगता है शायद डेढ़ ...दो साल पहले ही नायिका, अपने मायके भाभी के बच्चा होने के अवसर पर काम-काज के लिये गई थी! नायिका के आश्चर्य से भरे प्रश्नवाचक भावों को देखकर, नायक चुलबुला हो जाता है! ठिठोली करते हुए कहता है, तुम्हारी भाभी सबरतिया महुवा के समान टपकती है! यानी जैसे सबरतिया-महउवा सारी रात टपकता है उसी तरह तुम्हारी भाभी जल्दी-जल्दी संतान रूपी फल प्रदान कर रही है!

''लगत तोरी भौजी के अबहिं है होबंइयां!
काम-काज करबे का उते कोउ नइंयां।
तोरी भौजी टपकत जैसे सबरतिया महउआ।"

नायक के ससुराल की ओर से आने वाले नाई ने शायद गर्भावस्था में नायिका की भाभी को देखा था लेकिन बच्चा होने की समय अवधि के विषय में उसे कोई जानकारी नहीं थी इसी लिये नायक को भी पक्के तौर पर जानकारी नहीं है, वह संभावना व्यक्त करता है कि शायद तुम्हारी भाभी के अभी बच्चा होने वाला है। उतै यानी तुम्हारे मायके में कामकाज करने वाला कोई नहीं है इसी लिये तुम को लेने आ रहे होंगे तुमको जाना होगा। नायक ससुराल वालों के प्रति सहयोगात्मक व्यवहार रखता है खुशी-खुशी लेने आने की बात बता कर जाने की बात कहता है। महुआ से नायिका की भाभी की तुलना कर नायक का अपनी पत्नी से ठिठोली करने से जहाँ एक ओर दाम्पत्य जीवन में प्राण खेल जाते है, वहीं दूसरी ओर

इस दाम्पत्य सौंदर्य को देखकर दर्शकों, श्रोताओं व पाठकों के हृदय गुदगुदा जाते हैं।

सबरतिया महुवा सारी रात टपकता है। यह फल देखने में लगभग मुनक्के की तरह होता है। बहुत मीठा और रसीला भी होता है। कोई तीन-चार दशक पहले तक यह साधारण वर्ग का बहुत ही महत्वपूर्ण भोज्य-पदार्थ था। महुवे में दो प्रकार के फल लगते हैं एक जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है दूसरा लगभग आम की तरह होता है जिसे गुल्लु कहते हैं। इसका गूदा आम की तरह ही मीठा और स्वादिष्ट होता है। स्कूल से छुट्टी के बाद खेलते लड़कों का यह प्रिय फल है जिसे तोड़ कर खाने से मीठे फल का स्वाद लेने के साथ-साथ मनोरंजन व व्यायाम दोनों ही हो जाते थे। गुल्लु के बीजों से निकलने वाले तेल को गुली का तेल कहा जाता है। इस तेल का निर्धन परिवारों में खाना बनाने में प्रयोग किया जाता था। जो फल मुनक्के के समान होता है उसके साथ भुने चने या तिल मिलाकर ओखली मुसल से कूट कर गरीब तथा मध्यम वर्ग लड्डू बनाता था इसे बुंदेलखंड में (लाटा) कहा जाता है। इस फल को पानी में उबाल कर डुगरी या आटा मिला लप्सी बनाकर और सत्तू में मिलाकर खाया जाता था। महुआ गरीबों से लेकर मध्यम वर्ग का मेवा था। बड़े किसानों के पास भी महुवा काफी मात्रा में सुखा कर गेहूं के भूसे में सुरक्षित किया जाता है। बड़े किसानों द्वारा अपने यहां मजदूरी करने वालों को महनताने के रूप में दिया जाता था। उपहार के रूप में भी देते थे। लोग ज्यादातर महुए की शराब के विषय में जानते हैं। महुवे का प्रयोग चाहे जिस रूप में किया जाए, यह बहुत ही स्वास्थ्यवर्धक होता है। विशेष रूप से जोड़ों के दर्द में बहुत लाभकारी होता है। हड्डियों को मजबूत बनाता है। यह उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश और बिहार राज्यों में बहुतायत में पाया जाता था। अब इसकी संख्या नाममात्र के लिये ही मिलती है! चकबंदी के दौरान भारी संख्या में लोगों ने इनको कटवा दिया है!।

निष्कर्ष

अधिकतर लोकगीतों में, कौआ को देने वाले संदेशों में बेटियों के ससुराल में उनकी स्थिति, मायके जाने की व्याकुलता, सामाजिक परंपराओं में जकड़ी मायके पर बोझ डालने की बेबसी ही देखने को मिलती है। बुंदेलखंड के इस लोकगीत में दाम्पत्य प्रेम, ग्रामीण खान-पान, ग्रामीण संस्कृति की झाँकी देखने को मिलती, ऐसे गीत एक मानवीय समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार की नींव सुदृढ़ बनाते हैं जिससे समाज समृद्ध होता है। आवश्यकता है, विविध भाषाओं के लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए! सड़ी-गली समाज पर बोझ बन रही दुष्परंपराओं को समाप्त करें और जीवन दायनी मानवीय मूल्यों पर आधारित लुप्त होती परंपराओं को अपने जीवन में बनाए रखें।

सह प्राध्यापक
हिंदी विभाग
भगिनी निवेदिता कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. लगत तोरे मायके से आ रहे लुबौआ ऑडियो जुकबॉक्स mp3 । देशराज पटेरिया, more Kanhaiya Lok Sangeet
2. देशराज पटेरिया जी का पब्लिक में सबसे ज्यादा धूम मचने वाला लोकप्रिय गीत उठो गोरी बोल गयो मगरे पे कौवा - 7 minutes, 19 seconds - Go to channel - KCH Cinema Music - 1-7M
3. हे उड़ जा र काग उड़ारी मेरा आ रहा जिले सिंह भाई हे मेरी नन्द न बोली मारी ! हरयाणवी लोक गीत - 4 minutes, 8 seconds - Go to channel - हरयाणवी कल्चर अपना कल्चर - 64K views - 4 months ago - play video
4. उड़ जा रे काले से काग ORIGINAL | UDJA RE KALE SE KAAG & ISHA PANCHAL | HARYANVI FOLK SONG | SUPERTONE & 7 minutes, 15 seconds - Supertone Digital - 35M views - 5 years ago & play video
5. Gadar & Udja Kale Kawa (Victory) - Full Song Video | Sunny Deol - Ameesha Patel | Udit Narayan

हिंदी कथा साहित्य में बुद्ध का अभिग्रहण

प्रीति सागर

आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाता है। जिसे आधुनिक नवजागरण के नाम से अभिहित किया गया। हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। ठीक यही समय भारत में लुप्तप्राय बौद्ध धर्म के पुनर्जागरण का भी है। इसी समय जेम्स प्रिंसेप और अलेक्जेन्डर कनिंघम जैसे महान पुरातत्वविदों और मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध और गंभीर संस्कृत विद्वानों के प्रयास से बौद्ध धर्मस्थलों, स्मारकों और पालि एवं संस्कृत बौद्ध साहित्य आदि का पुनरुद्धार हुआ आगे चलकर एडविन अर्नाल्ड, शोपेनहावर व हर्मन हंसे जैसे दार्शनिक चिंतकों और साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के विषय-वस्तु के रूप में महात्मा बुद्ध और उनके दर्शन एवं शिक्षाओं को ग्रहण कर उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवदान की सराहना की। बौद्ध धर्म के इस पुनर्जागरण ने हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित किया। हिन्दी के बहुत से लेखक और विद्वान् महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व और सृजनशीलता से प्रभावित हुए रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, रांगेय राघव, मोहन राकेश जैसे हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकारों ने बौद्ध धर्म और साहित्य से प्रभावित होकर अपनी लेखनी चलायी। इस दौर में अनेक विधाओं में महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व और कृतित्व पर लेखन कार्य शुरू हुआ। उनमें उपन्यास एक सशक्त विधा थी। अनेक हिन्दी उपन्यासकारों ने महात्मा बुद्ध को आधार बनाकर उपन्यास लेखन का कार्य किया। उसमें से कुछ उपन्यासों को चयनित किया है जिनका विश्लेषण क्रमवार प्रस्तुत है।

'वैशाली की नगरवधू' (1948-49 ई.) आचार्य चतुरसेन शास्त्री का एक श्रेष्ठ बौद्धकालीन ऐतिहासिक उपन्यास है। यह दो भागों में क्रमशः 1948 और 1949 ई. में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में महावीर के अतिरिक्त सभी प्रमुख ऐतिहासिक पात्रों का चित्रण बौद्ध साहित्य के आधार पर हुआ है। उपन्यासकार ने इसमें बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का सविस्तार विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यदि इस उपन्यास के द्वारा हम ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान करना चाहें तो हमें निराश होना पड़ेगा, परन्तु इसके द्वारा हमें ऐतिहासिक रस की अद्‌भुत तृप्ति मिलती है। इसमें तत्कालीन लिच्छिवि संघ की राजधानी वैशाली की नगरवधू अम्बपाली को प्रधान चरित्र के रूप में अवतरित करते हुए उस युग के भोग-विलासपूर्ण सांस्कृतिक वातावरण को अंकित करने की चेष्टा की गयी है। जैसा कि आचार्य चतुरसेन ने भूमिका में स्वयं कहा है- ''इतना मूल्य चुकाकर निरंतर चालीस वर्षों की अर्जित अपनी सम्पूर्ण साहित्य सम्पदा को मैं आज प्रसन्नता से रद्द करता हूँ कि आज मैं अपनी यह पहली कृति विनयांजलि सहित आपको भेंट कर रहा हूँ।''[1]

इस रचना के अध्ययन के बाद यह कहा जा सकता है कि आचार्य जी ने इस भूमिका के साथ न्याय किया है। वैसे भी हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास कम लिखे गये हैं और इतिहास जब 2500 साल पहले का हो तो उसके लिए प्रामाणिक सन्दर्भ खोजना भी मुश्किल हो जाता है। इस लिहाज से यह कृति अपने आप में एक उपलब्धि कही जा सकती है। उपन्यास का कथानक शिशुनाग वंश के राजा बिम्बसार के समय मगध राज्य और वज्जि गणतन्त्र की राजधानी वैशाली के इर्द-गिर्द घूमता बीच-बीच में उस समय के अन्य महाजनपद जैसे

कौशाम्बी, श्रावस्ती, विदेह, अंग, कलिंग, गांधार आदि का भी उल्लेख होता रहता है। वैशाली की नगरवधू अम्बपाली को वज्जि गणतंत्र द्वारा जनपद कल्याणी घोषित कर दिया जाता है। वैशाली में उस समय यह कानून था कि गणतंत्र की जो सबसे सुन्दर बालिका होगी उस पर पूरे गणतंत्र का समान अधिकार होगा, वह किसी एक व्यक्ति की होकर नहीं रह सकती है। इस कानून को आम्रपाली ने धिक्कृत कानून कहा ''मैं वज्जीसंघ के धिक्कृत कानून को स्वीकार करती हूँ, मैं सहस्र बार इस शब्द को दुहराती हैं। वज्जीसंघ का यह धिक्कृत कानून वैशाली जनपद के यशस्वी गणतंत्र का कलंक है।''[2] कथानक भगवान बुद्ध और महावीर की ओर भी जाता है। मगध सम्राट बिम्बसार अम्बपाली पर आसक्त था इसीलिए उसने वैशाली पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए वैशाली पर आक्रमण किया। इस उपन्यास में उस समय के नये धार्मिक आन्दोलनों का जनमानस पर प्रभाव दिखाया गया है। यद्यपि उस समय बुद्ध और महावीर के विचारों को अत्यन्त प्रशंसा मिली थी और उन्हें उस समय अलग धर्म के रूप में नहीं देखा गया था और न ही इतना विरोध हुआ था जैसा कि आज के समय में एक धर्म में दूसरे धर्म के प्रति देखा जाता है। राजाओं के द्वारा तब इन नये धर्मों को संरक्षण भी मिला था जो कि बाद में चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्राट अशोक के समय में और ज्यादा बढ़ गया था जिससे बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ गयी थी। भगवान बुद्ध की विचारधारा को उस समय के समाज ने अपनाया था क्योंकि उन्होंने जो कहा था वह हर एक मनुष्य के लिए संभव था और उसके लिए महंगे अनुष्ठानों की आवश्यकता भी नहीं थी। आर्यों की धार्मिक प्रगति को भी लेखक ने दर्शाया है कि किस प्रकार उस समय के श्रोत्रिय ब्राह्मणों ने चौथे वेद अथर्ववेद की रचना की थी और उसमें जो नये नियम प्रतिपादित किये गये उनकी संकल्पना कैसे की गयी थी और उस पर वाद-विवाद से क्या निष्कर्ष निकला था। याज्ञवल्क्य जैसे विचारकों के नए विचारों से समाज में क्या हलचल हुई थी यह भी दिखाया गया है।

'यशोधरा जीत गयी' (1954 ई.) रांगेय राघव, सन् 1954 में लिखित एक जीवनचरितात्मक लघु उपन्यास है। कथाकाल की दृष्टि से यह डॉ. रांगेय राघव का दूसरा जीवन चरितात्मक उपन्यास है। इसके पूर्व उन्होंने 'देवकी का बेटा' लिखा था। संन्यासी सिद्धार्थ की मानसिक हलचल के मध्य जीवन के स्मरण से इस उपन्यास का कथानक शुरू होता है, जो प्रथमा, मध्यमा एवं उत्तरा इन तीन भागों में विभाजित कर दिया गया है। प्रथमा में सिद्धार्थ के प्रारम्भिक जीवन एवं तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन है। 'मध्यमा' में सिद्धार्थ की विलासिता के प्रति उदासीनता, पुत्र का जन्म गृह त्याग एवं गौतम की साधना-संबंधी घटनाओं का आकलन है। उत्तरा में यशोधरा का विद्रोह मुख्य रूप से अंकित है, जो इस उपन्यास का प्रमुख विषय है। उत्तरा में अधिक दार्शनिक विवेचन के कारण कथावस्तु की गति में शिथिलता आ गयी है। फिर भी लेखक की दृष्टि मुख्य कथा से कहीं भटकती नहीं है। कतिपय उपन्यासकार विवरण मोह में पड़कर मुख्य कथावस्तु से हट जाते हैं। इस उपन्यास की दार्शनिक नीरसता को कथावस्तु के आकर्षण ने संभाल लिया है। लेखक ने बड़ी ही कुशलता से बुद्ध और यशोधरा के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियों को अंकित किया है। लेखक भूमिका में स्वयं सम्बोधित करते हुए कहत हैं ''बुद्ध की निर्बलतायें उनके युग की निर्बलताएँ थीं, उनकी विजय मानव को विजय और कल्याण देने वाली शक्तियाँ थीं। मैंने इस पुस्तक में बुद्ध के महान जीवन का निरपेक्ष दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और ऐसे पात्रों का वर्णन करके निश्चय ही इतिहास और भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धावनत हुआ हूँ।''[3]

उपन्यासों में काल विशेष का सजीव चित्रण करने के अतिरिक्त लेखक का अपना भी उद्देश्य होता है, जो प्रायः सामयिक युग से प्रभावित होता है। वह किसी न किसी प्रकार से उपन्यास में अपनी जीवन दृष्टि का समावेश करता है जीवनचरितात्मक उपन्यासों में उपन्यासकार स्वतंत्रता से अपनी सामयिक प्रेरणा का उपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि उसे मुख्य पात्र की रक्षा करनी होती है। डॉ. रांगेय राघव ने तत्कालीन नारियों का चित्रण करते हुए नारी जागरण को विशेष महत्व दिया है। नारी स्वातंत्र्य की भावना में आधुनिक चेतना सबसे प्रबल है। यद्यपि लेखक ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखा है ''यशोधरा आधुनिक चिंतन की बात नहीं करती, परन्तु वह कहती है जो नारी तब भी कह सकती थी- बुद्ध चिन्तन के दोनों पक्षों को दिखाने के लिए मैंने जीवन को इस प्रकार प्रस्तुत किया है।''[4] डॉ. रांगेय राघव ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों को उभारने का अधिक प्रयास किया है। बुद्धकाल में सांस्कृतिक परिस्थिति अत्यन्त डावाडोल थी। अंधविश्वासों और अनेक देवी-देवताओं के कारण लोग सत्पथ से हटते जा रहे थे। सिद्धार्थ उन्हीं परिस्थितियों

की घुटन से भागकर ज्ञान की खोज करने लगे थे। इसमें वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का विशेष सांस्कृतिक योग है। सांस्कृतिक सुधारक होने के कारण आज गौतम बुद्ध को अवतार रूप में माना जाने लगा है। उपन्यास के पात्रों के संदर्भ में लेखक का मत है कि ''मैंने प्रस्तुत औपन्यासिक जीवनी में पात्रों में नये पात्र नहीं लिये ऐसे दास-दासियों के नाम मिल जाये तो बात नहीं, परन्तु बड़े पात्र सब ऐतिहासिक ही हैं।''[5] उपन्यास में पात्रों की भीड़ है- अनेक पात्र कुछ स्थलों पर एक ही बार मुख दिखाकर लुप्त हो गये हैं। किसी-किसी स्थल पर एक साथ इतने पात्रों का परिचय करा दिया गया है कि पाठकों को उनका स्मरण रख पाना कठिन हो जाता है। पात्रों के मेले में से केवल दो पात्र प्रमुखतम है जो पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ हुए हैं। वे हैं सिद्धार्थ और उनकी पत्नी यशोधरा ये व्यक्तित्व सम्पन्न पात्र हैं। अन्य पुरुष पात्र शुद्धोदन श्रेष्ठि कोठित, आर्य अमृतोदन, बिम्बसार छन्दक उपक आजीवक काल उदायी, राहुल आदि एवं नारी पात्रों में महारानी मंजरिका, किंजला, अनुला, मिता, सुजाता आदि प्रमुख हैं। इन पात्रों का चरित्र निश्चित है और ये स्थिर पात्र हैं और ये दोनों पात्र जुगुनू की भाँति कभी-कभी चमका करते हैं। किन्तु ये बहिर्मुखी हैं। इनके कथन और व्यवहार में अन्तर नहीं, इनका चरित्र क्रिया-प्रक्रिया में व्यक्त हैं। सिद्धार्थ इस उपन्यास के प्रमुख पुरुष पात्र हैं। इस उपन्यास में संवाद तत्व का समुचित समावेश हुआ है। दार्शनिक संवाद अधिकांशत: उत्तरा में है, जो कला की सरसता से सिंचित है। ये जीवन की कटु घटनाओं से उद्‌भूत है, अतएव ये तर्क-वितर्क लेखक के नहीं वरन् पात्रों के लगते हैं। उपन्यास की भाषा शैली की विशिष्टता संस्कृत बहुल - शब्दावली के प्रयोग में है।

बोधिवृक्ष की छाया में - आचार्य चतुरसेन बोधिवृक्ष की छाया में बैठकर शाक्य गौतम ने ज्ञान अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त किया था। परिणामस्वरूप उन्हें 'बुद्ध' नाम मिला। बुद्ध उनका साधनाकृत नाम था जिसे उन्होंने पुरुषार्थ के द्वारा स्वयं अर्जित किया था। इसके बाद से ही शाक्य गौतम भगवान बुद्ध या सम्यक संबुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'बुद्ध' इतिहास का बहुत बड़ा नाम है। इतिहास के अनुसार अब तक केवल एक पुरुष ने पूर्ण 'बुद्धत्व' को प्राप्त किया है और वह था 'शाक्य गौतम'।

इस उपन्यास में आचार्य जी ने कई कथाओं का संक्षिप्तीकरण प्रस्तुत किया है। राजा जीमूतकेतु और उनके पुत्र जीमूतवाहन, दार्शनिक काल, अम्बपाली, बुद्ध का उपदेश, बुद्ध-धर्म-प्रचार तथा कुमार की प्रव्रज्या, बुद्ध का निर्वाण, देवांगना, महावीर का जन्म जैन धर्म, चम्पा की राजकुमारी से दासी बनने की कथा, चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठाना, अशोक का राज्य विस्तार, अशोक का बौद्ध धर्म स्वीकार करना तथा राजधर्म आदि ऐतिहासिक कथा का सम्मिश्रण है। इस उपन्यास के आरम्भ में आचार्य जी ने राम-युधिष्ठिर काल के पहले के राजा जीमूतकेतु और उनके पुत्र जीमूतवाहन की कथा प्रस्तुत की है।

आचार्य जी ने इस उपन्यास में गौतमबुद्ध के जन्म तक के कार्य विभाजन को दर्शाया है ''महाभारत के बाद युधिष्ठिर के राज्यकाल से लगभग दो सौ वर्ष बाद 'आर्ष-काल' का आरम्भ होता है। इसकी समाप्ति से गौतम बुद्ध के जन्म तक सवा चार सौ साल का काल दार्शनिक काल कहलाता है।''[6] ईसा पूर्व छठी शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। इस समय तक वैदिक धर्म विकृत हो गया था। ऋषियों के स्थान पर ब्राह्मणों का वर्चस्व हो गया था। ब्राह्मण लालची और स्वाथी बन गये थे। जातिगत भेदभाव चरम सीमा पर पहुँच गया था। शूद्रों को समाज में सर्वथा नीच और घृणा का पात्र समझा जाता था। वे अपनी स्थिति से असंतुष्ट थे और परिवर्तन चाहते थे। समाज-सुधार के लिए किसी नये दृष्टिकोण वाले महापुरुष की आवश्यकता महसूस की जा रही थी जो मनुष्य की दासता का अंत करे ऐसा ही महापुरुष शाक्यवंश में गौतम बुद्ध उत्पन्न हुआ। इस उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि इसमें बुद्ध-कथा के साथ-साथ उस समय की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है।

भगवान बुद्ध की आत्मकथा (1956 ई.) परदेशी, नाम हिन्दी के पाठकों के लिए अपरिचित नहीं है, कहानीकार के रूप में इनकी प्रसिद्धि अधिक है। इनका पूरा नाम मन्नालाल शर्मा है। इन्होंने सन् 1956 ई. में भगवान बुद्ध की आत्मकथा नामक उपन्यास की रचना की। एक सौ पचास से अधिक पृष्ठों की यह पुस्तक यदि लेखक के शब्दों को उधार ले तो, ''शाक्य कुमार सिद्धार्थ की अपनी आत्म बीती है।''[7] इसमें सिद्धार्थ के बुद्ध बनने और बुद्धत्व प्राप्ति की सम्पूर्ण गाथा लेखक ने बुद्ध के मुख से सुनाने का प्रयास किया है। बुद्ध की यह जीवन कथा लेखक ने अपने अनोखे ढंग से कथा-रूप में प्रस्तुत की है, जो पाठक को भारतीय संस्कृति धर्म इतिहास और राजनीति, जीवन-दर्शन और जीवन की अगम्य अनुभूतियों

से एक साथ अवगत कराती है। पुस्तक के बारे में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए कहा- ''भगवान बुद्ध की आत्मकथा के छपे पृष्ठ मिले। आपने बहुत परिश्रम से इस कथा को लिखा है।... ''कथा दिलचस्प सिद्ध होगी इसमें सन्देह नहीं।''[8] इस पुस्तक के बारे में यशपाल लिखते हैं- ''भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व दर्शन और उनसे सम्बन्धित कल्पनाओं में भारतीय संस्कृति की जितनी निधि है, उतनी किसी दूसरे व्यक्तित्व में नहीं। चतुर शिल्पी परदेशी ने भगवान बुद्ध की आत्मकथा में भारतीय समाज की आधुनिक समस्याओं और अनुभूतियों को बुद्ध की नैतिकता की कसौटी पर कसकर समाज के सामने रख दिया है। बुद्ध की मानवीय नैतिक दृष्टि से हमारी समस्याओं का क्या विश्लेषण हो सकता है, यही परदेशी की कथावस्तु का मापदण्ड है... बुद्ध. जैसे प्रकाण्ड चरित्र को आत्मस्थ कर उनकी वाणी ग्रहण करने में परदेशी ने कम साहस और परिश्रम नहीं किया है।''[9] इस पुस्तक में बुद्ध के जन्म से बुद्धत्व प्राप्ति तक की सारी कथा वर्णित हैं।

'महाभिषग' (1992-93 ई.) भगवान सिंह का महाभिषग उपन्यास 2014 में सस्ता साहित्यमण्डल से प्रकाशित है। इसकी रचना प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के मेधावी विद्वान भगवान सिंह ने की है। यह गौतम बुद्ध के जीवन पर आधारित उपन्यास है न कि भगवान बुद्ध के बुद्ध को भगवान बनाने वाले उस महान उद्देश्य से ही विचलित हो गये थे जिसे लेकर बुद्ध ने अपना महान सामाजिक प्रयोग किया था और यह संदेश दिया था कि जाति या जन्म के कारण कोई किसी अन्य से श्रेष्ठ नहीं हैं और कोई भी व्यक्ति यदि संकल्प कर ले और जीवन-मरण का प्रश्न बनाकर इस बात पर जुट जाये तो वह भी बुद्ध हो सकता है। ''महाभीषण इस क्रांतिकारी द्रष्टा के ऊपर पड़े देववादी खोल को उतारकर उनके मानवीय चरित्र को ही सामने नहीं लाता, यह देववाद के महान गायक अश्वघोष को भी एक पात्र बनाकर सिर के बल खड़ा करने का और देववाद की सीमाओं को उजागर करने का प्रयत्न करता है। इतिहास की मार्मिक व्याख्या वर्तमान पर कितनी सार्थक टिप्पणी बन सकती है। इस दृष्टि से भी यह एक नया प्रयोग है।''[10]

'बुद्ध की ओर' (2007 ई.) रविन्द्र कुमार बुद्ध की ओर ग्रन्थ रविन्द्र कुमार द्वारा लिखी गयी एक फिल्म की पटकथा है। लेखक ने भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है- ''यह ग्रन्थ वास्तव में ऐसे ही प्राप्त सुअवसर का परिणाम है, जो मुझे एक मित्र ने एक वर्ष पूर्व मुम्बई में यह कहकर दिया कि वे गौतम बुद्ध के जीवन पर दो या ढाई घण्टे की एक फिल्म बनाना चाहता है, तथा मैं उसे पटकथा लिखकर दूँ। पटकथा लिखने का मुझे कोई अनुभव नहीं है, मैंने उस मित्र से स्पष्ट कह दिया था, लेकिन इस सम्बन्ध में उनके बारम्बार अनुरोध को मैं टाल नहीं सका, परिणामस्वरूप 'बुद्ध की ओर' शीर्षक से ग्रन्थ सामने आया।''[11] यह ज्ञान पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली से प्रकाशित लगभग 200 पृष्ठों का बुद्ध के जीवन पर आधारित एक रोचक ग्रन्थ है। इसकी भाषा अत्यन्त सहज एवं सरल है तथा पाठकों के लिए भी बोधगम्य है। 'अप्प दीपो भव' अपना दीपक स्वयं बनो। बुद्ध का आह्वान एक सामाजिक क्रान्ति थी ऐसी क्रान्ति, जिसने भारत के बाद विश्व के कई दूसरे भागों को अपनी चपेट में ले लिया, करोड़ों जन बुद्धमय हो गये। ढाई हजार साल से भी अधिक समय बीत गया जब बुद्ध ने क्रान्ति का बिगुल बजाया था, उस क्रान्तिकारी मार्ग पर चलकर केवल बुद्ध ने नहीं अपितु अनेक लोगों ने अपने जीवन को सार्थक बनाया था। वह मार्ग इतना सक्षम सिद्ध हुआ कि वह आज भी कारगर है और आने वाले समय में भी इसकी सार्थकता कम नहीं होगी।

तथागत (2008 ई.) : डॉ. बाबूराम त्रिपाठी द्वारा रचित उपन्यास वैराग्य में लोकमंगल की भावनाबुद्ध द्वारा स्थापित धर्म की प्रमुख विशेषता थी। बुद्धत्व प्राप्ति के लगभग पैंतालीस वर्षों तक उस महामानव ने अपनी अमृत वाणी से अज्ञान एवं अन्धकार में भटकते लोगों को एक नयी दृष्टि दी और अपने ज्ञान के आलोक से उनके जीवन-पथ को प्रशस्त किया। आज ढाई हजार साल बाद भी बुद्ध द्वारा स्थापित धर्म जनमानस के मार्ग को उजागर कर रहा है। डॉ. बाबूराम त्रिपाठी द्वारा लिखा गया उपन्यास 'तथागत' इसी मार्ग पर आगे बढ़ाया गया एक कदम है। इसका प्रकाशन अनुराग प्रकाशन चौक, वाराणसी द्वारा 2008 ई. में किया गया। उपन्यास के सम्बन्ध में विचार करते हुए प्रो. गेशे नवङ् समतेन ने कहा है- ''भगवान बुद्ध के महनीय व्यक्तित्व और उनके द्वारा प्रवेदित बौद्ध-धर्म की विशेषताओं की ओर जनमानस का ध्यान आकृष्ट करना 'तथागत' उपन्यास का अभिप्रेत है।''[12] यह उपन्यास पूर्वदीप्ति के माध्यम से आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। इसमें रचनाकार की प्रतिभा ने भगवान बुद्ध की काया में प्रवेश किया है। ऐसा करने में रचनाकार को काफी हद तक सफलता भी मिली है जैसा कि मनु शर्मा का कथन है। इस

उपन्यास में भगवान बुद्ध के जन्म से लेकर मृत्यु तक की सम्पूर्ण कथा को समेटने का प्रयास किया गया है। भगवान बुद्ध के महान व्यक्तित्व और उनकी शिक्षाओं को बुद्ध के जीवन में घटित घटनाओं के माध्यम से सामान्य जन तक पहुँचाना और उन्हें सत्कर्म की ओर प्रेरित करना ही इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य है।

'गौतम गाथा' (सन् 2012 ई.) शिवदास पाण्डेय द्वारा लिखा गया महाआख्यानात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है। यह प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली द्वारा सन् 2012 ई. में प्रकाशित हुआ। लगभग सवा तीन सौ पृष्ठों के इस उपन्यास में सिद्धार्थ के बुद्ध होने के बाद की ही गाथा नहीं, बुद्ध के उदबुद्ध होने, बुद्ध के उत्पन्न होने, बुद्ध के जन्म लेने तक तथा उसके पूर्व तक की भी कथा वर्णित है। लेखक ने इस बात को प्राक्कथन में स्वयं स्वीकार किया है। ''मुझे आवश्यक लगा- इस पूरी कथा की पुराकथा को भी वर्तमान और भविष्य से जोड़ देना ताकि एक महात्मा व्यक्तित्व का सम्पूर्ण चित्र सम्यक रूप से लीला पुरुषोत्तम नहीं था, मर्यादा पुरुषोत्तम भी नहीं था, किन्तु अनेक दृष्टियों से एक महान आत्मा था, एक महान व्यक्ति था, जिसे एक प्रज्ञावान कहकर पुकारा गया, पूजा गया और जिसने पता नहीं क्यों अपने इस ईश्वरत्व का कभी कोई विरोध करना आवश्यक अथवा उचित नहीं समझा।''[13] 'गौतम गाथा' एक साधारण गाथा नहीं है, एक महाख्यान है, एक महाकथा है और उसके लेखन के पीछे एक ही उद्देश्य है- कथा का आनन्द कम, मानव-धर्म की मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक तथा दार्शनिक-धार्मिक मीमांसा अधिक प्रत्यक्षतः आख्यान, परोक्षतः मानस की 'कल्पशुद्धि' करने वाला ग्रन्थ है।

यशोधरा की आत्मकथा (2018 ई.) बाबूराम त्रिपाठी 'यशोधरा की आत्मकथा' डॉ. बाबूराम त्रिपाठी द्वारा प्रणीत उपन्यास ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा सन् 2018 ई. में किया गया। कुल 28 भागों में विभक्त इस उपन्यास में यशोधरा के बचपन से लेकर सिद्धार्थ से विवाह, सिद्धार्थ का गृह त्याग, कपिलवस्तु का शोकाकुल होना, बुद्धत्व प्राप्ति के बाद सिद्धार्थ का कपिलवस्तु आना और नन्द एवं राहुल की प्रवज्या आदि का वर्णन है। त्रिपाठी जी ने जहाँ एक ओर तथागत उपन्यास में बुद्ध के माध्यम से पूर्वदीप्ति शैली में आत्मकथात्मक उपन्यास की रचना की वहीं दूसरी ओर 'यशोधरा की आत्मकथा' उपन्यास में भी पूर्वदीप्ति का सहारा लेकर यशोधरा के माध्यम से आत्मकथात्मक उपन्यास की रचना करने का प्रयास किया है। जहाँ विभिन्न उपन्यासों में बुद्ध के चरित्र को प्रधानता देते वहीं डॉ. त्रिपाठी द्वारा यह नया प्रयोग देखने को मिलता है। इससे पूर्व ऐसा प्रयोग द्विवेदी युगीन कृति मैथिलीशरण गुप्त के यहाँ यशोधरा नामक काव्य-ग्रन्थ में देखने को मिलता है। कथा साहित्य में यशोधरा के मुख से बुद्ध के चरित्र को प्रस्तुत करने का प्रयास डॉ. त्रिपाठी द्वारा किया गया प्रथम प्रयास है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हिन्दी कथा-साहित्य में वैशाली की नगरवधू, यशोधरा जीत गयी, भगवान बुद्ध की आत्मकथा, महाभिषग बुद्ध की ओर, तथागत, यशोधरा की आत्मकथा, गौतम गाथा आदि उपन्यासों के माध्यम से बुद्ध के जीवन चरित को प्रस्तुत करने का विभिन्न कथाकारों ने अपने-अपने ढंग से प्रयास किया है। और उसमें काफी हद तक सफलता भी पायी है। वैशाली की नगर वधू में आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अम्बपाली के चरित्र को आधार बनाया तो दूसरी ओर बोधिवृक्ष की छाया के माध्यम से बुद्ध के प्रभाव को अनेक सुप्रसिद्ध प्रसंगों द्वारा जीवन्त करने का प्रयास किया। यशोधरा जीत गयी उपन्यास में रांगेय राघव ने बुद्ध के समग्र जीवन को समेट लिया है। भगवान सिंह के उपन्यास महाभिषग की पूरी परिकल्पना ही नवीन है। इसमें अश्वघोष अपने महाकाव्य बुद्धचरित को अनेक पौराणीक कल्पनाओं से मुक्त करके अत्यन्त मानवीय रूप में प्रस्तुत किया है। शिवदास पाण्डेय की 'गौतम गाथा' में कथा के माध्यम से बुद्ध दर्शन के मौलिक तत्वों की खोज है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय,
(बोध गया) बिहार

सन्दर्भ सूची

1. चतुरसेन, आचार्य : वैशाली की नगरवधू, हिन्दी पाकेट बुक, नई दिल्ली नवीन संस्करण 2010, प्रवचन
2. वही।
3. राघव रांगेय यशोधरा जीत गयी, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली संस्करण 2013 भूमिका
4. वही, भूमिका।
5. वही, भूमिका।

6. चतुरसेन, आचार्य वैशाली की नगरवधू, हिन्दी पॉकेट बुक, नई दिल्ली, उपन्यास में वर्णित।
7. परदेशी भगवान बुद्ध की आत्मकथा, संस्कृति साहित्य, दिल्ली-110032 प्रथम संस्करण, 1993
8. वही
9. धर्मयुग, बम्बई, 1957
10. सिंह, भगवान महाभिषग, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014
11. कुमार, रविन्द्र बुद्ध की ओर, ज्ञान पब्लिशींग हाउस, नई दिल्ली-110002 आत्मकथ्य, पृ. 6.
12. डॉ. त्रिपाठी, बाबूराम तथागत, अनुराग प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 2008 उपन्यास के सम्बन्ध
13. पाण्डेय शिवदास गौतम गाथा, प्रकाशन संस्थान 4268 बी/ 3 अंसारी रोड, दरियाजंग, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2020, पृ. 17

सचिन बौरियाण

शासन और संचार का माध्यम : अशोककालीन अभिलेखों का भाषिक और लिपिगत विश्लेषण

शोध सारांश

मौर्य सम्राट अशोक (''अशोक'' अर्थात् ''बिना दु:ख के'') भारतीय इतिहास में ऐसे शासक के रूप में स्मरण किए जाते हैं, जिन्होंने नैतिक मूल्यों को राज्यशक्ति के साथ समन्वित करने का प्रयास किया। उनके अभिलेख केवल धार्मिक उपदेश नहीं, बल्कि शासन-प्रणाली और संचार की सुविचारित रणनीतियों के परिचायक हैं। सम्राट अशोक मौर्य साम्राज्य (322 ई.पू.-232 ई.पू.) के एक प्रमुख शासक हुए जिन्हें भारत के प्राचीन इतिहास में एक विशेष स्थान प्राप्त है, अशोक की प्रशासनिक प्रणाली, उनका समस्त जीव-जंतुओं एवं पर्यावरण के प्रति चिंतन, अहिंसा के प्रति झुकाव तथा धार्मिक दृष्टिकोण उनको इतिहास में हुए सभी शासकों में से विशिष्ट बनाता है। सम्राट अशोक से संबंधित समस्त जानकारी हमें प्राप्त उनके विभिन्न स्तंभ लेखों और अभिलेखों के माध्यम से मिलती है। भारतीय उपमहाद्वीप से लेकर अफगान क्षेत्रों तक फैले इन अभिलेखों में प्राकृत, यूनानी, और अरामिक जैसी भाषाओं और ब्राह्मी, खरोष्ठी व यूनानी जैसी लिपियों का प्रयोग दर्शाता है कि अशोक एक बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक प्रशासनिक दृष्टिकोण के पोषक थे। यह शोध-पत्र अभिलेखों में प्रयुक्त भाषाओं व लिपियों के आधार पर अशोक की संचार नीति का विश्लेषण करता है तथा यह समझने का प्रयास करता है कि भाषा और लिपि के चयन ने किस प्रकार धम्म के प्रचार और प्रशासनिक समन्वय में भूमिका निभाई। इसके अंतर्गत यह भी दर्शाया गया है कि अशोक के अभिलेख केवल धार्मिक संप्रेषण नहीं थे, बल्कि वे राज्य की सामाजिक-नैतिक अवधारणाओं के प्रसार का माध्यम भी बने। यह अध्ययन सिद्ध करता है कि भाषा और लिपि, अशोक के संदर्भ में, केवल संप्रेषण के उपकरण नहीं बल्कि शासन की रणनीतिक नींव थे।

प्रस्तावना

मौर्य सम्राट अशोक, जिन्होंने तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व (268 ई.पू. - 232 ई.पू.) के दौरान शासन किया, को भारतीय उपमहाद्वीप के सबसे दूरदर्शी राजाओं में से एक माना जाता है। उनका साम्राज्य अत्यंत विस्तृत था (चित्र 1), और उनके शिलालेखों में उन्हें 'देवनामपिय पियदस्सी,' अर्थात् 'देवताओं का प्रिय और दयालु व्यक्ति' के रूप में संदर्भित किया गया है (जॉन केय एवं विद्वानों की आम सहमति के अनुसार)। लगभग 260 ई.पू. में कलिंग के खिलाफ उनके अभियान के परिणामस्वरूप हुई व्यापक हिंसा ने उन्हें गहरा आघात पहुँचाया, जिसके चलते उन्होंने हिंसा को स्थायी रूप से त्याग दिया और भगवान बुद्ध के सिद्धांतों का पालन करते हुए स्वयं को शांति का दूत मानते हुए बौद्ध धर्म को वैश्विक स्तर पर फैलाने का प्रयास किया। अशोक के अभिलेख, जो भारत, नेपाल, पाकिस्तान और अफगानिस्तान में स्थित हैं, उनकी प्रशासनिक दृष्टि और संवाद की शैली को दर्शाते हैं। इन अभिलेखों में भाषा और लिपियों की विविधता केवल सांस्कृतिक भिन्नताओं का संकेत नहीं देती, बल्कि एक संगठित संचार नीति का परिचायक भी है। उदाहरण के लिए, भारत के उत्तर, मध्य और पूर्वी हिस्सों में ब्राह्मी लिपि में प्रा त भाषा का उपयोग होता है, जबकि उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में खरोष्ठी लिपि का चयन किया गया है। इसके अतिरिक्त, कंधार और लैग्मान जैसे क्षेत्रों में यूनानी और अरामिक लिपियों में भी अभिलेख पाए जाते हैं। अशोक के शिलालेखों और अभिलेखों में समस्त जीव-जगत

के प्रति सम्राट की दयालुता और वैश्विक शांति की अवधारणा को स्पष्ट रूप से उत्कीर्ण किया गया है, साथ ही हिंसा को त्यागने और आपसी भाईचारे को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया है।

अशोक का साम्राज्य, स्रोत : ए एल बाशम, द वंडर दैट इज इण्डिया, पृष्ठ 54 (चित्र 1)

साहित्य की समीक्षा

सम्राट अशोक के शासन और प्रशासनिक प्रथाओं से संबंधित अकादमिक समुदाय के भीतर आज तक दी गई छात्रवृत्ति सार्वजनिक डोमेन में व्यापक रूप से उपलब्ध है। इन विद्वानों के कार्यों की समीक्षा करने पर, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस तरह से मौर्य साम्राज्य के अशोकन युग के दौरान शाही फरमान प्रसारित किए गए थे, और विभिन्न भाषाओं में जनता को सूचित किया गया था, वह अशोक की परिष्कृत प्रशासनिक कार्यप्रणाली को दर्शाता है और उसके शासनकाल[1] के दौरान मौजूद भाषाई विविधता की पुष्टि करता है। इन अशोकन अभिलेखों का बहुभाषी चरित्र उसके साम्राज्य के क्षेत्रीय विस्तार[2] की स्पष्ट समझ प्रदान करता है। अशोक के शिलालेखों की जांच के माध्यम से, कोई भी भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर प्रारंभिक उन्नत लिखित सांस्कृतिक प्रथाओं के विकास की निरंतरता का निरीक्षण कर सकता है। इसके अलावा, अशोक की पहलों ने स्क्रिप्ट, भाषा और टाइमकीपिंग सिस्टम[3] के अनुप्रयोग को आगे बढ़ाया। यह स्पष्ट रूप से स्पष्ट है कि सम्राट अशोक द्वारा समर्थित दार्शनिक सिद्धांत महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से बहुत प्रभावित थे। अशोक ने औपचारिक रूप से बुद्ध के धम्म को राज्य सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया[4] और इसके प्रचार को सुविधाजनक बनाने के लिए धम्म महामात्य की स्थिति स्थापित की, जिससे बौद्ध धम्म को मौर्य साम्राज्य और उसके पड़ोसी क्षेत्रों की संपूर्णता में प्रचारित करने का प्रयास किया गया। अशोक ने उत्साहपूर्वक ''धम्म'' की नीति का समर्थन किया, जो उनके शासन और प्रशासनिक ढांचे के ताने-बाने में मूल रूप से बुनी गई थी, जो धम्म[5] से प्राप्त नैतिक मूल्यों और सिद्धांतों पर आधारित थी। अशोक के अभिलेखों के संकलन, संपादकीय कार्य और ऐतिहासिक जांच ने मौर्य शासन, धर्म और सांस्कृतिक प्रथाओं[6] की वैश्विक समझ में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अशोक के प्रशासन, धार्मिक पहुंच और सामाजिक-राजनीतिक परिवेश के भीतर शिलालेखों का गहन विश्लेषण अशोक को एक रणनीतिक विचारक और लोक कल्याण के लिए समर्पित शासक के रूप में चित्रित करता है।[7] अशोक के अभिलेखों में प्रचलित धार्मिक और दार्शनिक शब्दावली की जांच करके, धर्म/धम्म की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया, विशेष रूप से वैदिक और बौद्ध दृष्टिकोण[8] से। इन अभिलेखों के माध्यम से, अशोक के जीवन और शासन से संबंधित वास्तुशिल्प और पुरातात्विक साक्ष्य दोनों का पुनर्निर्माण किया गया है, जो उन्हें मानवतावादी दृष्टिकोण से एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[9] बहरहाल, रणनीतिक संचार के माध्यम के रूप में भाषाओं और लिपियों का विश्लेषण करने के लिए आगे की जांच की आवश्यकता है। इस शोध का उद्देश्य इन अभिलेखों में प्रयुक्त भाषाई और लिपिकीय पद्धतियों की व्यापक जांच के माध्यम

से अशोक की प्रशासनिक रणनीतियों को स्पष्ट करना है। (चित्र 2)

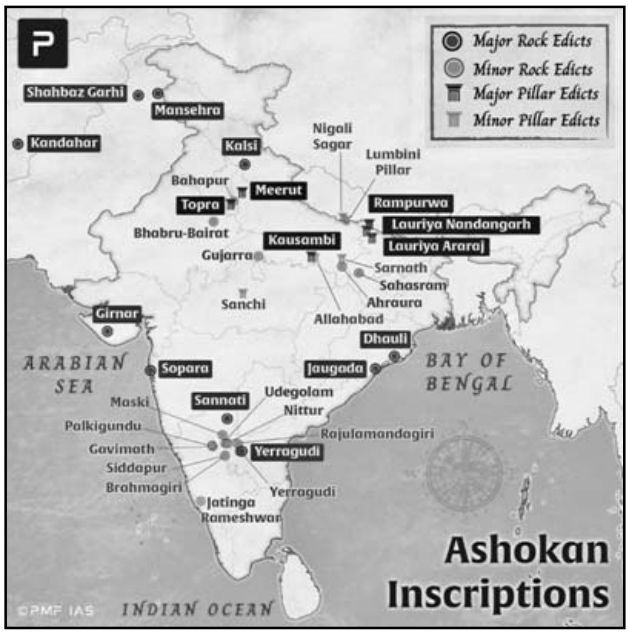

स्रोत : पी.एम. एफ., आई. ए. एस., प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत (चित्र 2)

शोध प्रश्न

क्या अशोक द्वारा अपनाई गई भाषायी और लिपिगत विविधता केवल भौगोलिक अनिवार्यता का परिणाम थी, या यह एक पूर्वनियोजित रणनीतिक नीति थी जिसके माध्यम से उन्होंने अपने बहुसांस्कृतिक साम्राज्य में नैतिक प्रशासन और धम्म का प्रचार किया?

शोध प्रविधि

1. **शोध प्रारूप :** इस अध्ययन में गुणात्मक अनुसंधान पद्धति को अपनाया गया है। विशेष रूप से अभिलेखीय साक्ष्य और भाषिक-लिपिगत विश्लेषण पर ध्यान केंद्रित किया गया है। तुलनात्मक दृष्टिकोण के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों के अभिलेखों की संचार रणनीतियों का मूल्यांकन किया गया है।
2. **डाटा स्रोत :** शोध में प्रमुख प्राथमिक स्रोत अशोक के स्तंभ, प्रमुख और गौण शिलालेख रहे हैं, विशेषकर वे जो कंधार, शाहबाजगढ़ी, मानसेहरा, दिल्ली-टोपरा, लुम्बिनी और गिरनार जैसे स्थलों से प्राप्त हुए हैं। साथ ही, द्वितीयक स्रोतों में पुरालेखीय शोध, विद्वानों के विश्लेषणात्मक लेख और ऐतिहासिक संदर्भ ग्रंथों को सम्मिलित किया गया है।
3. **डाटा संकलन प्रक्रिया**

- अभिलेखों के प्रमाणित संस्करण एकत्र किए गए।
- भाषाओं (प्राकृत, यूनानी, अरामिक) और लिपियों (ब्राह्मी, खरोष्ठी, यूनानी) के आधार पर उनका वर्गीकरण किया गया।
- क्षेत्रीय आधार पर अभिलेखों की तुलना की गई।
- संचार-संबंधी तत्वों की पहचान कर प्रशासनिक नीति से संबंधों का विश्लेषण किया गया।
- द्वितीयक साहित्य के माध्यम से विद्वानों के दृष्टिकोण की समीक्षा की गई।

4. **डाटा विश्लेषण विधि**

- विषयवस्तु विश्लेषण : भाषाओं व लिपियों के प्रयोग की प्रवृत्तियों को समझने के लिए।
- तुलनात्मक विश्लेषण : विभिन्न क्षेत्रों के संचार माध्यमों का तुलनात्मक अध्ययन।
- ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण : भाषिक प्रयोगों को प्रशासनिक नीति से जोड़ने का प्रयास।
- पाठ्य संरचना विश्लेषणरू भाषा की संरचना, शैली और संप्रेषण के स्वरूप की समीक्षा।

इस सुव्यवस्थित पद्धति के माध्यम से शोध का निष्कर्ष अधिक विश्वसनीय और पारदर्शी रूप में प्रस्तुत किया गया है।

परिणाम

1. **क्षेत्रीय भाषा और लिपियों का वितरण :** प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र में प्रयोग की गई भाषाएं और लिपियाँ स्थानीय संप्रेषण की आवश्यकताओं के अनुसार चुनी गईं। उदाहरणस्वरूप :

- मध्य और पूर्वी भारत : प्राकृत भाषा, ब्राह्मी लिपि
- उत्तर-पश्चिम भारत (मानसेहरा, शाहबाजगढ़ी) : प्राकृत भाषा, खरोष्ठी लिपि
- अफगानिस्तान (कंधार, लैग्मान) : यूनानी और अरामिक भाषाएं, यूनानी और अरामिक लिपियाँ

2. **लिपियों का भौगोलिक प्रसार**

- ब्राह्मी : भारत के पूर्वी, मध्य और दक्षिणी क्षेत्रों में
- खरोष्ठी : गांधार और आस-पास के इलाकों में

- यूनानी और अरामिक : अफगानिस्तान के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्रों में

3. संदेश की प्रकृति और लक्षित समुदाय

- स्तंभलेख : नैतिकता और धम्म संबंधित निर्देशय समग्र नागरिक जनसंख्या को लक्षित
- प्रमुख शिलालेख : प्रशासनिक नीतियाँ और धार्मिक सहिष्णुता पर बलय राज्यकर्मी और सामान्य जनता को केंद्रित
- गौण शिलालेख : व्यक्तिगत आचरण और धम्म पालन पर ध्यानय सीमांत क्षेत्र और भिक्षु वर्ग को संबोधित

4. भाषिक विशेषताएँ

- प्राकृत शैली सहज और संवादात्मक रही, जो नैतिक उपदेश को सरल रूप में प्रस्तुत करती है।
- यूनानी और अरामिक अभिलेखों में भी संक्षिप्त लेकिन प्रभावशाली संप्रेषण की प्रवृत्ति दिखाई देती है।
- शैली में स्पष्टता और साधारणता को वरीयता दी गई, जिससे सामान्यजन तक संदेश की सहज पहुँच सुनिश्चित हो सके।

5. लिपिगत विशेषताएँ

- ब्राह्मी लिपि में प्रारंभिक चरण की सरल रेखीयता दृष्टिगोचर होती है। (चित्र 4)
- खरोष्ठी दायें से बायें लिखी जाती थी, जबकि ब्राह्मी बायें से दायें। (चित्र 5)
- यूनानी लिपि में शास्त्रीय ग्रीक संरचना और धम्म का सटीक अनुवाद देखने को मिलता है। (चित्र 3)

विश्लेषण

उपरोक्त विश्लेषण यह दर्शाता है कि अशोक द्वारा अपनाई गई भाषायी और लिपिगत विविधता किसी आकस्मिकता का परिणाम नहीं, बल्कि एक पूर्वविचारित रणनीति थी। ब्राह्मी-प्राकृत का प्रयोग उन क्षेत्रों में किया गया जहाँ जनता इस शैली से परिचित थी, जबकि सीमावर्ती क्षेत्रों में स्थानीय भाषाओं और लिपियों का प्रयोग संवाद को अधिक प्रभावशाली बनाता है। यह बहुभाषिकता केवल संप्रेषण की आवश्यकता नहीं, बल्कि प्रशासनिक समावेशन की भी प्रतीक है।

इस अध्ययन के निष्कर्ष रोमिला थापर और रिचर्ड सैलोमन जैसे विद्वानों के दृष्टिकोणों को पुष्ट करते हैं। यह विश्लेषण स्थानीय भाषाओं के माध्यम से संचार को व्यवहारिक रूप से प्रभावी बनाने की नीति को रेखांकित करता है।

कंधार में राजा अशोक द्वारा लिखित द्विभाषी (यूनानी और अरामी) शिलालेख। (तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व)। काबुल संग्रहालय में संरक्षित। स्रोत : सार्वजनिक डोमेन (चित्र 3)

ब्राह्मी लिपि, स्रोत : सार्वजनिक डोमेन (चित्र 4)

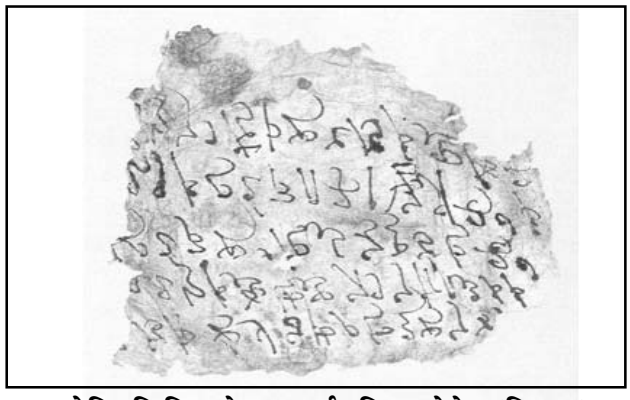

खरोष्ठि लिपि, स्रोत : सार्वजनिक डोमेन (चित्र 5)

निष्कर्ष

यह अध्ययन इस तथ्य को उजागर करता है कि अशोककालीन शासन व्यवस्था में संचार एक बहुआयामी रणनीति थी, जिसमें भाषाओं और लिपियों का चयन केवल व्यावहारिकता नहीं बल्कि प्रशासनिक दर्शन का भी अंग था। अशोक की संचार नीति, जिसमें सांस्कृतिक विविधताओं को ध्यान में रखकर संवाद माध्यमों का चयन हुआ, आज के बहुभाषिक राष्ट्रों के लिए भी अनुकरणीय है।

भविष्य के अनुसंधान की दिशा

- अशोक के समकालीन और उत्तरवर्ती शासकों (जैसे कनिष्क) की संचार नीति का तुलनात्मक अध्ययन।
- अभिलेखों में प्रयुक्त व्याकरणिक विशेषताओं का गहन भाषावैज्ञानिक विश्लेषण।

पी.एच.डी. शोधार्थी
तुलनात्मक धर्म एवं सभ्यता केंद्र
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय
राया-सुचानी, जिला : सांबा,
जम्मू एवं कश्मीर, 181143
ईमेल : sa24pcrc04@cujammu.ac.in

सन्दर्भ सूची

- Basham, A. L. The Wonder That Was Bharat. New Delhi: Rupa, 2004.
- Falk, Harry. Ashokan Sites and Artifacts: A Source-Book with Bibliography. Mainz am Rhein: Philpp Von Zabern, 2006.
- Gonda, Jan. A History of Indian Literature. Vol. 2, Part 1. Wiesbaden: Otto Harrassowitz, 1977.
- Hultzsch, E. "Corpus Inscriptionum Indicarum." New Delhi: Archaeological Survey of India, 1991.
- Lahiri, Nayanjot. Ashoka In Ancient India. New Delhi: Orient BlackSwan, 2017.
- Saloman, Richard. Indian Epigraphy: A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit, Prakrit and Other Indo Aryan Languages. Oxford University Press, 1997.
- Singh, Upinder. A History of Ancient and Early Medieval India. Delhi: Pearson, 2008.
- Sircar, D. C. Indian Epigraphy. Motilal Banarsidass, 1965.
- Thapar, Romila. Ashoka and the Decline of the Mauryas. Oxford University Press, 1997.
- Shastri, Hirananda. 1925. Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. 1: Inscriptions of Ashoka. Delhi: ASI.
- Mukherjee, B. N. 1998. Ashokan Inscriptions: A Perspective. Calcutta: Firma KLM.

अंबेडकर : नए भारत के निर्माता

सुमित कुमार सिंह

डॉ. भीमराव अम्बेडकर देश और समाज की एकता और उसे एक नयी दिशा प्रदान करने वाले एक महान हस्ताक्षर हैं। डॉ. साहब का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को मध्य प्रदेश की महू छावनी में एक दलित महार परिवार में हुआ। डॉ. साहब को सिर्फ एक दलित नेता के रूप में देखना कहीं से भी तर्कसंगत नहीं है। ''सभी तरह से उपेक्षित तथा वंचित लोगों के साथ-साथ मनुष्य मात्र हेतु बंधुता, क्षमता एवं स्वतंत्रता का आजीवन एवं अहर्निश शंखनाद करने वाले बाबा साहब सिर्फ दलितों के मसीहा नहीं हैं, बल्कि सभी तरह की असमानताओं, उपेक्षाओं से पीड़ित जन व महाकुम्भ के अंबेडकर हैं।''[1]

बाबा साहेब एक राष्ट्रीय नेता के रूप में, जन-आंदोलनों में तथा सरकार में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी भी महान व्यक्ति के जीवन और उद्देश्य की व्याख्या करना चुनौतीपूर्ण काम है। डॉ. अम्बेडकर भी इन्हीं महान व्यक्तियों में से एक हैं जिन्होंने वर्षों से चली आ रही जाति आधारित अन्याय और भेदभाव को मिटाकर समाज में समानता औए सांस्कृतिक एकता के जरिए लोकतांत्रिक गणराज्य को बनाने में व्यापक भूमिका निभाई। जिस आधुनिक भारत में हम आज अपना जीवनयापन कर रहे हैं, उस भारत को स्थापित करने में बाबा साहेब अम्बेडकर का विशेष योगदान है। अम्बेडकर सिर्फ पढ़ने-लिखने की नहीं अपितु समझने के भी महत्वपूर्ण विषय हैं।

डॉ. साहेब यह मानते थे कि भारतीय समाज जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर, भाषा के नाम पर अलग-अलग कारणों से कई वर्गों में विभाजित है जिसको सामाजिक रूप से जोड़ने का कार्य भारत का संविधान ही कर सकता है। डॉ. अंबेडकर को भी इस बात का ज्ञान था कि भारत की संस्कृति में अनेक तरह की विविधताओं का मिश्रण है और प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक समाज यदि बराबरी के साथ आगे बढ़ेगा, तो यह भारत की तरक्की का आधार स्तंभ बन सकता है जिसके लिए उन्होंने आजीवन प्रयास किया।

धर्म संबंधी अंबेडकर का ज्ञान काफी विस्तृत और व्यापक था। इसकी खास वजह यह थी कि अंबेडकर ने कम उम्र में हीं सभी धर्मों की मूल पुस्तकों का अध्ययन कर चुके थे। अंबेडकर को सभी धर्मों में शामिल होने का अवसर प्राप्त हुआ लेकिन उन्होंने सभी धर्मों के प्रस्ताव को ठुकराकर बौद्ध धर्म को अपनाया। डॉ. अंबेडकर ने 'बुद्ध और उनके धर्म का भविष्य' नामक निबंध (1950) में कहा था, ''सम्पूर्ण बाइबिल में, यीशु इस बात पर जोर देते हैं कि वह ईश्वर का पुत्र है और जो लोग ईश्वर के राज्य में प्रवेश करना कहते हैं वे असफल हो जायेंगे यदि वे उन्हें ईश्वर के पुत्र के रूप में नहीं पहचानते हैं। मोहम्मद एक कदम और आगे गये। यीशु की तरह उन्होंने दावा किया कि वह धरती पर ईश्वर का दूत हैं लेकिन आगे जोर देकर कहा कि वह आखिरी सन्देशवाहक थे। उस स्तर पर, उन्होंने घोषणा की कि जो लोग मोक्ष चाहते हैं उन्हें न केवल यह स्वीकार करना होगा कि वह ईश्वर के दूत थे, बल्कि यह भी स्वीकार करना चाहिए कि वह अंतिम दूत थे। वह कहते हैं कि इस्लाम विश्व बंधुत्व के विरुद्ध है। इस्लामी समाज में सामाजिक सुधार संभव नहीं है।''

बाबा साहेब के लिए मानवतावाद सर्वप्रथम है। वे सम्पूर्ण मनुष्यों के विचारों की स्वतंत्रता की बात करते हैं। सभी को

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक अधिकार समान रूप से उपलब्ध हो। अध्यात्मिक अनुशासन के साथ संसदीय प्रणाली व लोकतंत्र में आस्था हो। व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के प्रति उन्होंने सजग दृष्टि अपनाई। जिस तरह जीवन की प्रत्येक मूलभूत आवश्यकता को जिस सारगर्भिता के साथ भारतीय संविधान के मौलिक अधिकार अध्ययन में पिरोया गया है , वह विश्व के अन्य किसी देश के संविधान में शायद ही सुलभ है। अनुच्छेद 14 से लेकर 32 तक सभी अधिकार उनके मानवतावादी दृष्टिकोण को सार्थकता प्रदान करते हैं कि वे किसी विशेष वर्ग हेतु नहीं थे बल्कि समस्त समाज और सभी वर्गों के लिए एक समान थे।

महिला अधिकारों के लिए बाबा साहेब बहुत सख्त थे। वे यह मानते थे कि किसी समाज का मूल्यांकन इससे करना चाहिए कि उस समाज में महिलाओं की क्या स्थिति है? किसी भी राष्ट्र की उन्नति और विकास के लिए महिलाओं का समुचित विकास होना सर्वोपरि है। उनका कहना था कि यदि हमें आसमान छूने की तरफ देखते हैं तो हमें महिलाओं को शिक्षित और सशक्त करना होगा। नारी के संबंध में बाबा साहेब कहते हैं ''नारी जगत की प्रगति जिस अनुपात में हुई होगी, उसी मापदंड से मैं उस समाज को आंकता हूँ।''[2] डॉ. अंबेडकर भारतीय चिन्तक, समाज सुधारक एवं ओजस्वी विचारक के तौर पर पहले भारतीय हैं जिन्होंने समतावादी सामाजिक व्यवस्था जैसे स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के आदर्शों पर आधारित समाज व देश की कल्पना करते थे तथा ऐसी व्यवस्था के लिए सदा संघर्ष करते रहे। समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है और व्यक्ति से परिवार का, परिवार से समाज का, समाज से राष्ट्र का और राष्ट्र से विश्व का निर्माण होता है। समाजशास्त्र भी इसी परिभाषा पर काम करता है। व्यक्ति के सन्दर्भ में डॉ. साहब कहते हैं ''व्यक्ति ही वह केंद्र बिंदु है जिसके चारों ओर आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं वैधानिक गतिविधियाँ घूमती हैं, उसे पोषित एवं संशोधित करती है और आगे चलकर उसी से जीवन व गति प्राप्त करती है।''

बाबा साहेब अंबेडकर राष्ट्र के प्रति अपार श्रद्धा व्यक्त करते हुए गोलमेज सम्मेलनों में भाषण के दौरान कहते हैं कि ''हम सत्ता का हस्तांतरण चाहते हैं जिससे वास्तविक सामाजिक परिवर्तन आएगा।''

अत: निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि बाबा साहेब सभी वर्गों के लिए खासकर जो किसी भी रूप में पिछड़े हैं उनकी सहायता के लिए उम्र भर सक्रियता निभाते रहे। उन्होंने समाज को तमाम तरह की कुप्रथाओं से निकालकर एक सुन्दर स्वरूप में ढलने का अथक प्रयास किया जिसमें सफल भी रहे। बाबा साहब को सामाजिक कार्यों के लिए कभी भुलाया नहीं जा सकता आज भी राष्ट्र को बाबा साहब जैसे लोगों की जरूरत है जो समाज और राष्ट्र को विकसित करने में अपना विशेष योगदान दे सकें।

डॉ अंबेडकर का जीवन संघर्ष और सामाजिक सुधारों से भरा रहा। उन्होंने दलितों, महिलाओं और वंचित वर्गों के अधिकारों के लिए सदा संघर्ष किया। उन्होंने भारतीय समाज में समानता और न्याय की नींव रखी उसके साथ ही समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के सिद्धांतों को संविधान में शामिल किया। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की ताकि समाज में समानता का भाव स्थापित हो सके। उनकी भूमिका अस्पृश्यता मूलन जैसे आंदोलन में भी दिखाई देती है। डॉ. अंबेडकर का योगदान केवल संविधान तक सीमित नहीं था बल्कि उन्होंने भारत को एक न्यायसंगत और समतावादी समाज बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य की है। उनके विचार आज भी प्रासंगिक है और भारत के सामाजिक और राजनीतिक ढांचे को प्रभावित करते हैं।

डॉ. भीमराव अंबेडकर यह चाहते थे कि देश में जो भी समस्याएं हैं उसका वैज्ञानिक ढंग से निदान हो। उनका जीवन संपूर्ण मानव के लिए समर्पित था। वह किसी जाति के विरोधी नहीं थे बल्कि चाहते थे कि धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र से ऊपर उठकर भारत में राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो। वे चाहते थे की समाज में संकीर्ण मानसिकता व्याप्त न रहे और यह जाति व्यवस्था जैसी कल्पना समाप्त हो जाए, जिससे कि भारत में एक आदर्श समाज स्थापित हो सके। वे चाहते थे कि समाज में स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व भाव का वातावरण बना रहे और वर्ग का वर्ग द्वारा, धर्म का धर्म द्वारा, जाति का जाति द्वारा और राष्ट्र का राष्ट्र द्वारा किसी प्रकार का शोषण न हो।

डॉ. अंबेडकर का जीवन साधारण नहीं था। उनके जीवन पर भारत के अनेक महात्माओं का प्रभाव रहा है। इसी कारण वह एक युगद्रष्टा रहने में सफल हुए हैं। उनके विचारों में महात्माओं की वाणियों का झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। तभी उन्होंने कबीर की भांति समाज में छुआछूत तथा अनेक तरह के भेदभाव जो समाज में व्याप्त थे, उसका पुरजोर विरोध किया और समाज को ऐसी संकीर्ण मानसिकता से

निजात दिलाने में लड़ाई लड़ी। डॉ. बाबा साहब भीमराव अंबेडकर महात्मा बुद्ध, फुले तथा कबीर के विचारों को नई पीढ़ी के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं और वह चाहते हैं कि समाज तथा आने वाली नई पीढ़ियां ऐसे महान संतों से प्रभावित हो और उनके विचारों को अपने व्यवहारों में लाए। वे अपनी पुस्तकों में, अपने भाषणों में, हर जगह जिनसे वे प्रभावित हैं तथा जिन्होंने समाज को एक नई दिशा प्रदान की, उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं। एक जगह वे लिखते हैं कि ''शिक्षित बनो संगठित बनो और संघर्ष करो।''

इस प्रकार बाबा साहब समाज को एक नई दिशा तो प्रदान करते ही है आने वाली भावी पीढ़ियों को भी जागरूक करने का कार्य करते हैं। कहीं ना कहीं भारत की संस्कृति को, भारत की अखंडता को, भारत की एकता को स्थापित करने में बाबा साहब की विशेष भूमिका है।

नयी दिल्ली

Email : sumitpakwalia@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. प्रज्ञाचक्षु पासवान सुकन केवल दलितों के मसीहा नहीं हैं अंबेडकर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली सं. 2011
2. प्रताप गौरव, पुस्तक समीक्षा : अंबेडकर और स्त्री विमर्श, दिनांक 06 नवम्बर 2012
3. डॉ. मल, पूरण-अंबेडकर और दलितोद्धार आन्दोलन, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीव्यूटर्स जयपुर राजस्थान, पृष्ठ संख्या 96
4. डॉ. जाधव, नरेन्द्र प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ संख्या 24
5. डॉ. भरत सगरे, 'दलित साहित्य : अनुसंधान के आयाम' पृष्ठ संख्या 14

विरुद छिहतरी और महाराणा प्रताप

कमल सिंह

हिंदी साहित्य में महाराणा प्रताप पर विपुल साहित्य लिखा गया है। राणा प्रताप की मातृभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा, देशाभिमान, स्वतंत्र चेतना, अदम्य साहस और वीरता तथा विकट परिस्थितियों में धैर्यवान रहकर अपने प्रण के लिए तमाम प्रलोभनों को ठोकर मारकर अपने धर्म पर दृढ़ रहने के कारण साहित्य निर्माताओं के समक्ष उन्हें राष्ट्रीय चरित्र बना दिया। मातृभूमि पर सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले, हिन्दू धर्म पताका को मुगल साम्राज्य रूपी तूफान में भी अडिग रखने वाले एकमात्र राजपूत वंश के सबसे प्रतापी प्रताप को इतिहास के साथ साथ साहित्य की भाव भूमि पर भी गौरव प्राप्त हुआ है। प्रताप के समकालीन कवि दुरसा आढा ने उन पर 'विरुद छिहतरी' की रचना कर उनके महत्व को प्रतिपादित किया है। विरुद छिहतरी राणा प्रताप की वीरता, प्रशंसा एवं अकबर की तुलना में प्रताप की महता को स्पष्ट करने वाला छिहतर (76) सोरठों का मुक्तक काव्य है। सुबोध डिंगल का प्रयोग कवि ने किया है। महाराणा प्रताप के अकबर के समक्ष नहीं झुकने एवं अपनी आन की रक्षा का प्रण निभाने के कारण कवि दुरसा आढ़ा बेहद प्रभावित हुए हैं।

विरुद छिहतरी का महत्त्व इस दृष्टि से अधिक है कि यह रचना राणा प्रताप के समकालीन कवि द्वारा रचित होने के साथ अकबर के दरबार में सम्मान प्राप्त कवि की रचना होने का गौरव भी रखती है। मध्यकाल के ऐसे दो महान शासकों का तुलनात्मक वर्णन विरुद छिहतरी में मिलता है जिसमें एक की महानता उसके साम्राज्य के विस्तार और संसाधनों के साथ जुड़ी है तो दूसरे की उसी साम्राज्य विस्तार को अपनी आन और स्वतंत्रता की रक्षा निमित दी गयी चुनौती से।

यह रचना अपनी व्यंजना में इतनी उत्कृष्ट बन पड़ी है कि अकबर महान की महानता को दर्ज करते हुए भी राणा प्रताप के महत्व के समक्ष उसकी महता पाठक को क्षुद्र जान पड़ती है। अकबर की कूटनीति और कुचालों को कवि ने बेपर्दा कर दिया है। ताकत बल और सैन्य संसाधनों पर नैतिक बल की विजय के रूप में इसे देखें तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। दुरसा आढ़ा की रचना का महाराणा की छवि निर्माण में भी अभूतपूर्व योगदान है क्योंकि एक तो इसकी लोकप्रियता और दूसरा प्रताप सिंह पर लिखी गई कुछ चुनिन्दा शुरूआती रचनाओं में से यह एक है।

दुरसा आढ़ा ने शुरूआती सोरठों में अकबर की कटु आलोचना के साथ प्रताप सिंह के यश का वर्णन किया है। अकबर को अभिमान न करने की सलाह देते हुए उसकी नीति का उद्घाटन भी कवि करता है। हिन्दू राजाओं की अकबर के समक्ष समर्पण की नीति को कवि आड़े हाथों लेता है और एकमात्र प्रतापसिंह का महत्त्व प्रतिपादित करता चलता है। राजपूती परंपरा पर चलने वाला सिर्फ राणा प्रतापसिंह ही है। उसके हृदय में हमेशा चितौड़ की चिंता रहती है। महाराणा का सम्बन्ध कवि रघुकुल परम्परा से जोड़ता है। राजपूत राजाओं के अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्धों को भी कवि हेय दृष्टि से देखता है और इस दृष्टिकोण से उसे केवल प्रताप सिंह ही मूल्यवान लगता है। राणा सांगा की गौरवशाली परंपरा को भी कवि याद करता है। विरुद छिहतरी में राणा प्रताप क्षात्रधर्म की रक्षा करने वाला और हिन्दू धर्म का रक्षक बताया गया है। अकबर को घोर अन्धकार के रूप में वर्णित किया गया है। कवि लिखता है हल्दीघाटी के युद्ध में राणा प्रताप शत्रु सेना का

घमंड उतारने जाता है। अनेक सोरठों में राणा प्रताप की तुलना सिंह से की गई है जो विरोधी खेमे में अफरा तफरी मचा देता है। विरुद छिहतरी राणा प्रताप की वीरता, उनके यश और मूल्यों को प्रकट करने वाली रचना है। कवि दावा करता है यह वर्णन एक यथार्थ वर्णन है–

चारण बरण चितार, कारण लख महिमा करी
धारण कीजे धार, परम उदार प्रतापसी॥[1]

(भावार्थ –हे क्षत्रियों के परम उदार महाराणा प्रताप सिंह! क्षत्रियों का यथार्थ वर्णन करना चारणों का जातिधर्म है इस कारण को चितमन करके मैंने जो आपकी महिमा की है वह धारण करने योग्य है जिसे आप धारण कीजिये।)

दुरसा ने अकबर को पाप का अवतार बताया तो प्रताप को पुण्य का अवतार। विरुद छिहतरी का दूसरा सोरठा ही देखिए–

गढ़ ऊँचों गिरनार, नीचो आबू ही नहीं।
अकबर अघ अवतार, पुन अवतार प्रताप सी॥

अकबर को पाप का अवतार कहना अकबर की शासन नीति की कोई कम बड़ी आलोचना नहीं है। जिस सम्राट को आधुनिक काल के इतिहासकार अकबर महान कहते हैं उसी अकबर को उसी का कृपा पात्र कवि पाप का अवतार कह रहा है और इतना ही नहीं उसके सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी को उसी जगह पुण्य का अवतार कहकर उसकी महता का बखान करता है और देखिए–

अकबर कुटिल अनीत, और बिटल सिर आदरै
रघुकुल उत्तम रीत, पालै राण प्रतापसी॥[3]

(हिंदी भावार्थ –कुटिल अकबर की अनीति को अन्य बिगड़े हुए राजा लोग आदर सहित मस्तक पर चढ़ाते हैं, परन्तु रघुकुल की उत्तम रीत का पालन करने वाला केवल महाराणा प्रताप सिंह ही है।)

अकबर के प्रति यह कटु वचन उसकी राजपूत वैवाहिक सम्बन्धों की अनीति के कारण उपजे है क्योंकि एक विधर्मी द्वारा राजपूत मर्यादा को विश्रृंखलित करने के कृत्य को भारत की हिन्दू आबादी कभी भूल नहीं सकती। मेवाड़ का सिसोदिया कुल अपनी वीरता से जितना हिन्दू आवाम के हृदयों में स्थान बना सका है उससे कहीं अधिक मर्यादा और धर्म की रक्षा के कारण सम्मानित हुआ है। अन्य राजाओं के पतन की मानसिकता ने पूरे भारत वर्ष का ध्यान मेवाड़ की तरफ कर दिया। मेवाड़ के शासकों ने उन्हें इस हेतु कभी निराश नहीं किया और सिसोदिया कुल बन गया हिंदुआ सूरज। अन्य राजपूत राजा अकबर के अधीन तो हो गए लेकिन कवि उनको महत्व नहीं देता

अकबर पथर अनेक, के भूपत भेला किया।
हाथ न लागो हेक, पारस राण प्रतापसी॥[4]

(हिंदी भावार्थ –अकबर ने अन्य राजा रूपी कई पत्थर इकट्ठे कर लिए हैं परन्तु पारस रूपी एक महाराणा प्रताप सिंह हाथ नहीं लगा।)

कवि द्वारा अन्य राजाओं से प्रताप की इस तरह से तुलना करना दिखाता है कि महाराणा का कद कवि हृदय में कितना ऊँचा है। कवि को राणा प्रताप क्षात्रधर्म का रखवाला और उसके अभिमान को बनाए रखने वाला लगता है। अकबर रूपी अथाह समुद्र में सब हिन्दू और तुर्क डूब गए लेकिन मेवाड़ पति महाराणा प्रताप सिंह उस पर कमल पुष्प के समान तैर रहा है। अन्य राजाओं की स्वाधेनता रूपी धन को जिस तरह से लालची अकबर ने हड़प लिया वैसे ही मेवाड़ की स्वाधीनता रूपी धन भी अकबर लेना चाहता है–

गोहिल कुल धन गाढ़, लेवण अकबर लालची।
कोडी दे नंह काढ पणधर, राण प्रतापसी॥[5]

राणा प्रताप की विपति सहकर भी अपने धर्म और मर्यादा की रक्षा कर कीर्ति अर्जित करने के कारण कवि उनका धन्यवाद देता है–

बड़ी बिपत सहबीर, बड़ी क्रीत खाटी बसू।
धरम धुरुन्धर धीर, पोरस धीनो प्रतापसी॥[6]

अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं करने के अपने प्रण पर अटल रहने के चलते राणा प्रताप और उनके परिवार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा लेकिन अपने प्रण का पक्का राणा अपने मूल्यों से डिगा नहीं, उसे तो अपनी अपनी स्वतंत्रता और आन प्यारी थी। दुरसा आढा ने विरुद छिहतरी के बावनवें सोरठे में लिखा है–

भागै सागे भाम, अमृत लागे ऊमरा।
अकबर तल आराम, पेखै जहर प्रतापसी॥[7]

(भावार्थ – संकट काल में महाराणा प्रतापसिंह को अपनी पत्नी एवं परिवार के साथ जंगल तथा पहाड़ों में भटकना पड़ा और उस समय उनको ऊम्बरा वृक्ष पर लगने वाले फल अमृत के समान लगते थे। अकबर की अधीनता में जो सुख मिलता है, उसे तो स्वतंत्रता प्रिय राणा प्रताप जहर के समान मानते हैं।)

राणा प्रताप के जीवन की कठिनाइयों का वर्णन अन्य

रचयिताओं ने भी किया है जैसे पाथल और पीथल में कन्हैयालाल सेठिया ने लेकिन सब जगह राणा प्रताप का दृढ़ संकल्प कठिनाइयों को बौना साबित कर देता है।

कवि ने देसी राजाओं की बहुत ही कटु शब्दों के साथ आलोचना कर और प्रताप सिंह के गुणों का प्रकाशन कर उस महावीर उदारमन्ना महाराणा का सत्य रूप पाठकों के समक्ष रखा है-

जग जाडा जूझार, अकबर पग चांपे अधिप।
गौ राखण गुंजार, पिंडमें राण प्रतापसी॥[8]

(भावार्थ - जगत में जितने अच्छे वीर हैं वे सब अकबर के पैर दबाते हैं परन्तु पृथ्वी और गौ की रक्षा करने वाले महाराणा प्रतापसिंह अकबर के हृदय को चांपते हैं अर्थात् अकबर के बैरी होने के कारण उसे महाराणा का सदा ध्यान बना रहता है।)

इस प्रकार विरुद छिहतरी निस्संदेह राणा प्रताप के गौरव को प्रकाशित करने वाला काव्य है और दुरसा आढ़ा अकबर के कृपा पात्र होने के बावजूद अपनी मातृभूमि के प्रति कर्तव्य बोध से भरे एक महान रचयिता है। दुरसा आढा की विरुद छिहतरी में फैला राणा प्रताप का यश युगों-युगों तक भारतवर्ष को प्रेरित करता रहेगा। भारत की अनेक भाषाओं में फैले राणा प्रताप विषयक साहित्य में डिंगल रचित इस काव्य का महत्त्व निर्विवाद है।

शोधार्थी
भारतीय भाषा केंद्र
जेएनयू

सन्दर्भ सूची

1. संकलित - भूरसिंह शेखावत, महाराणा यशप्रकाश, श्री वेंकटेश, स्टीम प्रेस, पृष्ठ संख्या 117
2. वही, पृष्ठ 99
3. वही, पृष्ठ 101
4. वही, पृष्ठ 102
5. वही, पृष्ठ 108
6. वही, पृष्ठ 114
7. वही, पृष्ठ 112
8. वही, पृष्ठ 105

सुनील कुमार

आंचलिकता के प्रवर्तक रचनाकार नागार्जुन और रेणु

हिंदी साहित्य में आंचलिकता का प्रथम जिक्र नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' के संदर्भ में किया गया था। इसके बाद ही रेणुका उपन्यास 'मैला आँचल' आता है। उपन्यास की भूमिका में रेणु ने स्वयं ही इस उपन्यास के लिए 'आंचलिक' शब्द का प्रयोग किया है। वे लिखते हैं, ''यह है 'मैला आँचल', एक आंचलिक उपन्यास।''[1] इस प्रकार 'आंचलिकता' आलोचना के केंद्र में आ जाती है। इसके बाद आंचलिक उपन्यासों की खोज शुरू होती है। हालाँकि हिंदी से पहले भारत के अन्य भाषाओं में आंचलिक उपन्यास लेखन की परंपरा चल पड़ी थी। हिंदी में शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' को कुछ आलोचक आंचलिक उपन्यास का प्रस्थान बिंदु मानते हैं। लेकिन यह महज शुरुआती रचना है, जिसमें एक अंचल को समेटने की कोशिश की गई है। नागार्जुन अपने उपन्यास 'पारो', 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसरनाथ' के जरिए मिथिलांचल की विविधता, परंपरा, रीति-रिवाज, उसके अंतर्विरोध, संस्कृति, ऐतिहासिकता आदि को पकड़ने की कोशिश करते हैं। हालाँकि नागार्जुन अपने उपन्यासों को आंचलिक कहे जाने का खुद विरोध करते हैं। नागार्जुन के उलट यदि रेणु को देखा जाए तो वह खुद अपने उपन्यास को 'आंचलिक' कहते हैं। यह स्वाभाविक है कि रेणु का 'मैला आँचल' कई मायनों में 'बलचनमा' उपन्यास से ज्यादा बारीकी से अंचल के यथार्थ को सामने लाता है। यदि हम कहना चाहे तो कह सकते हैं कि 'मैला आंचल' 'बलचनमा' की अगली कड़ी है।

नागार्जुन पारो (1946), रतिनाथ की चाची (1948), बलचनमा (1952) और बाबा बटेसरनाथ के जरिए मिथिलांचल के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन को पकड़ने की कोशिश करते हैं। वे देख रहे थे कि आजादी के बाद उसका अंचल किस प्रकार प्रभावित हो रहा है? और उसमें क्या बुनियादी अंतर आ रहा है? शोषितों की क्या स्थिति है? किसान और मजदूर इस परिवर्तन को किस प्रकार देख रहे हैं? नागार्जुन के तरह रेणु भी इस परिवर्तन को महसूस कर रहे थे।

भारत के अन्य गाँव की तरह मिथिलांचल के गाँव कृषि आधारित है। जमीन कुछ ही लोगों के पास ही सीमित है। एक बड़ा वर्ग कृषि से संबंधित मजदूरी करता है। यानी कृषक मजदूर है। इसमें अधिकांश लोग बंधवा मजदूर हैं, जो भारत की विडंबना भी रही है। आर्थिक गतिविधि इस प्रकार चलायमान है कि सारा वर्ग एक दूसरे पर निर्भर है। आजादी के बाद जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के कारण मालिकों का अधिकतर समय कोर्ट, कचहरी और शहरों में बीतता है। मालिकों की अनुपस्थिति में नौकर ही असली जीवन जीते हैं। उनके बाग और बगीचों की देखभाल नौकर-चाकर ही करते हैं। जैसा कि राजेंद्र यादव लिखते हैं-

''कथाकार नागार्जुन की दूसरी शक्ति है मौसम, फसलों और प्रकृति की जानकारी। मछली और आम इस प्राकृतिक परिवेश का हिस्सा है। खेत-खलिहान, जमीन-आसमान सब नागार्जुन की नस-नस में जीवित है। ध्यान इस पर भी जाता है की प्रकृति के इस सारे वैभव को जीने देखने वाले नौकर-चाकर किसान मजदूर हैं-वह इन्हें जीते और भुगतते हैं। मालिक लोग प्राय: घरों, महफिलों, कोर्ट-कचहरियों में सुरक्षित हैं। दलितों वंचितों को प्रकृति मुक्त करती है हाँ वे मालिकों के लिए

इसका शोषण करने के लिए मजबूर हैं। बटेसरनाथ बरगद उनका बाबा, शाखा, आत्मीय और गवाह है।''[2]

नागार्जुन यह मानते हैं कि प्रकृति के आनंद सुख दुख सब किसान और मजदूर ही भोगते हैं। इसलिए जमीन, यानी संसाधनों पर भी उनका ही हक होना चाहिए। क्योंकि आर्थिक गतिविधि इस प्रकार संचालित हो रहा था कि बलचनमा को अपने पिता के हत्यारे के यहाँ ही काम करना पड़ता है। यानी इस व्यवस्था में विरोध का कोई गुंजाइश नहीं था। लेकिन जैसे ही परिस्थितियाँ बदलती हैं। यह संबंध बिखरने लगता है और बलचनमा के नेतृत्व में किसान आंदोलन लड़ा जाता है। जिसमें मजदूर और किसान की जीत होती है। इस जीत को नागार्जुन आजादी के बाद की परिस्थिति को दासता से मुक्ति के संदर्भ में देखते हैं।

नागार्जुन स्वभाव से ही घुमक्कड़ रहे हैं और विभिन्न जगहों की यात्रा करते रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन के साथ भी वे कई जगहों की यात्रा करते हैं तथा विभिन्न प्रदेश की समस्याओं से अवगत होते हैं। विभिन्न प्रदेश की विशेषताओं से भी प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार रेणु भी अपने गुरु सतीनाथ भादुड़ी के साथ कई जगहों की यात्रा करते हैं तथा उन जगहों से काफी प्रभावित होते हैं। यह प्रभाव इतना गहरा हो जाता है कि वे स्थानीय अस्मिता यानी मिथिलांचल की अस्मिता को रेखांकित करने का प्रयास करते हैं। इसका उदाहरण उनका उपन्यास लेखन है जैसा कि शंभुनाथ लिखते हैं–

''स्थानीयता का सवाल आने वाले दिनों में एक महत्वपूर्ण सवाल बनने जा रहा है। इन दिनों बहुतों में स्थानीयता के प्रति लगाव बढ़ा है। यह लगाव भविष्य में नए-नए आकार लेगा। लेकिन वह कौन-सी चीज है जो मिथिलांचल के नागार्जुन को एक बड़ा कवि लेखक बनाती है? दरअसल, मैथिली स्थानीयता के साथ-साथ उनके मानवीय मूल्यों और क्रांतिकारी चेतना से भी सघन संपर्क था।''[3]

यह चेतना लगातार भ्रमण करने तथा मार्क्सवादी विचारधारा के संपर्क में रहने के कारण नागार्जुन में आया है। जबकि रेणु मार्क्सवाद के बजाय समाजवाद से गहरे जुड़े थे और उनमें भी यह चेतना थी, जो नागार्जुन से अधिक गहरी और परिपक्व अवस्था में थी। लेकिन इस चेतना को बराबर बनाए रखने के लिए आवश्यक था कि वह जन सरोकार से जुड़े रहे। इस संदर्भ में वे (नागार्जुन) जहाँ रेणु को दर्दी किसान कहते हैं, वहीं अपने आप को कृषक पुत्र कहते हैं। इस संदर्भ में तारानंद वियोगी लिखते हैं -''वह (नागार्जुन) रेणु के गाँव आए हुए हैं, जहाँ अभी रोपनी का सीजन चल रहा है। इस आइडिया के जनक भी नागार्जुन ही रहे हो कि चलो आज धान रोपते हैं।...''[4] स्वाभाविक ही ऐसा एक किसान ही कर सकता है उनकी काव्य पंक्ति है जिसमें वे रेणु और खुद के बारे में लिखते हैं-

"श्वेत कुसुम झरते हैं तुम पर नील व्योम से / कृषक पुत्र मैं, तुम तो खुद दर्दी किसान॥''[5]

यहाँ वे बताते हैं कि रेणु दर्दी किसान है और वे खुद भी कृषक पुत्र है। कृषक ना रहने का दर्द उनका झलकता है। क्योंकि वह अपने आप को कृषक पुत्र कहते हैं शायद यही अंतर उनके आंचलिक उपन्यासों में स्पष्ट दिखता है। दोनों रचनाकारों का मत एक दूसरे से भिन्न भी अवश्य रहे हैं, पर वे एक दूसरे के आलोचक भी है। फिर भी दोनों के प्रीति का एक प्रमुख कारण उनका अंचल है। यही कारण है रेणु नागार्जुन को बड़े भैया कहकर संबोधित करते हैं।

आंचलिक कथाकार चाहे रेणु हो या नागार्जुन वे दोनो अपने अंचल को कभी नहीं छोड़ पाते हैं। जैसे ही उनका अपने अंचलों से दूरी बनता है, उनकी रचना कमजोर नजर आती है। रेणु ने यह स्वीकार भी किया है कि जैसे ही उनका संपर्क अपने अंचल के युवाओं से टूटता है, वैसे ही अंचल की समस्या समझ में नहीं आती है। नागार्जुन का संपर्क बराबर युवाओं से बना रहता है। वे तरुण और तरुणियों से हमेशा संवाद करते हैं। दरअसल, बदलाव की गंध उन्हें वहीं से मिलता है। एक तरफ नागार्जुन जहाँ वर्तमान समय संदर्भ को समेटने की कोशिश करते हैं , वहीं रेणु पूर्णियांचल की जैसाकि नागार्जुन ने रेणु की रचनाओं को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कथा कृतियों की शिल्प में जो परिवर्तन आए उसके साथ जोड़कर देखा है। जैसा कि वे लिखते हैं–

''ऐसा उत्कट मेधावी युवक यदि कोलकाता जैसे महानगर में पैदा होता और यदि वैसा सांस्कृतिक परिवेश तकनीकी उपलब्धियों का वही माहौल इस विलक्षण व्यक्ति को हासिल हुआ रहता तो अनूठी कथाकृतियों के रचयिता के होने के साथ-साथ सत्यजीत राय की तरह फिल्म निर्माण की दिशा में भी यह व्यक्ति कीर्तिमान स्थापित कर दिखाता। रेणु की कथाकृतियों में बीसियों पात्र भरे पड़े हैं।''[6]

यानी रेणु के उपन्यासों की यह विशेषता रही है कि आजादी के बाद की स्थितियाँ इस प्रकार प्रकट हुईं, जो शब्दों के जरिए चिंतन में नए-नए आभास प्रकट हुए प्रतीत होते हैं। शब्द और

शिल्प में नई छवियाँ उभरने लगी और रूप, रस और गंध सब मिलकर एक दृश्य का आभास दे रहा है। जैसा कि निर्मल वर्मा लिखते हैं–

''एक ऐसा व्यक्ति जो दुनिया के किसी चीज को त्याज्य और घृणास्पद नहीं मानता- हर जीवित तत्व में पवित्रता और सौंदर्य और चमत्कार खोज लेता है- इसलिए नहीं कि वह इस धरती पर उगने वाली कुरूपता, अन्याय, अंधेरे और आँसुओं को नहीं देखता, बल्कि वह इन सबको समेटने वाली अबाध प्राणवत्ता को पहचानता है य दलदल को कमल से अलग नहीं करता, दोनों के बीच रहस्यमय और अनिवार्य रिश्ते को पहचानता है। सौंदर्य का असली मतलब मनोहर चीजों का रसास्वादन नहीं, बल्कि गहरे अर्थ में चीजों का पारस्परिक सार्वभौमिक दैवी रिश्ते को पहचानना होता है। ....अपने लेखन में वे वही जिंदगी के नैतिक फैसलों, न्याय और अन्याय, सत्ता और स्वतंत्रता की संघर्ष में भी देते हैं।''[7]

इसी तरह का व्यक्तित्व नागार्जुन का भी है इसलिए नागार्जुन और रेणु अपने अंचल की यथार्थ तस्वीर उसकी क्रूरता और सुंदरता को एक ही साथ अपनी रचनाओं में उपजीव्य बनाते हैं। रेणु और नागार्जुन जिस उद्देश्य से गाँव को अपने रचना का विषय बनाते हैं उनका उद्देश्य है कि विकास में गाँव की क्या भूमिका हो सकती है? विकास के नाम पर क्या गाँव का वैशिष्ट्य समाप्त हो जाएगा? इसलिए नागार्जुन और रेणु ने अंचल विशेष की सभ्यता, संस्कृति, प्रकृति, इतिहास, लोक कथा, गीत कथा, सामाजिक मिथक आदि का वर्णन कर अंचल को सम्पूर्णता में समेटने की कोशिश की है। वे सुंदरता और कुरूपता को एक साथ रखकर अंचल के द्वंद्व को सामने लाते हैं। विकास के कार्यों के कारण हो रहे बदलाव में गंभीर पर्यावरणीय संकट को भी सामने लाने का प्रयास करते हैं। नागार्जुन के लिए पर्यावरण की समस्या कोई आम समस्या नहीं है बल्कि वह एक विशुद्ध राजनीतिक समस्या है। किसी भी क्षेत्र का वैशिष्ट्य तब ही बचा रह सकता है, जब उस परिवेश में पशु-पक्षी, जानवर, पेड़-पौधा और मनुष्य सब सम्मिलित हो। नागार्जुन का उपन्यास बाबा बटेसरनाथ इस पारिस्थितिकी तंत्र का अनिवार्य हिस्सा है, जो अंचल / गाँव के हर एक क्रियाकलापों में बुजुर्ग की तरह सलाह देता है। वहीं रेणु के उपन्यास में कोशिका महारानी पारिस्थितिकी तंत्र का एक अनिवार्य हिस्सा है।

नागार्जुन और रेणु ने अपने उपन्यास और कहानियों के जरिए पूरी अंचल की गतिविधियों को पकड़ने की कोशिश की है। रेणु के शब्दों में कहें तो –

''जहाँ इसमें फूल भी हैं, शूल भी है, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी सुंदरता भी, कुरूपता भी- मैं किसी से भी दामन बचा कर निकल नहीं पाया।''[8]

इस प्रकार देखा जाए तो किसी अंचल या क्षेत्र के जनजीवन का चित्र उसके रहन-सहन, रीति रिवाज, उसकी विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संरचना, आर्थिक और राजनीतिक जागरण के प्रश्न आदि का सम्यक वर्णन आंचलिकता है और इसके प्रवर्तक रचनाकार नागार्जुन और रेणु हैं।

शोधार्थी हिंदी विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

सन्दर्भ सूची

1. रेणु, फणीश्वर नाथ; 'मैला आँचल', नई दिल्ली (भारत) : राजकमल प्रकाशन, 2023, पृष्ठ सं-5
2. यादव, राजेन्द्र; 'सांस्कृतिक मोर्चेबंदी का इतिहास', नई दिल्ली (भारत) : वाणी प्रकाशन, 2003, पृष्ठ सं-35
3. शंभुनाथ; 'कवि की नई दुनिया', नई दिल्ली (भारत) : वाणी प्रकाशन, 2013, पृष्ठ सं-215
4. संवेद, (संपा.) किशन कालजयी य दिल्ली (भारत): नई किताब प्रकाशन, मार्च 2021, अंक-3, पृष्ठ सं- 451
5. वही, पृष्ठ सं-452
6. वही, पृष्ठ सं-455
7. रेणु, फणीश्वर नाथ; 'ऋणजलधनजल', नई दिल्ली (भारत) : राजकमल प्रकाशन, 2021, पृष्ठ सं-17
8. रेणु, फणीश्वर नाथ; 'मैला आँचल', नई दिल्ली (भारत) : राजकमल प्रकाशन, 2023, पृष्ठ सं-5

अपने अपने अजनबी : मृत्युबोध का वैयक्तिक परिदृश्य

डॉ. रंजीत कौर

आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य में अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी' नवीन कथ्य और शिल्प-विधान के साथ उनकी प्रयोगधर्मी प्रवृत्ति का परिचायक है। अपने उपन्यासों में अज्ञेय विशेष रूप से आत्मबोध, अंतर्मन की उलझनों, व्यक्ति स्वातंत्र्य और मृत्युबोध की अनिवार्यता जैसे प्रश्नों को व्यक्ति के अस्तित्व बोध के धरातल पर उठाते हैं। 'अपने अपने अजनबी' (1961) उपन्यास कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक विलक्षण प्रयोग कहा जा सकता है जिसमें कथा तत्त्व सूक्ष्म और अमूर्त होने के साथ यह अपनी परिणति मे दुखांत भी है। यहाँ मृत्यु से साक्षात्कार के अनुभव को उपन्यास की संवेदना बनाया गया है। मृत्यु बोध होने पर व्यक्ति अस्तित्व से जुड़े प्रश्नों से भी जूझता है। मृत्युबोध के सन्नाटे के साथ उपन्यास का आरंभ होता है और अंत भी मृत्यु के साथ होता है।

उपन्यास का समय द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का यूरोप है। यूरोप के लोगों ने महायुद्ध में मृत्यु की भयावहता और आकस्मिकता को निकट से देखा था। पृष्ठभूमि में युद्धोत्तरकालीन आधुनिक मानव की अनिश्चितता, अस्थिरता, अकेलापन, मृत्यु भय, आदि का चित्रण हुआ है। इस पृष्ठभूमि में ही यूरोप में व्यक्तिवाद और अस्तित्ववाद जैसे साहित्यिक आंदोलनों की शुरुआत हुई थी। इस रूप में अस्तित्ववाद आधुनिक युग के संकट की तथ्यपरक व्याख्या है।अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए किसी भी परिस्थिति से संघर्षशील रहने के लिए तैयार रहता है। व्यक्ति स्वातंर्त्य, व्यक्ति के पूर्ण अस्तित्व में विश्वास, मृत्युबोध, मृत्यु की आशंका से उत्पन्न भय, त्रास, निराशा आदि अस्तित्ववादी दर्शन के मुख्य तत्व बन गए हैं। 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास में अस्तित्ववादी शब्दावली वरण, स्वतंत्रता, विसंगत, मृत्यु बोध, मृत्यु का डर आदि का प्रयोग देखा जा सकता है। पृष्ठभूमि में केवल युद्धोत्तर यूरोप ही नहीं है, मुख्य स्त्री पात्रों सेल्मा और योके के माध्यम से युद्धोत्तर व्यक्ति के अंतर्मन की संवेदनाओं को भी अभिव्यक्त किया गया है। अज्ञेय ने इसे चेतना का अन्वेषण बताया है।

उपन्यास के संरचनात्मक ढाँचे में ऐतिहासिक समय की अवधारणा को उसके कथा-विकास के तीन खंडों के रूप में लक्षित किया जा सकता है। उपन्यास का पहला खंड सेल्मा और योके के वर्तमान जीवन पर आधारित है जिसमें कथा का अधिकांश योके की डायरी के रूप में प्रस्तुत हुआ है, द्वितीय खंड सेल्मा के अतीत की स्मृतियों तथा तृतीय खंड योके के भविष्य, उसकी मनोव्यथा और मृत्यु के वरण के रूप में उसकी परिणति का परिचय देता है।

घटनाक्रम यूरोप के जर्मनी का है, उपन्यास के पात्र और कथा मूलत: यूरोपीय परिवेश की है, फलत: पात्रों का अलगावबोध और गहरा होकर उभरता है। उपन्यास के मुख्य पात्र योके और सेल्मा हैं, अन्य पात्रों में पॉल, यान, फोटोग्राफर और जगन्नाथन भी उपन्यास के मुख्य स्त्री पात्रों की संवेदना को गहराई से उभारते हैं। योके स्वतंत्र विचारधारा की एक जापानी युवती है जो यूरोप में पहाड़ भ्रमण के समय बर्फ के तूफान के कारण वृद्ध सेल्मा के साथ उसके घर में कैद हो जाती है। मृत्यु की आशंका से भयभीत योके अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्षशील रहती है। कैंसर पीड़ित सेल्मा शांत भाव से मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए ईश्वर और मृत्यु को

एकरूप देखती है। उपन्यास में एक ओर मानव अस्तित्व से जुड़े सवाल हैं, दूसरी ओर यह भय, त्रास, मृत्युबोध आदि विषयों से जुड़ी भावात्मक जटिलताओं और आत्म चिंतन की मनोभूमि को भी प्रस्तुत करता है। दोनों पात्र अपने अस्तित्व बोध से परिचालित होते हैं।

उपन्यास की कथा मृत्युबोध से उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं पर आधारित है। उपन्यास में मृत्युबोध दो रूपों में सामने आता है सेल्मा के माध्यम से निकट आती मृत्यु का बोध और योके के माध्यम से मृत्यु का भय। ''मृत्यु भय में जीने को योके के, और उस भय से मुक्त होकर जीने को सेल्मा के, व्यक्तित्व संगठनों द्वारा व्यक्त किया गया है।''[1] योके मृत्यु-भय से आक्रांत और विक्षुब्ध है। वह अपना भय प्रदर्शित करना नहीं चाहती। बर्फ से घिरे काठघर को वह कब्र के समान समझती है और हर क्षण कब्रघर में नरक की कल्पना करती है। मृत्यु व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा को नियंत्रित करती है। सेल्मा जीवन के अंतिम दिनों में अकेले रहना चाहती है ''कि अंतिम दिनों में कोई मेरे पास न हो, लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी?''[2] सेल्मा के विचार में मृत्यु और ईश्वर एक ही है, ईश्वर को हम तब तक पहचान नहीं सकते जब तक मृत्यु में उसे पहचान न ले। इस उपन्यास में सेल्मा ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करने वाली, मनके की माला फेरने वाली भगवान को ओढ़ लेने की चाह रखने वाली आस्तिक स्त्री के रूप में चित्रित होती है। वह अपने साथ योके की उपस्थिति को भी ईश्वर की उपस्थिति के रूप में देखती है। सेल्मा कहती है- ''कभी जब यह बात सोचती हूं कि मैं मरने वाली हूं और तब मुझे ध्यान आता है कि तुम यहां उपस्थित हो-जब मैं अपने से अलग एक सजीव उपस्थिति के रूप में तुम्हारी बात सोचती हूं तब मुझे एकाएक निश्चित रूप से लगता है कि ईश्वर है- कि सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है, कोई भी उपस्थित ईश्वर है।''[3] इसीलिए वह एपिफानिया का त्यौहार मनाना चाहती है जो ईश्वर की पहचान का दिन होता है। मृत्यु के निकट पहुंच रही सेल्मा को ईश्वर की पहचान भी मृत्यु में ही होती है। वह योके से कहती है, ''शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें।... मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है।''[4] सेल्मा के इस विश्लेषण से योके आक्रोश से भर उठती है, ईश्वर और मृत्यु को एक ही रूप में देखना उसे स्वीकार्य नहीं। ईश्वर और मृत्यु दोनों को नकारती हुई वह निराश और असहाय स्थिति में रहती है और अंत में सर्वत्र मृत्यु गंध का अनुभव करती है। उसे लगता है सेल्मा उसके युवा जीवन का अपमान कर रही है, मनुष्य के अस्तित्व में विश्वास करने वाली योके जीवन के प्रति आशावादी है, उस अवस्था में वह ''मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मान सकती, नहीं मानना चाहती, मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खंडन है''[5] वह मृत्यु और ईश्वर के स्थान पर उपयुक्त जीवन स्थितियों को चुनना चाहती है, इसलिए उसे सेल्मा द्वारा निश्चित की गई जीवन-मृत्यु और ईश्वर की परिभाषाएं बेचैन कर देती हैं। सेल्मा के प्रति वह इतनी आक्रोश में भर जाती है कि एक बार जब वह सो रही होती है तो योके उसका गला दबाने की मुद्रा में भी आ जाती है। सेल्मा के अचानक जाग जाने और उसे गला दबाने के लिए आमंत्रित करने से योके ग्लानि और अपराध बोध से भर जाती है। सेल्मा उस सब के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानते हुए कहती है - ''मैंने ही तुम्हें ऐसे संकट में डाला कि तुम्हें अपने भीतर ही दो हो जाना पड़े। सचमुच ही मैं ही अपराधी हूं, और तुम्हें क्षमा करना होगा।''[6] इस प्रकार वह योके में अस्तित्व विघटन की स्थिति का अनुभव करती है।

उपन्यास में मृत्यु बोध की असम्पूर्णता को प्रमुखता से रेखांकित किया है। योके और सेल्मा के अनुभवों द्वारा यह दर्शाया गया है कि मनुष्य को मृत्यु का आभास ही हो सकता है, वह मृत्यु को पूर्ण होते हुए नहीं देख सकता। मृत्यु हो सकती है, इसकी अनुभूति संभव है परन्तु मृत्यु होना नहीं देखा जा सकता। यह मृत्यु की असम्पूर्णता की स्थिति है। काठघर में आती ''एक अन्तहीन, परिवर्तनहीन धुँधली रोशनी''[7] जो कभी पूर्ण अंधकार में परिवर्तित नहीं होती, उसे मृत्यु की असंपूर्णता के इस विशेष रूप से परिचय कराती है, जहां कुछ भी घटित या परिवर्तित नहीं होता। वह कहती है, ''हमेशा सुनती आई हूं कि कब्र में बड़ा अंधेरा होता है लेकिन यहां उसकी भी असंपूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते होते रह जाता है। होते होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है।''[8] कब्र में अँधेरे की ही भाँति काठघर में अँधेरा नहीं है पर इस धुँधली रोशनी को भी रोशनी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार रोशनी के द्वारा प्रतीकात्मक रूप से मृत्यु की असंपूर्णता को व्यक्त किया गया है।

उपन्यास के कथात्मक ढांचे में व्यक्तिवाद और अस्तित्ववाद के प्रभाव को लक्षित किया गया है। अस्तित्ववादी दर्शन के

जो तत्व उभरकर सामने आते हैं उनके अंतर्गत अस्तित्व बोध की आकांक्षा और अहम् भाव की प्रबलता व्यक्ति की स्वार्थ भावना को विकसित करती है।[9] मृत्यु से साक्षात्कार को विषय बनाकर मानव जीवन और नियति का मार्मिक विवेचन इस उपन्यास को एक नए प्रयोग की श्रेणी में रख देता है। उपन्यास में मृत्युबोध सेल्मा और योके दोनों को है किंतु सेल्मा मरती हुई भी जी रही है और योके जीवित रहकर भी मर रही है। योके को अपने नजदीक मृत्यु गंध का एहसास होता है, उसे लगता है वह गंध उसकी अपनी देह से आ रही है। कैंसरग्रस्त सेल्मा की मृत्यु और योके को कैद से मुक्ति एक साथ मिलती है किंतु उपन्यास के अंत में योके को जर्मन सैनिकों के अत्याचारों से बाध्य होकर वेश्या जीवन का अभिशाप झेलना पड़ता है, होना, ना होना के द्वंद्व को झेलते हुए विक्षिप्त स्थिति में एक दिन एक अच्छे व्यक्ति जगन्नाथन के समक्ष अपनी व्यथा सुनाते हुए मृत्यु का वरण करती है और इस प्रकार 'वरण की स्वतंत्रता' को स्थापित करती है। योके मरते समय जगन्नाथन से कहती है, ''मैंने चुन लिया। मैंने स्वतंत्रता को चुन लिया... मैं बहुत खुश हूँ। मैंने कभी कुछ नहीं चुना।''[10] मृत्यु गंध से त्रस्त, मृत्युबोध से आक्रांत योके अंत मे मृत्यु का ही वरण करती है। सेल्मा इसके विपरीत मृत्यु को ईश्वर के रूप में ही देखती है, वह मृत्यु भय से मुक्त मृत्यु की प्रतीक्षा करती है। इस स्थिति को द्वितीय महायुद्ध से फैली स्वार्थमयता के प्रभाव के रूप में देखा गया है – ''मृत्यु से परिचय के समय सेल्मा तथा योके की जो दशा है वह प्रतीक रूप में फ्रांस में अस्तित्ववाद के उदय और विकास की ही द्योतक कही जा सकती है। फ्रांस में द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत निवासियों में जो निपट संकीर्ण स्वार्थपरता आ गई थी वह टूटे पुल पर घिरी युवती सेल्मा में दृष्टव्य है। जर्मनों के अत्याचारों से फ्रांसीसी बुरी तरह घबरा उठे थे।अपनी पतित अवस्था तथा शत्रुओं के अत्याचार के फलस्वरुप फ्रांसीसियों में परिताप (रिमोर्स) का भाव जगा और उन्होंने निरीहतापूर्वक विद्यमान रहने की अपेक्षा 'होना' या 'न होना' में से अनेक नाजुक स्थितियों में 'न होना' वरण किया। उनका सहकार्य योके के अंत में भली भांति व्यक्त हुआ है।''[11]

मृत्यु से आतंकित योके ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देती है। यहाँ उसके विचार निरीश्वरवादी सार्त्र के ईश्वर संबंधी विचारों से साम्य रखते हैं। सेल्मा की मृत्यु के बाद योके ईश्वर के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करती है, ''वह सेल्मा को उठाकर ईश्वर के मुँह पर दे मारेगी–कहेगी कि लो अपनी सड़ी हुई, गँधाती हुई मृत्यु, और छोड़ दो मुझे मेरे अकेलेपन के साथ थुड़ी है ईश्वर पर जो उसे इतना अकेला करके भी अकेला नहीं छोड़ रहा, जो एक लाश की आँखों में छेद करके उनके भीतर से मुझे झांक रहा है, मुझपर जासूसी करने आया है–थुड़ी है।''[12]

सार्त्र ने सह–अस्तित्व की बाध्यता को नरक माना है, 'अपने–अपने अजनबी' में इस बाध्यता को भी संवेदना में समाविष्ट किया गया है। भयंकर बाढ़ में जब यान, सेल्मा और फोटोग्राफर टूटे हुए पुल पर फंस जाते हैं तो सेल्मा उन दोनों से तटस्थ रहते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करती है। फोटोग्राफर की दुकान जलने और उसका जल में कूद कर मरने का सेल्मा को कुछ दुख नहीं लगता। अपने साथियों को संकट में देख सेल्मा का दुकान के पर्दे खींच कर अंदर आ जाना बाहर के जीवन से स्वयं को भिन्न मानने का परिचायक है। योके को भी कब्रघर में सेल्मा के साथ जीना नरकतुल्य लगता है, वह हर पल सेल्मा की मृत्यु की कल्पना करती हुए सोचती है कब वह साझीदार हट जाएगा। अजनबीपन की प्रतीति सेल्मा के प्रति उसके मन में घृणा का भाव पैदा करती है। 'वृद्धा सेल्मा के विरुद्ध योके के मन में उसकी प्रसन्नता, उल्लास व सक्रियता से घृणा का भाव प्रबल होता जाता है वह अपने को जितना रोकती है, उतने ही हिंस्र रूप में यह घृणा प्रकट होती है। परिस्थितियों के दबाव से उत्पन्न व्यवस्था उसे अपने प्रति भी असहनशील बनाती है। सेल्मा का उल्लास उसे भीतर तक बींध देता है और वह उसके लिए और अजनबी हो जाती है।''[13] अलगाव और अजनबीपन के साथ 'परपीड़न में सुखानुभूति' की प्रवृत्ति भी दोनों पात्रों मे लक्षित की जा सकती है। योके भी जब सेल्मा को किसी बात से आहत या कष्ट में देखती है तो उसे संतोष मिलता है जिसे वह 'विकृत जिजीविषा' का नाम देती है ''क्यों उसे तकलीफ से टूटते हुए देखकर मुझे तसल्ली होती है? कितना कमीना है ये संतोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देखकर होता है क्या यह एक अत्यंत विकृत ढंग की जिजीविषा नहीं है!''[14]

प्राय: आलोचकों ने योके को नास्तिक अस्तित्ववादी और सेल्मा को आस्तिक अस्तित्ववादी की श्रेणी में रखा है। घर में फैली लाल आग को देखकर योके को लगता है अभी चिमनी से शैतान उतरकर कब्र में हमसे हिसाब करने आएगा, किंतु सेल्मा के अनुसार शैतान नहीं आता, संत निकोलस आता है। यहां दोनों के आस्तिक और नास्तिक अस्तित्ववादी विचारधारा के बीच का अंतर स्पष्ट हो जाता है। योके में जीने की तीव्र

इच्छा है। जीवित व्यक्ति ही जीने का आकांक्षी होता है मृत्यु का नहीं। सेल्मा को देखकर योके अनुभव करती है कि ''कैसे कोई जीता हुआ प्राणी जिजीविषा से परे हो सकता है? हम सब कुछ में अनासक्त हो सकता है, पर जीवन से कैसे हो सकते हैं?''[15] सेल्मा मृत्यु को ईश्वर और योके इस जीवन का खंडन मानती है। इस तरह सेल्मा और योके दो भिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती हैं।

अपने और सेल्मा के अस्तित्व को योके जीवन और मृत्यु के एक ऐसे विरोधाभास के रूप में देखती है जहां सेल्मा कैंसर से पीड़ित होकर भी 'मरती हुई भी जिए जा रही है मैं (योके) हूं कि जीती हुई भी मर रही हूं, और मरना चाह रही हूं।''[16] सेल्मा जीवन से अनासक्त रहते हुए भी जीवन की हर स्थिति में संलग्न है, वह योके के लिए ब्रेकफास्ट बनाती है, मृत्यु के साए में भी क्रिसमस के लिए उत्साहित है, अवतरण के गीत गाती है बर्फ से आच्छादित काठघर में भी ताश खेलती है, गीत गुनगुनाती है, काठघर के बाहर मुक्त स्वच्छ और स्नेहिल धूप की भी सुखद कल्पना करती है। किंतु उसे जीने की इच्छा नहीं है। वह अपनी वर्तमान स्थिति से आतंकित और विचलित नहीं है। सेल्मा के साथ रहते हुए योके ने प्रत्येक क्षण उसका संयत व्यवहार देखा था जो उसे सामान्य नहीं लगता था। मृत्यु के प्रति उसे उदासीन देखकर योके उद्वेग से भर जाती थी। मनुष्य जब निरंतर मृत्युबोध से घिरे वातावरण में रहता है और उसे मुक्ति का मार्ग नहीं दिखाई देता तो अकेलेपन में यह असहनीय अवस्था उसका मानसिक संतुलन बिगाड़ सकती है। मृत्युभय, अकेलापन और अलगाव की स्थितियाँ झेलती योके भी मानसिक असंतुलन का शिकार होती है। ''सेल्मा को इतना स्थितप्रज्ञ देख कर योके आवेष्टित हो उठती है। उसका मन करता है कि चीख पड़े, अपने बाल नोच ले, आईने के सामने खड़ी होकर अपने को मारूँ, छोटी कैंची उठाकर अपने गालों में चुभा लूं, कि नहेरने से अपने माथे, नाक, कान, ठोड़ी पर घाव कर लूं, कि पानी का जग उठाकर आईने पर पटक कर उसके और आईने के भी टुकड़े-टुकड़े कर दूं...''[17]

यहाँ दो भिन्न मनोवृत्तियों के पात्र एक साथ रहने के लिए अभिशप्त हैं। काठघर में फंसी हुई योके को लगता है मृत्यु की प्रतीक्षा में जो जीवन जिया जाता है उसे जीवन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सेल्मा कैंसर पीड़ित है, मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है उसके साथ रहते हुए जवान और स्वस्थ योके को अपना जीवन भी कैंसर तुल्य लगने लगता है वह सोचती है, ''क्या मैं ज्यादा लाचार, ज्यादा दयनीय, ज्यादा मरी हुई नहीं हूं? क्या मुझे ही ज्यादा कैंसर नहीं है -वह कैंसर जिसे हम जिंदगी कहते हैं?''[18] सेल्मा के पास अपने अतीत जीवन की स्मृतियां हैं, किंतु भविष्य के लिए कोई सोच नहीं है। उसे ज्ञात है किसी भी समय उसकी मृत्यु हो सकती है और इस बात को वह बहुत शांत और सहज भाव से स्वीकार करती है। इसके विपरीत शरीर और मन से स्वस्थ योके युवा है, जीवन के प्रति सकारात्मक सोच रखने वाली, भविष्य को लेकर भी उसकी सोच और चिंताएं हैं।' 'मृत्यु और नियति जैसी शाश्वत समस्याओं को योके और सेल्मा के बौद्धिक फलक पर ऐसे कौशल से अंकित किया है कि पाठक कथाक्रम भूलकर विचार प्रवाह में बह जाता है। लेखक ने मृत्यु की भयानकता से संबंधित परिस्थिति और समाधान को बड़े कलात्मक ढंग से मिलाया है, जिससे घटना विकास और चरित्र विकास के समानांतर ही दो विचार दृष्टियाँ भी समानांतर चलती हैं। वस्तुत: ये जीवन-दृष्टियाँ ही वस्तु गठन का आधार हैं।''[19] योके का अस्तित्वबोध मृत्यु की प्रतीक्षा करती सेल्मा की उपस्थिति में और तीव्र हो जाता है। सेल्मा को लगता है कि योके की सभी कठिनाइयों का कारण 'अपने को स्वतंत्र मानना' और 'अकेले होने का अनुभव' करना है। वह अपने विचारों में बहुत स्पष्ट है कि ''न तो हम अकेले हैं, न स्वतंत्र हैं। बल्कि अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते इसलिए स्वतंत्र नहीं है; और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है।''[20]

उपन्यास में कथा तत्व, परिस्थितियों का चित्रण और उस स्थिति विशेष में पात्रों की मन:स्थिति का चित्रण मनोविज्ञान और अस्तित्ववादी चिंतन के आधार पर बहुत कुशलता से किया गया है। अधिकांश विद्वानों ने इस उपन्यास को मृत्यु से साक्षात्कार का हिंदी अस्तित्ववादी उपन्यास कहा है किंतु कुछ विद्वान इसे अस्तित्ववादी नहीं मानते। डॉ. बच्चन सिंह अपने एक निबंध 'अपने अपने अजनबी : नई धार्मिक दृष्टिसंपन्नता' में लिखा- ''अपने अपने अजनबी अस्तित्ववादी उपन्यास नहीं है। एक प्रकार से इसमें जिस जीवन दर्शन को प्रतिष्ठित किया गया है वह अस्तित्ववाद के विरोध में पड़ता है... इसकी मुख्य समस्या न मृत्यु की समस्या है और न स्वतंत्रता की समस्या। यह सीधे बेगानगी (एलिनिएशन) से टकराती है। डर, लाचारी, विवशता, क्षण, स्वतंत्रता, ईश्वर मृत्यु, मैं हूं का बोध, स्वीकार, नकार आदि का अंतर्भाव बेगानेपन

(एलिनिएशन) में ही हो जाता है या उन सबका एक नाम बेगानापन (एलिनिएशन) है इसके मूल में एक धर्म दृष्टि संपन्नता है।''[21] इस स्थापना के आधार पर यदि विश्लेषण करते हैं तो उपन्यास के पात्रों का परस्पर और अपने परिवेश के प्रति भी एक अलगाव देखा जा सकता है जिसे यहाँ बेगानापन या अज्ञेय ने अजनबी कहा है। ''अज्ञेय ने बड़ी कलात्मकता के साथ विशिष्ट स्थितियों का चयन करके 'बिना कफन की कब्रगाह' के अजनबीपन, मानवीय संबंधों की क्रूरता से पनपे अजनबीपन और भीड़ के भीतर के अजनबीपन को सर्जनात्मक स्तर पर उभरा है।''[22] अजनबीपन की संवेदना से ग्रसित सेल्मा और योके अपने संवादों में भी 'अजनबी' शब्द का प्रयोग करते हैं। सेल्मा अजनबी डर के साथ कैद होकर नहीं रह सकती, योके कहती है ''हम अजनबी नहीं चुनते, अच्छे आदमी चुनते है''[23] और इसी तरह सम्पूर्ण रचना की संवेदना में, पात्रों के चिंतन और व्यवहार में यह अजनबीपन, बेगानापन इस कुशलता के साथ विन्यस्त है कि उसे उपन्यास की संवेदना से पृथक नहीं किया जा सकता। इस अजनबीपन, अलगाव या बेगानेपन की पृष्ठभूमि भले ही विश्वयुद्ध की विनाशकारी परिस्थितियाँ हैं, किन्तु इन संवेदनाओं का बहुत सर्जनात्मक प्रयोग मृत्युबोध के विशिष्ट संदर्भ में किया जाना अज्ञेय का विशिष्ट शिल्पगत प्रयोग कहा जा सकता है।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, लक्ष्मीबाई महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई मेल : ranjitkaur@lb.du.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. नवल किशोर, आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली 1977, पृष्ठ 98
2. अज्ञेय, अपने अपने अजनबी, भारतीय ज्ञानपीठ, 21वां संस्करण, 2007, पृष्ठ 36
3. वही, पृष्ठ 38
4. वही, पृष्ठ 40-41
5. वही, पृष्ठ 41
6. वही, पृष्ठ 45
7. वही, पृष्ठ 15
8. वही, पृष्ठ 15
9. ''इसमें मुख्य समस्या स्वतंत्रता के वरण की है, जो संत्रास, अकेलेपन, बेगानगी, मृत्युबोध, अजनबीपन आदि से सहज ही संयुक्त हो गई है। स्वतंत्रता को अहंकार से जोड़कर अज्ञेय ने इसमें अस्तित्ववादी स्वतंत्रता के मूलार्थ को बदल दिया है। (सं डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, 2009, तीसरा संस्करण से उद्धृत, पृष्ठ 690)
10. अज्ञेय, अपने अपने अजनबी, पृष्ठ 85
11. हिंदी उपन्यास की प्रवृत्तियां, डॉ. शशि भूषण सिंघल, आगरा विनोद पुस्तक मंदिर, 1970, पृष्ठ 177
12. अज्ञेय, अपने अपने अजनबी, पृष्ठ 76-77
13. आधुनिक हिंदी उपन्यास और अजनबीपन, विद्या शंकर राय, 1988, पृष्ठ 102
14. अज्ञेय, अपने अपने अजनबी, पृष्ठ 36
15. वही, पृष्ठ 30
16. वही, पृष्ठ 30
17. वही, पृष्ठ 31
18. वही, पृष्ठ 48
19. डॉ. केदार शर्मा, अज्ञेय साहित्यरू प्रयोग और मूल्यांकन, अनुपम प्रकाशन, जयपुर, 1969, पृष्ठ 268
20. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ 45
21. डॉ. दुर्गाशंकर मिश्र, अज्ञेय का उपन्यास साहित्य, हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ, 1976, पृष्ठ 140
22. डॉ. विद्याशंकर राय, आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन, 1988, पृष्ठ 104
23. अज्ञेय, अपने अपने अजनबी, पृष्ठ 88

प्रमोद कुमार सहनी* डॉ. मधुबाला श्रीवास्तव**

महादेवी वर्मा के कथा साहित्य : ग्रामीण समाज में पुरुष वर्ग का वर्चस्व एवं स्त्री का सम्मान

माता श्रीमती हेमरानी देवी, पिता - श्री गोविन्द प्रसाद वर्मा की पुत्री के रूप में दादा जी श्री बाँके बिहारी के घर होली के दिन 26 मार्च 1907 ई० को जन्मी महादेवी वर्मा का नाम हिन्दी साहित्य जगत में बड़ा आदर के साथ लिया जाता है। हिन्दी साहित्य के छायावाद के चार मुख्य स्तम्भों में से एक मजबूत स्तम्भ के रूप में जाने जानी वाली रचनाकार व कवयित्री महादेवी छायावाद में अपना अमिट छाप बना चुकी है। दादा श्री बाँके बिहारी के घर कई पीढ़ी में लड़की का जन्म नहीं होने के कारण श्री बिहारी द्वारा अपने घर पुत्री के जन्म हेतु अपनी कुल देवी 'दुर्गा देवी' से आग्रह-विनती किया गया था। कुल देवी दादा की विनती स्वीकार कर उनके घर एक माता-हेमरानी देवी व पिता - गोविन्द प्रसाद वर्मा की पुत्री के रूप में कन्या को जन्म दिया। कई पुश्तों बाद घर व खानदान में कन्या के जन्म होने के कारण चारो तरफ खुशी का माहौल था। कुल देवी की पूजा-पाठ की गई। भोज-भात का आयोजन किया गया और देवी का प्रसाद के रूप में कन्या को स्वीकार कर कुलदेवी के सम्मान में उसका नाम 'महादेवी' रखा गया। महादेवी का पालन-पोषण बड़ा लाड़-प्यार से किया गया। उन्हें किसी प्रकार की कमी नहीं हो इसका ख्याल रखा गया। महादेवी को उच्च संस्कार दिया गया। महादेवी वर्मा को प्राथमिक शिक्षा के रूप में उन्हें उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी द्वारा घर पर ही विद्यालय पूर्व शिक्षा दी गयी। माता श्रीमती हेमरानी देवी ब्रजभाषा, हिन्दी और संस्कृत की विदुषी महिला थी। वे ब्रजभाषा में कविताएँ भी लिखती थीं। पिताजी महाविद्यालय में अध्यापक थे। पिता जी व दादा जी भी विद्वान थे। परिवार के सभी लोगों के व्यक्तित्व का सीधा प्रभाव महादेवी वर्मा पर पड़ना स्वाभाविक था। विद्यालय भेजने से पूर्व इन्हें इनकी माता जी द्वारा घरेलू कार्य की बेहतर शिक्षा दी गई। जैसे अनाज फटकना, खाना पकाना, तरह-तरह के व्यंजन बनाना, पूजा-पाठ करना, घर-आँगन लीपना, बाग-बगीचा लगाना आदि की शिक्षा दी गई। तत्पश्चात् इन्हें विद्यालय भेजा गया। पढ़ने में काफी तेज महादेवी जी मिडिल स्कूल की परीक्षा में पूरे उत्तर प्रदेश राज्य में सबसे ज्यादा अंक लाकर राज्य टॉप की। इन्होंने दर्शन शास्त्र से स्नातक व संस्कृत विषय से स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त की।

सन् 1952 ई० में महादेवी वर्मा जी को उत्तर प्रदेश विधान परिषद् की सदस्या के रूप में मनोनीत किया गया। कवताएँ, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र, निबंध, संभाषण, एवं रिपोर्ताज आदि हिन्दी साहित्य जगत में अपनी खास जगह स्थापित कर चुकी है। जहाँ अन्य रचनाकार स्थान बनाने में सक्षम नहीं हैं। रेखाचित्र इनकी ऐसी रचना-विधा है जो हमारे समाज के तत्कालीन परिस्थिति को बखूबी हमारे सामने प्रस्तुत करने में सक्षम है। तत्कालीन काल खण्ड की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक वातावरण से हमें हू-ब-हू परिचय व अवगत कराता है। इनके रेखाचित्रों में मूल-रूप से स्त्री-विमर्श को उद्धृत किया गया है। स्त्री-विमर्श की चर्चा-परिचर्चा बेहतर ढंग से किया गया है। स्त्री के सभी रूपों का वर्णन किया गया है। जिसमें माता, पत्नी, बहन, वेश्यापुत्री, बेटी, विधवा स्त्री, नौकरानी, विमाता, आदि की चरित्र-चित्रण किया गया है। उन सब स्त्रियों का समाजीकरण किया गया है और समाज में उनका स्थान निर्धारित किया गया है। इसी संदर्भ में एक वर्ग 'पुरुष वर्ग' भी है, महादेवी जी उनका भी स्थान निर्धारित करना नहीं भूली हैं, महादेवी वर्मा जी जहाँ पुरुष प्रधान समाज स्त्रियों पर सिर्फ और सिर्फ अत्याचार और स्त्रियों का शोषण ही किया

है, वहीं कुछ ऐसे भी पुरुष है जो अपने जीवन में संघर्ष करते हुए और वह भी समाज में अपना स्थान बनाने की कोशिश में लगा हुआ है। एक तरफ जहाँ पुरुष वर्ग स्त्री को सिर्फ वस्तु मात्र समझता है वहीं कुछ पुरुष स्त्री के सम्मान में अपना सर्वस्व न्यौछावर भी करने को तैयार रहता है। जहाँ एक पिता अपनी पुत्री की शादी करके अपने आपको मुक्त करना चाहता है वही ऐसे पिता भी है जो अपने बच्चों के खातिर दूसरी शादी करना भी उचित समझता है। ऐसा नहीं है कि इस तरह की घटना महादेवी वर्मा जी के रेखाचित्रों में ही होती हैं। बल्कि आज भी अच्छे बुरे ऐसे पुरुष देखने को मिलते हैं।

'लछमा' रेखाचित्र में महादेवी वर्मा ने पुरुष प्रधान समाज के महिलाओं के प्रति अत्याचारों का मार्मिक चित्रण किया है। ससुरालवालों ने लछमा को इतना मारा-पीटा की वह बेहोश हो गई। लछमा को मृत समझकर उसे गड्ढ़े में डाल दिया गया, लेकिन वह होश में आने के पश्चात् अपने मायके चली गई और वहीं रहने लगी। कुछ समय बाद जब ससुरालवालों को पता चला तो सभी लोग लछमा को बुलाकर लाने के लिए उसके पास गए लेकिन लछमा द्वारा जाने से मना कर दिया गया। लछमा ने ससुरालवालों को आश्वसन दिया कि अगर उसके मानसिक विकलांग पति वे उनके पास रहने के लिए दे दें तो उनकी सेवा कर सके। परिवारवाले लछमा पर लाँछन लगाते थे। पुरुष प्रधान समाज से लछमा को न्याय नहीं मिला यदि कोई स्वावलम्बी होकर जीवन जीना चाहती है तो पुरुष समाज को यह बर्दाश्त नहीं होता। वह अपना रोष प्रकट करता है। स्त्री का अपमान कर उसे नीचा दिखाना चाहता है। यदि कोई स्वाभिमानी स्त्री पुरुष के अत्याचार और शोषण का विरोध करती है तो सारा पुरुष वर्ग एक साथ खड़े होकर उसे दण्ड देता है। सारा अधिकार पुरुषों के पास सुरक्षित हैं। पुरुष वर्ग नियम बनाता भी है और वहीं उस नियम को तोड़ता भी हैं, स्त्री को यह अधिकार प्राप्त नहीं है।

पिता के रूप में पुरुष

समाज में पिता के कई रूप दिखाई देते हैं। कुछ पिता ऐसे होते हैं जो अपना सर्वस्व त्यागकर अपनी संतान को उच्च शिक्षा, उच्च संस्कार व बेहतर जीवन प्रदान करना चाहता है। वे अपनी संतान की शिक्षा-दीक्षा के लिए कठिन से कठिन परिश्रम करते है। बच्चों के बेहतर जीवन और भविष्य के लिए वह कठिन से कठिन व कठोर से कठोर कार्य करने को तत्पर रहते हैं वहीं कुछ पिता ऐसे भी होते हैं जो अपने जीवन में सुख-सुविधा भोग-विलास की सुविधा उपलब्ध करने में सारी सम्पत्ति नष्ट कर देते हैं। स्वयं के जीवन पर सारी सम्पति बेचकर खर्च कर देते हैं और अपनी संतान के जीवन में दु:ख और केवल दु:ख लिख देते हैं।

महादेवी वर्मा ने अपने रेखाचित्र में पिता के कोमल, वात्सल्यपूर्ण एवं कठोर रूपों का चित्रण किया है। जंगबहादुर कुली का काम करता है। वह पेशे से एक कुली है। उसके घर में माता-पिता, पत्नी और दो मास का मासूम पुत्र है। वह अपने बच्चों का पालन-पोषण करने के लिए अत्यधिक मेहनत करता है। उसके मन में अपने नन्हा पुत्र के प्रति वात्सल्य की भावना हैं। वह सिर्फ और सिर्फ अपने परिवार और मासुम सा पुत्र के लिए जीता व कठिन मेहनत करता है। जंगबहादुर जितना कमाता हैं उसमें खाना खाकर जो बचता है वह वे सभी अपने परिवार के लोगों के लिए बचाता है। महादेवी वर्मा लिखती हैं -''जब वह घर से चला तब उसका पुत्र दो मास का हो चुका था, पर इतना दुर्बल और छोटा था कि पिता उसे गोद में लेने का साहस न कर सका। अब वह खाने-पीने से बची हुई मजदूरी घर ले जाने के लिए जमा कर रहा है जो कुछ इनाम में मिल जाता है उससे पुत्र के लिए एक टोपी और कुर्ता बनाने की इच्छा रखता हैं।'' किसी भी स्थिति में जंगबहादुर अपने पुत्र से अलग नहीं रहना चाहता था लेकिन गरीबी और तंगी के कारण महीनों तक अपने पुत्र से अलग रहना पड़ता है।

'ठकुरी बाबा' रेखाचित्र के ठकुरी बाबा के जीवन में कठिन जीवन संघर्ष हैं। पिता की मृत्यु के बाद दोनों बड़े भाईयों के यहाँ चाकरी करने के बाद ही उसे दो वक्त की रोटी नसीब होती है। दो वक्त के भोजन के लिए भाईयों के यहाँ नौकरी करता है। शादी के कुछ ही वर्ष बाद एक पुत्री रत्न की प्राप्ति हुई। प्रसूति के बाद उचित इलाज और विश्रम के अभाव के कारण प्रसूति ज्वर से पीड़ित होकर धर्मपत्नी की मृत्यु के कारण ठकुरी अन्दर से टूट जाता है। परिवार में पुत्री 'बेला' की उपेक्षा होने के कारण भाईयों से बंटवारा कर अपनी पुत्री को जीवन का आधार बनाकर अलग जीवन व्यतीत करने लगता है। हँसी-विनोद के समय अपने पिता के कंधे पर बैठ कर घूमने में बेला को बड़ा अच्छा लगता है। पिता अपनी पुत्री के पीठ पर बाँधकर काम करता है। किसी की शिकायत और हँसी की परवाह किये बिना ठकुरी सिर्फ और सिर्फ अपनी पुत्री के लिए कठिन से कठिन मेहनत करता है।

'गुंगिया' रेखाचित्र में गुंगिया का नाम धनपतिया था। गुंगेपन

के कारण उसे 'गुंगिया' उपनाम दिया गया। सम्पन्न व ईमानदार पिता रग्घू तेली के घर जन्मी 'गुंगिया' के जन्म पर जश्न का माहौल था। भोज-भात का आयोजन किया गया। खुशी के माहौल में डोमनी नाचने आई, नेग बांटा गया।

मासूम बच्चे को नजर न लगे इसलिए टीका-चंदन, टोटका आदि लगाये गये। बेहतर स्वास्थ्य के लिए उपाय किये गये। 'गुंगिया' गूँगी तो थी मगर थी कुशाग्र बुद्धि की। घर के सभी काम कर देती थी। शादी में दिक्कत होने के कारण पिता को झूठ व धोखाधड़ी का आश्रय लेना पड़ा। पिता रग्घू तेली पुत्री से बहुत प्यार करता था। उसे गुंगिया की शादी के लिए झूठ-फरेब का सहारा लेना पड़ा, जबकि वह अपने जीवन में बड़ा ईमानदार व्यक्ति था।

पति के रूप में

दाम्पत्य जीवन की शुरूआत स्त्री-पुरुष मिलन से होती है। दाम्पत्य जीवन की सबसे बड़ी पूँजी सुखी जीवन है। दोनों में प्रेम, मिलन, संतुलन और एक दूसरे के प्रति समर्पण की भावना है, यह संबंध परिवार को आदर्श एवं विकसित पथ पर लाने के लिए आवश्यक है।

अंधा अलोपी 'अलोपी' रेखाचित्र का ऐसा पात्र है जो नेत्रहीन है लेकिन वह कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति है। नेत्रहीन हो या अन्य प्रकार के विकलांगता जहाँ विकलांगता को मजबूरी व लाचारी मानकर लोग भिक्षाटन करना अपने जीवन की नियति समझ लेता है वहीं अलोपी भीख मांगने या दूसरे पर बोझ बनने के बजाय महादेवी वर्मा के छात्रावास में सब्जी पहुँचाकर बेचता है और अपना जीवन व्यतीत करता है।

अलोपी को घर बसाने की इच्छा हुई। माँ के मना करने के बावजूद भी वह ऐसी कुटील, धूर्त, स्वभाव की स्त्री से विवाह कर लेता है जो पहले ही दो पति को विवाह-बंधन से मुक्त कर चुकी है। सुख-चैन का जीवन मात्र छः मास ही जी सका अलोपी, उसके बाद अलोपी का सब कुछ लेकर उसे सदा के लिए मुक्त कर दिया। पत्नी के भागने की बात से वह दुःखी होता। वह यह मानने के लिए तैयार ही नहीं था कि उसकी पत्नी उसको छोड़कर भाग गई है। पुलिस को सूचना व अपनी पत्नी की पहचान बताने के नाम वह कहता है -''अपनी स्त्री की हुलिया लिखवाकर पकड़ माँगना नीच का काम है।'' वह अपनी पत्नी का इन्तजार करता रहता है। उसे लगता है कि वह आएगी, लेकिन ऐसा होता नहीं है। इस रेखाचित्र में पुरुष का स्त्री के प्रति सम्मान, लगाव व समर्पण को बताया गया है।

'बिबिया' रेखाचित्र में बिबिया का भाई कन्हाई बिबिया की शादी शहर के एक धोबी से कर देता है। बिबिया का पति रमई एक नम्बर का नशेरी और जुआ खेलनेवाला जुआरी था। रमई अपना पति धर्म भूलकर अपनी पत्नी के साथ मार-पीट करता है और अपनी पत्नी को जुए में दांव पर लगाने की कोशिश करता है लेकिन बिबिया साहसी महिला थी। वह इस घटना का विरोध करते हुए हाथ में सब्जी काटनेवाली छुरी लेकर रमई के पेट में घोंपने की धमकी दे डालती है और अन्त में वह अपने पति रमई को छोड़ देती है।

तत्पश्चात् कन्हाई बिबिया की शादी गाँव में झनकू नाम पचपन वर्षीय अधेर पुरुष के साथ कर देता है। नहीं चाहते हुए भी बिबिया की दूसरी शादी की जाती है। झनकू का बिबिया से कोई लगाव नहीं था। वह तो केवल इस लिए विवाह किया है ताकि उसके छोटे-छोटे बच्चों की देख-रेख के लिए माता मिल सके। बिबिया का सौतेला बड़ा पुत्र जो ससुराल में ही रहता है वह भी जवान विमाता होने की बात सुनकर घर चला आता है और अपनी विमाता के बारे में गलत सलत सोचता है। बिबिया के चरित्र पर सवाल उठाया जाता है। और उसके साथ जमकर मार-पीट किया जाता है। महादेवी जी कहती है -''उस रात प्रथम बार बिबिया पीटी गई। लात, घूँसा, थप्पड़, लाठी का सुविधानुसार प्रयोग किया गया।'' इस रेखाचित्र में पति के क्रूर से क्रूरतम रूप का चित्रण किया गया है।

लड़की के प्रति उपेक्षा

हमारे समाज में युगों से स्त्री को बोझ और कलंक समझा जाता रहा है। पुत्री के जन्म पर परिवार के सभी लोग दुखी हो जाते थे। जन्म के साथ ही उसकी हत्या तक कर दी जाती थी। समाज में जाति व्यवस्था दिन-प्रति-दिन मजबूत व दृढ़ होती चली गई। देश में कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं जो कन्या के जन्म के साथ ही उसका अन्त कर दिया करते थे। हालाँकि उसमें अब सुधार हुआ है। जहाँ पुत्र के जन्म पर मिठाइयाँ, मेवे बाँटे जाते हैं वहीं पुत्री के जन्म पर पिता का मुख उदास हो जाता है। पिता को यह सांत्वना दी जाती है कि ''चिन्ता न करो पुत्र रत्न की भी प्राप्ति होगी।'' और इसी सांत्वना से वह पुनः चिन्ता छोड़ पाता है। 'रामा' रेखाचित्र में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। लेकिन पुत्री के जन्म के पश्चात् सभी लोग दुखी हो गये। पुत्री की प्रतीक्षा में बैठी नाचने-गानेवाली औरतें भी मुँह नीचा कर वापस चली गयी। पारिवारिक जीवन की इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है। 'भक्तिन' रेखाचित्र में

लेखिका महादेवी वर्मा कहती हैं भक्तिन की दो लड़कियाँ होने के कारण घर में उसे काफी कम सम्मान मिलता था। वहीं उसकी जेठानी का दो पुत्र हैं इसलिए वह ज्यादा सम्मान की हकदार थी। भक्तिन सभी काम करती थी। खेती-बाड़ी का कार्य भी करती थी लेकिन उसे सिर्फ इसलिए भूखे रहना पड़ता था क्योंकि उसके बच्चे बेटे नहीं थे। यह भेद-भाव को दर्शाता है। सच तो यह है कि शिक्षित लोग भी बेटे-बेटियाँ में भेद करते हैं।

पुरुष का धोखेबाज रूप और विवाहेत्तर आकर्षण

पुरुष प्रधान समाज में जहाँ स्त्री का शोषण होता है, उस पर अत्याचार होता है वहीं पुरुष समाज के लोग का कई रूप भी मिलते हैं। उसी रूप में से पुरुष का धोखेबाज रूप भी देखने को मिलता है। धोखेबाज पुरुष महिलाओं को अपने प्रेमजाल में फँसाता है या विवाह का लोभ देकर उसका शारीरिक शोषण करता है। उसके बाद भाग जाता है, लेकिन बेचारी स्त्री चाहकर भी कुछ नहीं कर पाती है। पुरुष की लाख गलती होने के बावजूद भी परेशानी व सजा स्त्रियों को ही भोगना पड़ता है। 'बालिका माँ' रेखाचित्र भी इसी तरह का रेखाचित्र है जिसमें बाल-विधवा स्त्री को प्रेमजाल में फाँस कर गर्भवती अवस्था में छोड़कर युवक भाग जाता है। बालिका माँ पर अन्याय हुआ है। 'स्मृति की रेखाएँ' रेखाचित्र की भक्तिन में भी पंचों के धूर्त रूप देखने को मिलता है। जहाँ भक्तिन की बेटी की प्रतिष्ठा दाव पर लगी रहती है बावजूद पंचों द्वारा न्याय नहीं किया गया।

विवाहेत्तर आकर्षण

विवाहेत्तर आकर्षण में भी सिफ पुरुषों के लिए छूट थी। पुरुष कुछ भी करे वह जायज था लेकिन स्त्री पर विभिन्न प्रकार की पाबंदियाँ लगा दी जाती थीं। ऐसे तो पुरुष वर्ग के लोग अपनी पत्नी से इतर अन्य स्त्रियों के प्रति तभी आकर्षित होता था जब उसकी पत्नी बदसूरत होती थी या वह अपनी पत्नी से असंतुष्ट होता था। फिर भी यह एकतरफा फैसला था कि महिलाओं की संतुष्टि या असंतुष्टि, पसंद या नापंसद का ध्यान दिये बिना उसके अहित में बात की जाती थी। 'सबिया' रेखाचित्र में सबिया के पति मैकू द्वारा धोखा देकर गेंदा से शादी सिर्फ इस लिए कर ली गई क्योंकि सबिया काली थी। उसका रंग तो काला था लेकिन थी वह बहुत सुन्दर। यद्यपि वह काली थी फिर भी बहुत खूबसूरत थी। उसका पति धोखेबाज, दुष्चरित्र व लम्पट था।

पुरुष की बुरी आदत

गाँव के पुरुष वर्ग पर नशा करने का बहुत बुरा प्रभाव दिखाई देता है। ज्यादातर पुरुष शराब-गाँजा आदि का सेवन करते थे। इसके कई कारण हो सकते हैं। कोई परिश्रम परिहार के कारण तो कोई आर्थिक नुकसान के कारण शराब पीते हैं। किसी-किसी को तो इसकी आदत भी हो जाती है। महात्मा गाँधी कहते हैं-''शराब आदमियों से न सिर्फ पैसा छीन लेती है, बल्कि उसकी बुद्धि भी हर लेती है।'' महादेवी वर्मा जी के रेखाचित्र में मुन्नू के पिता हथई ब्राह्मण था। वह यमुना तट पर बैठकर भीख मांगता था और तम्बाकू पीता था। उसे तम्बाकू की लत थी। बिबिया का पति रमई बहुत बड़ा शराबी और जुआरी था। वह नशा में बिबिया को मारता-पीटता रहता था। बिबिया को जुए में दाव पर भी रखने की घिनौनी कोशिश किया था।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि महादेवी वर्मा के रेखाचित्र में जहाँ एक तरफ अलोपी, ठकुरी बाबा जैसे उच्च विचार व जीवन के शुद्ध व सात्विक जीवन जीने वाले और स्त्री का सम्मान करने वाले पुरुष है वहीं समाज में धोखेबाज, अय्याश, ठग, धूर्त, चरित्रहीन पुरुष भी मौजूद हैं जो स्त्रियों के चरित्र और भावना के साथ धोख व खिलवाड़ किया है। आज के वर्त्तमान समय में पुरुष के रूप में काफी सुधार हुआ है। स्त्रियों का शोषण और उन पर अत्याचार कम हुआ है। स्त्रियों की दशा में काफी सुधार हुआ है। समाज में स्त्रियों की संख्या भी बढ़ी है।

***पीएचडी, शोधार्थी**
सैम ग्लोबल विश्वविद्यालय,
भोपाल, मध्यप्रदेश
****शोध निदेशक**
सैम ग्लोबल विश्वविद्यालय,
भोपाल, मध्यप्रदेश

संदर्भ ग्रंथ सूची -

- गौतम, लक्ष्मण दत्त, 'महादेवी वर्मा कवि और गद्यकार', कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली।
- पाण्डेय, गंगाप्रसाद - 'महादेवी संस्मरण ग्रंथ', राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली।
- मधुपुरी, असीम-'महादेवी साहित्य का अभिनव मूल्यांकन' जर्नादन प्रकाशन, लखनऊ, उत्तरप्रदेश।
- वर्मा, महादेवी-'स्मृति की रेखाएँ', लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली।
- वर्मा, महादेवी-'अतीत के चलचित्र', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

भारतीयज्ञानपरम्परायां विवाहसंस्कारः

डॉ. शंकर नाथ तिवारी

सनातनपरम्परायां मानवजीवनस्य एक अनिवार्यः विषयः वर्तते संस्कारः। यद्यपि वैदिकसंहितायां संस्कारशब्दस्य साक्षात् प्रयोगः नावलोक्यते तथापि गर्भाधान-नामकरणोपनयनादयः संस्कारा उपलब्धाः सन्ति। अर्थवसंहितायां दृश्यते मन्त्रोऽयमुदाहरणसरुपम्

''यथेयं पृथिवी महो भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥''
(अथर्वसंहिता, 6/17/1)

अस्मिन् मन्त्रे गर्भाधाननामधेयस्य संस्कारस्य नामोल्लेखः प्राप्यते।

यजुर्वेदे अपि दृश्यते—

''कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम्॥''
(यजुर्वेद, 7/29)

अत्र नामाकरणनामकस्य संस्कारस्य प्रयोग उपलभ्यते। एवमेव गर्भाधानोपनयनयोः संस्कारयोः अपि दरीदृश्यते अथर्वसंहितायाम्।

''आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणां कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रिस्तिस्रः उदरे विभर्ति, तंजातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥''
(अथर्ववेद, 11/5/3)

वस्तुतः ऋषयः ये नियमाः मानवजीवनोत्कर्षाय शोभनं सम्यक् कृताय च अकुर्वन् ते विधाय एव संस्कारशब्दवाच्यः इति। छान्दग्योपनिषदि संस्कारविषये प्राप्यते यत्—

''तस्मादेष एवं यज्ञस्तस्य मनश्चवाक् च वर्तिनी।
तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होता॥''
(छान्दग्योपनिषद, 4/16/1-2)

जैमिनीसूत्रस्य शवरभाष्यकारेणापि संस्कारविषयस्योपरि एवं विधमुक्तम् -''संस्कारो हि नाम भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य।'' (जैमिनीसूत्र, 3/1/3)

महर्षिदयानन्दस्वामिनापि संस्कारस्य सम्बन्धे भणितम् यत्

''येन शरीरं मन आत्मा चोत्तमा भवन्ति सः संस्कार इत्युच्यते।

ते च निषेकादिश्मशानान्ताः षोडशप्रकाराः॥''

मीमांसादर्शनशास्त्रे अपि वर्णितमस्ति यत् ''कर्मवीजं संस्काराः।'' अनेनैव कारणेन सृष्टेः सृजनं भवति। ''तन्मित्ता एव सृष्टि।''

वेदान्तसूत्रे प्राप्यते यत्''संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा।'' (वेदान्तसूत्र शङ्करभाष्य,1/1/4) एवम् विधम् मनुनापि उक्तम् संस्कारविषये-

''वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिद्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौंजीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥'' (2/26-27)

मनुस्मृतिःकालान्तरे कविकुलगुरुकालिदासेन अपि स्वकीयकाव्येषु संस्कारपदस्य प्रयोगं सौष्ठवार्थे कृतम्

''प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पुतश्च विभूषितश्च॥''
(कुमारसम्भवम् 1/28)

''स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ॥''
(रघुवंशम्, 3/18)

''ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघुयिष्यता धुरम्।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्॥'' (रघुवंशम्, 3/35)

संस्कारशब्दस्य स्वरुपसिद्धिः पाणिनिव्याकरणस्य त्रिभिः

Peer Reviewed Refereed Journal • ISSN : 2347-6605

सूत्रैः संजायते

1. सुट् कात्पूर्वः। अष्टाध्यायी (6/1/133)

2. समपरिभ्यां करोतौ भूषणे। अष्टाध्यायी (6/1/134)

3. समवाये च। अष्टाध्यायी (6/1/135)

सम् परिपूर्वस्य धातोर्भूषणे समवाये चार्थे वर्तमानस्य सुडागमो विधीयते स चागमो धातुस्थात्ककारात्पूर्वो वर्तते।

''संस्कृतम्भक्षाः'' अष्टाध्यायी (4/2/16), "संस्कृतम्" अष्टाध्यायी (4/4/3) इति सूत्रयोः संस्कृतशब्दस्य प्रयुज्यते तत्र च काशिकावृत्ति तोक्तं सत उत्कर्षाधानं संस्कारः इति। उत्कर्षाधानं गुणविशेषाधानम्। तथा ह्युक्तं ''तस्य भावस्त्वतलौ'' अष्टाध्यायी (5/1/119) इति सूत्रभाष्ये गुणशब्दः अयं बह्वर्थ. .. अस्ति संस्कारे वर्तते। तद्यथा संस्कृतमन्यं गुणवदित्युच्यतइति। (व्याकरणभाष्यम्, चतुर्थभागः, पृ-88)

विवाहस्य प्रकारः

भारतीयधर्मग्रन्थेष्वष्टप्रकारस्य विवाहस्य समुल्लेखो दरीदृश्यते। ते चेत्थं सन्ति -

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो : राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥[1]

गृहस्थधर्मनिर्णयप्रसङ्गे गरुडपुराणेऽप्यष्टप्रकारस्य विवाहस्योल्लेख इत्थं प्राप्यते—

ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता।
तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम्॥
यज्ञस्थायर्त्विजे दैवमादायार्षस्तु गोयुगम्।
चतुर्दश प्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट्॥
इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने।
स कायः पावयेत्तज्जं षड्विंश्यानात्मना सह॥
आसुरो द्रविणदानाद् गान्धर्वः समयान्मिथः।
राक्षसो युद्धहरणात् पैशाचः कन्यकाच्छलात्॥
चत्वारो ब्राह्मणस्याद्यास्तथा गान्धर्वराक्षसौ।
राज्ञस्तथासुरो वैश्यशूद्रे चान्त्यस्तु गर्हितः॥[2]

उपर्युक्ताष्टविधिविवाहस्य भागद्वयं विभज्य स्थापितम्। एषु विवाहेषु प्रथमाश्चत्वारः प्रशस्ताः कथ्यन्ते, इतरे चत्वारो विवाहा अप्रशस्तो भवन्ति। एष्वष्टप्रकारेषु विवाहाणां केषाञ्चन मूलं तु वैदिककालत एव प्राप्नोति। पुराणसमये अधिकतया प्रशस्तविवाहानामेव प्रचलनमासीत्।

1. ब्राह्मविवाहः- ब्राह्मविवाहो विवाहस्य सर्वोत्तमा पद्धतिः कथ्यते। अस्मिन् विवाहे कन्यायाः पिता गुणवन्तं शीलवन्तं च वरमामन्त्र्य तं विधिवत्सत्कृत्य च दक्षिणया सह यथाशक्ति वस्त्राभूषणैरलङ्कृतां कन्यां तस्मै अदात्-

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥[3]

स्मृतयः पुराणानि चास्य विवाहस्य सर्वप्रकारेण अधिकाधिकसम्मानं प्रशंसां च प्रकुर्वन्ति। शारीरिकशक्तिप्रयोगात् कामुकता अथवा कस्यचन प्रकारस्य प्रतिज्ञात-स्तथा धनलिप्सातो मुक्त आसीदयं विवाहः। अस्मिन् सामाजिकशालीनतायाः पूर्णरूपेण पालनमासीत्। धार्मिकविचारेषु ध्यानमासीत्। पुराणेषु वर्णितः पार्वत्याः शिवेन सह विवाहः।[4] स्वायम्भुवमनोः कन्यायाः कर्दम ऋषिणा सह विवाहः,[5] कर्दम ऋषेः कन्याया अनुसूयाया विवाहः[6], सीताया रामेण सह विवाहः[7], मदाल-सायाश्च विवाहः[8] —इमे सर्वे ब्राह्मविवाहाः सन्ति। दुर्वाससा सह कन्दलिन्या विवाहः[9], कृष्णेन सह राधाया विवाह[10] इत्यादयश्च।

2. दैवविवाहः—अस्मिन् प्रकारे कन्या-पिता कन्याम् अलङ्कृत्य पौरोहित्य-कर्मकारकाय ऋत्विजे अदात्। ऋत्विजे विवाहिते कर्मणि दद्याद् अलङ्कृत्य स दैवः। बौधायनानुसारं कन्या दक्षिणारूपेण प्रदीयते स्म -

दक्षिणासु नीयमानास्वन्तर्वेद्युत्विजे स देवः।[11]

अस्य दानस्य दैवयज्ञावसरे सत्त्वाद् अस्यैव नाम दैवविवाहः। याज्ञिकधर्मेण साकं शनैः शनैः सा प्रथाऽपि विलुप्ता। यतो हि विवाहे केवलं दानस्यैव भावो। निहितो नासीत्य अपि तु कन्यायाः सम्पूर्णजीवनस्य प्रश्न आसीत्।

3. आर्षविवाहः—अस्मिन् कन्यायाः पिता वरसकाशाद् यज्ञादिधर्मविहितकार्यं सम्पादयितुमेकां द्वयं वा गामादाय कन्यादानं करोति -

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवद् आर्षो धर्मः स उच्यते॥[12]

आश्वलायनो बौधायनस्तथा आपस्तम्ब इत्यादयः सर्वेऽपि विषयेऽस्मिन् एकसिद्धान्तिनः सन्ति। वीरमित्रोदयानुसारं कन्याया मूल्यमिदं नास्ति, यतो हीदं धर्मनिमित्तमस्तीति कन्यादानेन सह वराय प्रदानमासीत्-

धर्मनिमित्तो ह्यसौ सम्बन्धो न लोभनिमित्तकः। गोमिथुनग्रहणं च स्वयं कन्यो-पकरणदानासमर्थस्य तद्दानार्थे वेदितव्यम्।[13]

4. प्राजापत्यविवाहः — कन्यायाः पिता योग्यवरेण सह एतदुद्देश्य कन्यां विवाहयति यत् तौ साकं धार्मिककर्तव्यं पालयेताम्।[14] सहधर्म चरत इति प्राजापत्यः।

गौतमानुसारम्—

संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये.... सह धर्मश्चर्यतामिति।

मनोरनुसारम्—

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥[15]

वीरमित्रोदयानुसारं विवाहोऽयं निश्चितप्रतिज्ञासु समयवन्धनेषु चाऽऽधारित आसीत्-

सहधर्मक्रियाहेतोर्दानं समयबन्धनात्।

अलङ्कृत्यैव कन्याया विवाहः स प्रजायते॥[16]

प्रजापतिं प्रति पितृ ऋण मोचनाय नवदम्पती सन्तानहेतवे परस्परं धार्मिकबन्धने निबध्येते। अत एवायं विवाहः प्राजापत्यनाम्ना प्रसिद्धः। स्कन्देपुराणेऽपि-

सहोभौ चरतां धर्मं प्राजापत्यः स ईरितः।[17]

इयं च विवाहपद्धतिः अष्टविवाहपद्धतिष्वादर्शपद्धतिरस्ति। अस्या एव विवाहपद्धतेः पालनं सूत्रस्मृतिषु पुराणकालेषु च बहुमात्रायामासीत्। इदानीमपि पाणिग्रहण- संस्कारेषु पद्धतिरियं धार्मिकनियमैबन्धनं समाचरद्भिः धार्मिकजनैः संसेव्यते।

5. आसुरो विवाहः—मनुरीत्या यस्मिन् विवाहे वराय कन्याये सम्वन्धिनां च कृते यथाशक्ति धनादिकं दत्त्वा स्वेच्छया कन्यया सह विवाहो भवति स आसुर इति प्रोच्यते-

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥[18]

बौधायनेन स्पष्टमेव प्रोक्तं यद् धनक्रीता नारी पत्नीस्थानं नहि प्राप्तुं प्रभव तथा तत्कृते दैवपितृकर्मसु भागाऽऽदानस्याधिकारो न भवितुमर्हति। सा तु केवलं दासीकल्पा नारी मन्तव्या—

क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां काश्यपोऽब्रवीत्॥[19]

अस्मिन्नेव धर्मसूत्रे पुनर्निगदितं यद् यो लोभान्धीभूय धनाय स्वपुत्रीं ददाति स आत्मविक्रयी तथा महापातकी भवति, स च घोरनरके पतति। तथा साकमेव पूर्ववर्तिनां परवर्तिनां च अर्जितपुण्यानि ध्वंसयति नाशयति चेति-

शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिताः।
आत्मविक्रयिणः पापा महाकिल्विषकारकाः॥
पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चाऽऽसप्तमं कुलम्॥[20]

पुराणकाले त्वीदृशविवाहपद्धतेः प्रचलनं कुत्रापि न परिदृश्यते। ईदृग्विवाहा-प्रचलनस्य कारणं धर्मशास्त्रग्रन्था-नामननुमोदनमेव। एवं भविष्यपुराणेऽपि प्रोक्तम् -

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।[21]

6. गान्धर्वविवाहः - आश्वलायनरीत्या अस्य विवाहस्य प्रकारोऽयं वर्तते यद् यस्मिन् विवाहे पुरुषः स्त्री च परस्परं निश्चित्य सह गच्छतः स एव गान्धर्वविवाह उच्यते।[22] मनुरीत्या कन्याया वरस्य च अन्योन्यानुरागेण स्वेच्छया यः परस्परसंयोगो भवति स एव गान्धर्व इति कथ्यते-

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥[23]

कतिपयविचारानुसारं विवाहस्य प्रकारोऽयं प्रशस्त आसीत्। यतो हि मूलमस्य पारस्परिकाकर्षणे प्रेम्णि च निहितमस्ति—

गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति स्नेहानुगतत्वात्।[24]

परञ्च अधिकांशेन स्मृतिकाराः पौराणिकाश्च धार्मिकनैतिकाधारेषु न प्रशंसन्ति स्म—

गान्धर्वस्तु क्रियाहीनो रागादेव प्रवर्तते।[25]

पुराणकालेऽपि अस्या विवाहपद्धतेः प्रचलनं यत्र तत्र परिदृश्यते स्म। अस्या गान्धर्वविवाहपद्धत्याः प्रचलनं प्रायशः क्षत्रियेष्वेवासीत्। उदाहरणार्थम् उषाऽनिरुद्धयो-र्विवाहः[26], पुरूरवा-उर्वश्योर्विवाह[27] इत्यादयो विवाहा गान्धर्वपद्धत्या समजनिषत। यद्यपि पुराणकालेऽस्य विवाहस्यात्यधिकप्रश्रयो न ह्यासीत् परञ्चातिनिकृष्टोऽपि नामन्यतेति।

7. राक्षसविवाहः—मनोरनुसारं रुदत्यास्ताडयन्त्याः कन्यायास्तत्सम्बन्धिनो मारयित्वा क्षतविक्षतीकृत्य बलपूर्वकं हरणमेव राक्षसविवाह इति कथ्यते-

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥[28]

विष्णुयाज्ञवल्क्यस्मृती तु राक्षसविवाहस्योद्भवं युद्धात् कथयतः—

''युद्धहरणेन राक्षसः।''
''राक्षसो युद्धहरणात्।''[29] इति।

क्षत्रियाणां कृते राक्षसविवाहः प्रशस्तः प्रदर्शितो भवति-

''राक्षसं क्षत्रियस्यैकम्।''[30]
''गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रियस्य तौ स्मृतौ।''[31]

महाभारते भीष्मोऽपि बलात् कन्यापहरणं क्षत्रियाणां कृते प्रशस्तं मन्यते-

क्षत्रियाणां तु वीर्येण प्रशस्तं हरणं बलात्।[32]

पुराणेष्वपि एतादृशस्य विवाहस्य समुल्लेखः परिदृश्यतेऽस्माभिः, उदाहरणाय कथ्यते यद् राज्ञाऽवीक्षितेन अनया राक्षसविवाहपद्धत्या गौरी, सुभद्रा, लीलावती, नीभा, मान्यावती, कुमुद्वती इत्यादिकन्याभिः सह विवाहोऽकारि।[33] कृष्णस्य रुक्मिण्या सह एवमेव विवाहः सञ्जातः।[34] नाभागेनापि सुप्रभया सह राक्षसपद्धत्या विवाहः कृतः।[35]

प्रसह्य कन्याहरणाद् राक्षसो निन्दितः सताम्।[36]

अतः पुराणसमय एवं गर्हितोऽपि क्षत्रियाणां कृते ईदृशविवाहपद्धतिर्निर्वन्ध आसीत्। परन्तु एतत्पद्धतेरनु-सरणमितरवर्णानां कृते वर्जितमासीदिति प्रतीयते। यतो हि ईदृग् विवाहस्य इतरवर्णैः कृतस्य समुल्लेखः क्वापि नोपलभ्यते पुराणेषु।

8. पैशाचविवाहः—अयं च सर्वाधिकनिकृष्टः प्रकार आसीत्। सुप्त-प्रमत्तविषमस्थिताया: कन्याया हरणमेव पैशाचविवाह इति। मनुरीत्या यश्च कश्चन मनुष्यः सुप्तघ्या मत्तया कन्यया सह रमते स एव पैशाच इति-

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥[37]

अपरं च-

छलेन कन्याहरणात्पैशाचो गर्हितोऽष्टमः।[38]

इयं च विवाहपद्धतिरत्यन्तनिकृष्टाऽऽसीत्। अस्याः प्रचलनं पुराणसमये क्वापि नोपलभ्यतेऽस्माभिरिति। एकार्धमुदाहरणम् एतादृशम् अवश्य मिलति यदा दुष्टप्रवृत्तिका जना बलात् कस्याश्चित् कन्याया उपरि अधिकारकरणाय कुचेष्टा-मकार्षुः। इक्ष्वाकुपुत्री राजा दण्डः शुक्राचार्यस्य पुत्र्या अरजाया उपरि बलाद् अधिकारं कर्तुमैच्छत् परन्तु कन्याद्वारा पितृनिवेदनानन्तरं शुक्राचार्यशापेन स नाशं गतः।[39] परन्तु सुप्ताया मत्ताया: प्रमत्ताया: कन्याया उपरि बलात्कारस्य कुत्रापि कस्मिन्नपि पुराणे समुल्लेखो नोपलभ्यते। अतः पद्धतिरियं तस्मिन् समयेऽपि जघन्याऽऽसीत्। भविष्यपुराणे एषु विवाहेषु प्रशस्तविवाहानां सम्यगुल्लेखो दृश्यते। तथा हि-

ब्राह्मीपुत्रः सुकृत द्वैवोढाजं सुतं शृणु।
दैवोढाजः सुतो विप्राः सप्त सप्त परावरान्॥
आर्षोढाजः सुतः स्त्रीणां पुरुषांस्तारयेद् द्विजः।
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः॥
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः।
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः॥
पुत्रवन्तोऽथ धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः।
इतरेषु निबोधध्वं नृशंसानृतवादिनः॥
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः।
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा॥
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत्॥[40]

विवाहस्य सीमा

भारतवर्षे प्राचीनकालत एव विवाहस्य सीमा निश्चिता कृताऽऽसीत्। कस्या अपि व्यक्तेः स्वगोत्राभ्यन्तरे जातिवर्णतो बहिर्वा विवाहकरणस्य निषेध एव प्राप्यते। पुराणकालिकाः प्राचीना आर्याः सवर्णस्य असगोत्रस्य च नियम पालयामासुः।[41] सूत्रस्मृतिकालेऽपि गोत्रेषु वर्णेषु च विशेषरूपेण ध्यानमासीत्। सगोत्रविवाहस्योपरि पूर्णप्रतिबन्ध आसीत्। एकस्मिन्नेव गोत्रे समुत्पन्नस्य स्त्रीजनस्य पुरुषस्य वा एकस्यैव महर्षेः सन्ततित्वात् परस्परं भ्रातृभगिन्योः सम्बन्धः स्फुटतरमेव मन्यते स्म। अत एतदुपरि विशेषविरोधः पुराणकालेऽपि प्राप्यते तथा अद्यतनेऽपि अस्योपरि विशेषध्यानस्य रक्षणं भवति। परन्तु सवर्णविवाहपद्धतिषु सूत्रस्मृति- पुराणानि विशेषमहत्त्वं प्रददति। भविष्यपुराणेऽपि अत्युत्तमोल्लेखो मिलति-

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥
क्षत्रस्यापि सवर्णा स्यात् प्रथमा द्विजसत्तमा।
द्वे चापरे तथा प्रोक्ते कामतस्तु न धर्मतः॥
वैश्यस्यैका वरा प्रोक्ता सवर्णा चैव धर्मतः।
तथा वरो कामतस्तु द्वितीयो न तु धर्मतः॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य धर्मतो मनुरब्रवीत्।
चतुर्णामपि वर्णानां परिणेता द्विजोत्तमः॥[42]

वीरमित्रोदयस्य विवाहसंस्कारप्रसङ्गे प्रथमतो विवाहाय कुलस्य परीक्षणं विधेयम्। स्फीतादपि न सञ्चारिरोगदोषसमन्वितादिति याज्ञवल्क्यः। यमोऽपि चतुर्दशकुलानी-मान्यविवाह्यानि निर्दिशेत्। अत्रैव मनुराह -

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति वर्षन्ति च महद् यशः॥[43]

स्कन्दपुराणेऽपि कात्यायनयाज्ञवल्क्ययोराधारोपरि प्रवरगोत्रयोः श्रेष्ठतरः समुल्लेखोऽस्ति-

परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा।
त्यागं कृत्वा द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत्॥
उत्सृज्य तां ततो भार्यां मातृवत्परिपालयेत्॥[44]

याज्ञवल्क्यः-

अरोगिणीं भ्रातृमतीम् असमानार्षगोत्रजाम्।
पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा॥[45]

असमानप्रवरैर्विवाह इति गौतमः। भविष्यपुराणेऽपि-

यद्येकं प्रवरं भिन्नं मातृगोत्रवरस्य च।
तत्रोद्वाहो न कर्तव्यः सा कन्या भगिनी भवेत्॥
दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवर्त्तिस्तु पूर्वजः॥
सदा पौनर्भवा कन्या वर्जनीया कुलाधमा।
वाचा दत्ता मनो दत्ता कृतकौतुकमङ्गला॥
उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतका।
अग्निं परिगता या च पुनर्भूः प्रसवा च या॥
इत्येताः काश्यपेनोक्ता वहन्ति कुलमग्निवत्।
मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च॥
समानप्रवरां चैव त्यक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्।
अनुरूपे कुले जातां श्रुतवित्तक्रियादिभिः॥[46]

अतः स्पष्टं भवत्येतद् यत्समयेऽस्मिन् असगोत्रविवाहोपरि असवर्णविवाहोपरि च विशेषबलमासीत्। परन्तु तत्समये अनुलोमप्रतिलोमविवाहस्य प्रचलनमपि सम्भवेत्। एतद्विषयेऽपि अनेकानि उदाहरणानि उपाख्यानानि च प्राप्नुमः। यत्रानुलोमविवाहः समभवत् परन्तु समयेऽस्मिन् प्रतिलोमविवाहस्योदाहरणमेकार्धमेव लभ्यते, सोऽपि विशेषपरिस्थितिवशात्, अतोऽभावादेव विज्ञेयम्।

अनुलोमविवाहः

ब्राह्मणः	**क्षत्रिया**
च्यवनमहर्षिः	सुकन्या

अगस्त्यः लोपामुद्रा
शुक्राचार्यः जयन्ती
जमदग्निः रेणुका

सौभरिमहर्षेर्मान्धातृकन्यया सह विवाहः।

एवंभूतानि अनेकानि अनुलोमविवाहस्योदाहरणानि समुपलभ्यन्ते।

पारिबर्हप्रथा (दहेजप्रथा)

पुराणकाले तथा ततः पूर्वकालेऽपि पारिबर्हप्रथाऽऽसीत्, परन्तु अद्यतन-पारिबर्हप्रथातः सर्वथा भिन्नाऽऽसीत्। तस्मिन् समये कन्यायाः पिता योग्यवरमन्विष्य गवेष्य च अथवा स्वयंवरद्वारा कन्याया विवाहं वैदिकरीत्या वा धार्मिकपरम्परानुसारेण कृतवान् आसीत्। पुराणकाले कन्यावरपक्षाणां केवलमेकमेव परमोद्देश्यं वभूव यत् कुलगोत्रे कन्यावरौ च पवित्रीभूतौ भवेताम्। तेन कुलद्वयस्य समुन्नतौ सहायता सम्भवेदिति। अतः कन्यायाः पितृसकाशाद् वरपिता पारि-वर्हनाम्ना धनस्य कृतेऽन्यसम्पत्तिकृते च आकांक्षां याचनां च प्रस्तावतया न स्थापितवान् आसीत्। परन्तु कन्यायाः पिता स्वकीयं कर्तव्यं मत्वा कन्या दानसमये स्वयोग्यतानुसारं कन्यां अलंकृत्य तया सह सम्पत्तिदासीधनादिकं यथा शक्तिः दत्त्वान् आसीत्। ईदृक धनं प्रतक्षरुपतो पारिवहं धनं इत्युच्यते।

सह-प्राध्यापक, संस्कृतविभाग,
त्रिपुरा विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. मनु. अ. 3, श्लो. 21
2. गरुडपुराणम् - प्रथमो भागः, अ. 55, श्लो. 7-11
3. मनु. 3/27
4. ब्रह्मवैवर्तपुराणम्- 4 श्रीकृष्णजन्मखण्डः, अ. 44, श्लो. 50-62 तथा स्कन्दपुराणम्- 1 माहेश्वरखण्डः, अ. 26, शिवपुराणम्।
5. भागवतपुराणम्- 3 स्कन्धः, अ. 22, श्लो. 13-15
6. तदेव, अ. 24, श्लो. 20-24
7. पद्मपुराणम् - 6 उत्तरखण्डः, अ. 242, श्लो. 147
8. मार्कण्डेयपुराणम् - अ. 21, श्लो. 62
9. ब्रह्मवैवर्तपुराणम् -श्रीकृष्णजन्मखण्डः, अ. 24
10. तदेव, अ. 15
11. बौधायनस्मृतिः - 11/5
12. मनुस्मृतिः - 3 / 29
13. वीरमित्रोदयसंस्कारः, भागः 2, पृ. 822
14. आश्वलायनगृह्यसूत्रम् - 1/6
15. मनुस्मृतिः - 3/30
16. वीरमित्रोदयः भागः 2, पृ. 851
17. स्कन्दपुराणम् - 3 ब्रह्मखण्डः, अ. 6, श्लो. 28
18. मनुस्मृतिः - 3/31
19. बौधायनधर्मसूत्रम् - 11/20
20. तदेव - 11/21-22
21. भविष्यपुराणम् - 7/39
22. आश्वलायनगृह्यसूत्रम् - 1/6
23. मनुस्मृतिः - 3/32
24. गोमिलधर्मसूत्रम् - 2/1/31
25. वीरमित्रोदयसंस्कारः, भागः 2, पृ. 57
26. ब्रह्मवैवर्तपुराणम्-भागः 2, 4 श्रीकृष्णजन्मखण्डे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः, तथा भागवतपुराणम्, दशमस्कन्धः, अ. 53, विष्णुपुराणम् - पञ्चमांशस्तथा देवीभागवतम्।
27. वायुपुराणम् अ. 91
28. मनुस्मृतिः - 3/33
29. याज्ञवल्क्यस्मृतिः अ. 1, श्लो. 61
30. पवियपराणम- 7/20, प्र. 16
31. मनुस्मृतिः - 3/26
32. महाभारतम् 1/245/6
33. मार्कण्डेयपुराणम्-द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः, श्लो. 17-19
34. ब्रह्मवैवर्तपुराणम्-4 श्रीकृष्णजन्मखण्डः, अ, 105-106 : भागवतपुराणम्, 10 स्कन्धः, उत्तरार्धम्, अ. 53: विष्णुपुराणम्, पञ्चमांशः।
35. मार्कण्डेयपुराणम् - अ. 113-114, श्लो. 22-23
36. स्कन्दपुराणम्-3 ब्रह्मखण्ड, अ. 6 श्लो. 29
37. मनु. 3/34
38. स्कन्दपुराणम्- 3 खण्डः, अ, 4, श्लो. 30
39. वामनपुराणम्।
40. भविष्यपुराणम् - 7/32-36, पृ. 17
41. वैदिक इन्डेक्स 2/268
42. भविष्यपुराणम् - 7/32-36
43. मनु. 3 / 66
44. स्कन्दपुराणम् - 3 ब्रह्मखण्डे, गोत्रप्रवरवर्णनम्, अ. 21, श्लो. 10-12
45. याज्ञवल्क्यस्मृतिः - अ. 1, श्लो. 53
46. भविष्यपुराणम्-7/22-27

डॉ. भीमराव अम्बेडकर और बौद्ध धर्म

पूनम देवी* प्रो. ज़ीनत ज़ैदी**

शोध सारांश

डॉ. भीमराव अम्बेडकर, जिन्हें भारत के संविधान का जनक माना जाता है। उन्होंने 14 अक्टूबर 1956 को अपने 3.65 लाख समर्थकों के साथ हिन्दू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म अपना लिया था जिसका मुख्य कारण हिन्दू धर्म में जाति व्यवस्था और असमानता थी। जिसके लिए वह बौद्ध धर्म को एक बेहतर विकल्प मानते थे। डॉ. भीमराव अम्बेडकर जाति व्यवस्था के विरोधी थे और उन्हें यह विश्वास था कि हिन्दू धर्म में अछूतों के लिए कोई मुक्ति नहीं है। उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त छुआछूत, जाति प्रथा और वर्णव्यवस्था के अन्याय और असमानता से तंग आकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उन्होंने बौद्ध धर्म को इसलिए अपनाया क्योंकि इसमें उन्हें सामाजिक सुधार और व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग दिखा। उनके अनुसार यह धर्म किसी तरह के पाखण्ड, जातिवाद आस्थाओं या धार्मिक कर्मकाण्डों पर आधारित नहीं है। उन्होंने कहा था- मेरा धर्म परिवर्तन किसी भौतिक अभिप्राय से प्रेरित नहीं है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे मैं अछूत रहकर ही प्राप्त न कर सकूं। आध्यात्मिक भावना के अतिरिक्त मेरे धर्म परिवर्तन के पीछे कोई भावना नहीं है, धर्म परिवर्तन सांसारिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक है। बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति का एक आवश्यक अंग है। मैंने इस बात का ध्यान रखा है कि मेरे धर्म परिवर्तन से देश की संस्कृति व इतिहास को कोई हानि न पहुंचे। डॉ. भीमराव अम्बेडकर का धर्म परिवर्तन अपने सम्मान व अछूत समाज को उच्च स्तर तक ले जाने के लिए था। वह ऐसे धर्म का स्वीकार करना चाहते थे जो भारतीय हो और उनके समुदाय को समानता का स्थान व बंधुत्व दे सके। इस शोध पत्र में डॉ. भीमराव अम्बेडकर और उनके द्वारा किये गये बौद्ध धर्म परिवर्तन का एतिहासिक अध्ययन किया गया है।

बीज शब्द :

छुआछूत, जातिप्रथा, असमानता, बौद्ध धर्म, भारतीय संस्कृति आदि।

प्रस्तावना :

आजाद भारत के लोकतंत्र को जिन महानविभूतियों ने अपने विचारों से आकार दिया। डॉ. भीमराव अम्बेडकर उनमें से एक थे। उनका योगदान न केवल भारतीय संविधान को योगदान देने में रहा बल्कि उन्होंने आजाद भारत में सभी वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित करने की वह राह भी प्रशस्त की जिसके दम पर आज देश को दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के रूप में विश्व में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर एक ऐसा धर्मनिरपेक्ष भारत चाहते थे जिसमें हिन्दू और मुसलमान मिलकर राज करें और एक न्यायसंगत समाज बना सकें। 25 नवम्बर 1949 को संविधान सभा के अपने अन्तिम अभिभाषण में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने जातियों तथा सम्प्रदायों में व्याप्त विद्वेष पर गहरी चिन्ता व्यक्त की थी।[1]

''क्या कभी भारतवासी अपने-अपने धर्मों से ऊपर देश को रख सकेंगे, अथवा क्या उनके लिए धर्म देश से बड़ा होगा? मुझे नहीं पता किंतु यह निश्चित है कि यदि राजनीतिक दल धर्म को देश से ऊपर रखेंगे तो हमारी आजादी दोबारा खतरे में पड़ जाएगी और शायद हमेशा के लिए हम आजादी से हाथ धो बैठेंगे। ऐसी किसी भी सम्भावना से बचने के लिए

हमें संकल्पबद्ध होना पड़ेगा। हमें यह दृढ़ निश्चय करना होगा कि हम अपने खून के आखिरी कतरे तक अपनी आजादी की रक्षा करेंगे।''[2]

डॉ. भीमराव अम्बेडकर धर्म के महत्त्व को मानते थे। इन्होंने कहा भी था—कुछ लोग मानते हैं कि धर्म अफीम के समान है। मैं सच्चा धर्म चाहता हूँ, लेकिन धर्म के नाम पर किसी प्रकार का ढोंग नहीं चाहता। वे कहते थे-वह धर्म जो अपने ही अनुयायियों से पारस्परिक भेदभाव उत्पन्न करता है पक्षपातपूर्ण है और वह धर्म जो अपने करोड़ों अनुयायियों को आरोपियों से भी बदतर मानकर असहनीय अयोग्यताएँ आरोपित करता है। वह कोई धर्म नहीं है। धर्म और दासता परस्पर विरोधात्मक है।[3]

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार धर्म का प्रयोजन विश्व स्वरूप का विश्लेषण करना ही नहीं है बल्कि विश्व की पुनर्संरचना करना है। नीति धर्म का सार है। नीति के बिना धर्म का अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक समाज में अच्छे सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए नैतिकता पर आधारित धर्म प्रमुख होना चाहिए।[4]

धर्म का दूसरा आवश्यक पहलु यह है कि उसे वैज्ञानिक होना चाहिए। विज्ञान में निष्पक्षता और यथार्थता पायी जाती है। धर्म को बुद्धि या तर्क पर आधारित होना चाहिए जिसका दूसरा नाम विज्ञान ही है। धर्म का तीसरा आवश्यक पहलु है- धर्म को नैतिकता के साथ स्वतंत्रता, समानता तथा मातृत्व को जीवन के मूलभूत सिद्धांतों के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

धर्म का चौथा आवश्यक पहलु यह है कि उसे निर्धनता का अनुमोदन नहीं करना चाहिए। निर्धनता समाज में आर्थिक असमानता की खाई को गहराती है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर गरीबी को सामाजिक बुराई मानते थे न कि शुभ अवस्था। उनके दर्शन और धर्म के आधार हमेशा जीवन और समाज के यथार्थ तथ्य रहे हैं।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने प्रज्ञा, शील, करुणा तथ मैत्री पर बल दिया है। यह उनके दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। ये मूल्य उन्होंने तथागत बुद्ध से ग्रहण किए हैं। तथागत बुद्ध ने दुनिया के दर्शनों में स्वर्णिम मानवतावदी दर्शन को खोजा था। दर्शन के आधार पर अनेक वर्षों तक कई धर्मों का अन्वेषण कर अन्त में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। अन्य धर्मों की समालोचना कर उन्होंने बताया कि सामाजिक विकास के लिए एक साधन के रूप में बौद्धधर्म सर्वश्रेष्ठ क्यों है।

हिन्दू धर्म की बुराईयों से तो डॉ. भीमराव अम्बेडकर पहले से ही त्रस्त थे। उनका हिन्दू धर्म को छोड़ने का कारण सवर्णों का अस्पृश्यों के प्रति निंदनीय व्यवहार ही था। वह धर्म परिवर्तन करके अछूत वर्ग के लिए जो सदियों से उपेक्षित पड़ा था, उसे सम्मान शब्द का अहसास कराना चाहते थे। इसके लिए उन्हें हिन्दू धर्म को छोड़ना जरूरी था। उन्होंने जैन धर्म के बारे में इतना ही बताया कि वह अत्यंत अव्यवहार्य है। ''अंहिसा परमो धर्म'' की जैन शिक्षा अत्यंत उच्च कोटि की है एवं उपयोग की सीमा लांघ चुकी है। इसलिए इस धर्म के प्रति भी उनकी कोई रूचि नहीं थी। वे जानते थे कि सामाजिक और मानवीय पुनर्निर्माण का आधार धर्म है, जिसकी जरूरत भारतीय समाज और धर्म में उपेक्षित है। इसे साम्यवाद कभी पूरा नहीं कर सकता। इसलिए वे साम्यवाद के विरोधी रहे, क्योंकि वे संसदीय प्रजातान्त्रिक पद्धति के प्रेमी थे और इस कारण वे हिंसा के विरोधी थे। बी.बी.सी. लन्दन में सन् 1956 के मई माह में अपने वक्तव्य में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा- मुझे बौद्ध धर्म पसन्द है क्योंकि वह संयुक्त रूप से तीन तत्वों का प्रतिपादन करता है, जिन्हें अन्य धर्मों में संयुक्त रूप से कहीं पाया जाता। बौद्ध धर्म 'प्रज्ञा' की शिक्षा देता है जिसका अर्थ है- मिथ्या विश्वासों को दूर करने वाली निर्मल बुद्धि। 'करूणा' की शिक्षा देता है जिसका अर्थ है- प्रेम और पीड़ित के लिए संवदेना। 'समता' की शिक्षा देता जिसका अर्थ है- जाति, धर्म, नस्ल और लिंग के आधार पर बने नकली विभाजन से अलग मानवीय बराबरी में विश्वास करना। यह तीनों तत्व आदमी के अच्छे और सुखी जीवन के लिए आवश्यक भी है। न कोई भगवान और न ही कोई आत्मा मनुष्य को अपने द्वारा पैदा किए हुए नरक से मुक्ति दिला सकते हैं। धम्मपद के अनुसार, ''बैर कभी बैर से शांत नहीं होता वह अबैर से ही शांत होता है।'' उनका स्पष्ट कथन था कि ''वह धर्म जो विज्ञान के अनुकूल है, जो समाज की आचारसंहिता है, जो गरीबी की बढ़ाई नहीं करता, जो सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनैतिक स्वतंत्रता को अहिंसक पद्धति से बाहर करता है, जो पुरुष तथा स्त्री में बराबरी को मानता है और जो 'यही तथा अभी' के सन्दर्भ में मनुष्य की मुक्ति का महामार्ग है, बौद्ध धर्म है।''

बौद्ध समाज ही बुद्ध के दर्शन का व्यवहारिक क्षेत्र है। इसमें इन तत्वों का प्रयोग किस प्रकार और कहां तक हो रहा है इसका आकलन इस तथ्य से हो जाता है कि विश्व में आज

लाओस, कम्बोडिया, भूटान, थाईलैण्ड, म्यांमार और श्रीलंका ये छह देश अधिकृत 'बौद्ध देश' हैं, क्योंकि इन देशों के संविधानों में बौद्ध धर्म को राजधर्म या राष्ट्रधर्म का दर्जा प्राप्त हुआ है। विश्व की कुल जनसंख्या का हर पाँचवां व्यक्ति बौद्ध है। बौद्ध संस्कृति पर आधारित शब्द और इससे प्रभावित अन्य राष्ट्र भी पंचशील को विश्व शान्ति का मूलभूत मंत्र मानते हैं। स्वयं भारत में बुद्ध और बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चिह्न तो राष्ट्रीय गौरव प्रतीक है। 'भगवान बुद्ध और उनका धम्म' यह ग्रन्थ डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने अनुसार महात्मा बुद्ध के विचारों की व्याख्या की है। बुद्ध ने जो बुद्धत्व प्राप्त किया था उसका मौलिक संदेश सामाजिक बौद्ध धर्म है। इसे उन्होंने जोर देकर समझाया। तत्कालीन अन्य धर्म संस्थाएं राज संस्थाओं के साथ मिलकर सामाजिक विषमता को यथास्थिति रखने में पुनर्जन्म, कर्म तथा अहिंसा जैसी शब्दावली से किस प्रकार जनता को दिग्भ्रमित करते थे और स्वयं बौद्ध धर्म अकेले उसका किस प्रकार प्रतिवाद कर जनतंत्र तथा स्वतंत्र चिंतन का प्रर्वतन करता था। इसका भी सांगोपांग विवेचन उन्होंने उक्त कथन में किया गया।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म का प्रयोग सामाजिक उत्थान के लिए भी सर्वोपरि माना। धम्म और स्त्री का सम्बन्ध सामाजिक उत्थान के लिए कितना महत्वपूर्ण हैं। इसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'द राइज एण्ड फॉल ऑफ हिन्दू विमेन' में सुस्पष्ट किया है। धम्म की दृष्टि से समाज में महिलाओं का स्थान पुरुषों के बराबर है।

आयरिश देशभक्त क्युरन ने कहा था, 'कोई भी व्यक्ति आत्मसम्मान की कीमत पर किसी का आभारी नहीं हो सकता, कोई भी महिला अपने स्त्रीत्व की कीमत पर किसी का आभार व्यक्त नहीं कर सकती और कोई भी राष्ट्र अपनी गरिमा की कीमत पर किसी का आभारी नहीं बन सकता।'[5]

भारतीय नारी को जन्म से पापी, सदा परावलम्बी, हमेशा बन्धनयुक्त, आर्थिक दासत्व में, मार खाने योग्य, मूक तथा वेद का प्रयोग करने पर नरक में जाने वाली, शैतान पति को पूजने के लिए बाध्य, जिसकी हत्या करना क्षुद्र अपराध हो और जिसकी मृत्यु उपेक्षित रहे, इस प्रकार का समझा जाता जा रहा है। परन्तु गागी, मैत्रेयी तथा विश्वारा जैसी वैदिक युग की महिलाएँ थीं जो क्रमशः जनक, याज्ञवल्क्य तथा शंकर जैसे धर्मपंडित और दार्शनिकों के साथ वाद-विवाद करती थीं।

मनुस्मृति के कानून का साम्राज्य भारतीय समाज में आते ही भारतीय बौद्धजन, नारी तथा शूद्र-अतिशूद्र बुद्ध और धम्म से वंचित हो गये ''स्त्री भी पंडिता होती है'' तथा ''बालिका, बालक से बेहतर संतान हो सकती है क्योंकि वह बुद्धिमान और सुशील माता के रूप में जिस बालक को जन्म देगी वह महापराक्रमी तथा चक्रवर्ती सम्राट भी बन सकता है।''[6]

इससे बुद्ध के उपदेश का तत्कालीन राजा प्रसेनजित पर क्या प्रभाव पड़ा होगा इसकी कल्पना की जा सकती है क्योंकि उस समय के पश्चात् आज जो बुद्ध के अनुयायी बौद्ध राष्ट्र है उन पर उक्त वचन का प्रभाव स्पष्ट है। सारे बौद्ध देशों नारी पति की मरणशय्या पर मरने या सती होने को मजबूर न रही न है। वे चाहे तो उसे छोड़ सकती थी, चाहे तो पुनर्विवाह कर सकती थी। उन्हें भिक्षुणियाँ बनने की स्वतंत्रता थी। मुक्ता, मेत्रिका, सोमा जैसी महिलाएं बौद्ध भिक्षुणियाँ थीं। इसी प्रकार बुद्ध ने स्त्री का मूल्यांकन करते हुए कहा कि स्त्री सर्वोच्च तथा अनिवार्य विधायक तत्व है। जिस प्रकार बुद्ध ने अपने अन्तिम सन्देश में कहा कि बुद्ध के पश्चात् धम्म ही तुम्हारी शरण होगी तथा संघ धम्म का उत्तराधिकारी बने, संपत्ति का नहीं। 2500 वर्षों बाद बोधिसत्व डॉ. भीमराव अंबेडकर ने अपने लाखों अनुयायियों के साथ 14 अक्टूबर 1956 की संध्या में नागपुर की दीक्षा भूमि पर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेते हुए यही उद्घोषणा की-

बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणमं गच्छामि,
संघं सरणं गच्छामि।

इसी के साथ भारत में बौद्ध धर्म पुनर्जीवित हुआ। इस घटना के बारे में महापंडित राहुल सांस्कृतायान ने कहा था कि डॉ. अम्बेडकर ने जो झण्डा भारत भूमि में गाड़ दिया उसे कोई हिला नहीं सकता। वास्तव में डॉ. भीमराव अम्बेडकर के धर्म की धारणा आध्यात्मिक सिद्धांतों का समूह है। वह चाहते थे कि यह धारणा सभी मानव प्राणियों पर लागू हो। वे कहते थे धर्म का केवल सिद्धांतों का विषय बनाया जाना चाहिए। वह नियमों का विषय कभी नहीं हो सकता। जब धर्म नियमों के बंधन में बंध जाता है। तब यह धर्म नहीं रहता क्योंकि ऐसा धर्म उत्तरदायित्व का जो सच्चे धार्मिक कार्य का सार है हनन करता है। उनके अनुसार धर्म, सम्पत्ति, सामाजिक स्तर आदि सभी शक्ति व सत्ता के स्रोत हैं क्योंकि धर्म का सीधा सम्बन्ध सामाजिक नैतिकता से है। लोगों के लौकिक कल्याण से है। उन्होंने खुले शब्दों में कहा-यदि हिन्दू धर्म बनाना है। तो उसे

सामाजिक समानता वाला धर्म बनाना होगा। चतुर्वव्य सिद्धांत को समाप्त करना होगा, छुआछूत और जातपात को दूर करना होगा। जब तक यह नहीं किया जाता तब तक अछूत न केवल मन्दिर प्रवेश को ही स्वीकार करेंगे, बल्कि वे हिन्दू धर्म को भी त्याग देंगे। हिन्दू लोग जिसे अपना धर्म मानते थे वह अनेक प्रकार की आज्ञाओं व निषेधों के अतिरिक्त कुछ नहीं था। उन्होंने इन कठोर नियमों पर आधारित धर्म की बड़ी आलोचना की। धर्म के मामले में उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। वह एक ऐसे सच्चे धर्म की स्थापना करना चाहते थे जो आम इंसानों की पहुँच तक हो। उनके अनुसार सच्चे धर्म में निम्ननिखित चार विशेषताएं होनी चाहिए।

1. नैतिकता के रूप में धर्म को प्रत्येक समाज का नियामक सिद्धांत होना चाहिए।
2. धर्म को अगर भली-भाँति कार्य करना है तो उसे बुद्धि-संगत कार्य करना चाहिए और बुद्धि विज्ञान का दूसरा नाम है।
3. धर्म की नैतिकता संहिता को स्वतंत्रता, समानता, एवं बंधुत्व के आदर्शों को पूर्णत: स्वीकार करना चाहिए।
4. धर्म द्वारा निर्धनता का पवित्रीकरण नही होना चाहिए।[7]

निसंदेह जैसा सच्चा धर्म वे चाहते थे ऐसा हिन्दू समाज में कहीं भी देखने व सुनने को नहीं मिला। उन्होंने हमेशा चाहा कि गंदे को स्वच्छ करें, पतित को ऊँचा उठाए और अछूतों को मानवीयता के स्तर तक ले जाकर समानता का अधिकार दिलायें लेकिन हिन्दू समाज ने इसे कभी भी स्वीकार नहीं किया। अंत में चारों ओर से निराश होकर उन्होंने दृढ़ता से कहा—मैंने एक बार ही नहीं सदैव के लिए निश्चय कर लिया है कि धर्म छोड़ना है। मेरे धर्म परिवर्तन में आध्यात्मिक भावना के अलावा और कुछ नहीं हैं और न मेरे आभ्यान्तर में हिन्दू धर्म समा पाता है और न मेरा स्वाभिमान हिन्दुओं से मेल खाता है। उनका हिन्दू धर्म को छोड़ने का कारण सवर्णों का अस्पृश्यों के प्रति निंदनीय व्यवहार ही था।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने धर्म परिवर्तन की खबर चारों ओर फैल गयी। सभी धर्मों के आचार्य उन्हें और उनके समुदाय को अपने-अपने धर्म में लेने का निमन्त्रण देने लगे। धर्म परिवर्तन की बात सुनकर मसूरकर महाराज उनसे मिलने आये तथा उन्होंने उनसे धर्म परिवर्तन न करने का आग्रह किया और कहा कि वह आपके समुदाय को समानता का अधिकार दिलाकर रहेंगे। इसके उत्तर में उन्होंने कहा—आप हमारे एक अछूत महात्मा श्री संकट जी को एक साल तक श्री शंकराचार्य की गद्दी पर बैठायें और सौ चितपावन ब्रह्माण परिवार उनको साष्टांग प्रणाम करें तो मैं यह समझूँगा कि हिन्दुओं का हृदय परिवर्तन हुआ है। तत्पश्चात् उन्होंने एक सभा में अपनी प्रतिज्ञा को दोहराते हुए कहा कि-यदि साक्षात ईश्वर आकर कहे कि हिन्दू धर्म को मत छोड़ो, तो भी मैं इस नरक तुल्य धर्म में अब नहीं रहूँगा।[8]

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दृढ़ता से कहा-अस्पृश्यों के लिये धर्म परिवर्तन के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। मैंने धर्म परिवर्तन करने का उन्हें तो उपदेश दिया है वह केवल उनके कल्याण की दृष्टि से ही है। उनके धर्म परिवर्तन से देश को कोई हानि नहीं होगी। इसका भरोसा दिलाते हुए उन्होंने कहा- मेरे कर्तव्य के तीन उद्देश्य हैं:-

- ⋆ पहला है देश
- ⋆ दूसरा अस्पृश्य समाज
- ⋆ तीसरा है हिन्दी समाज[9]

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने धर्म परिवर्तन का दृढ़ निश्चय कर लिया क्योंकि वह समझ चुके थे कि हिन्दू धर्म उनके समाज की उन्नति में किसी प्रकार से भी बढ़ावा नहीं दे सकता। वह दलित उन्नति का पोषक नहीं है। वे धर्म की आवश्यकता को समझते थे। परन्तु वह अपने पूर्वजों की तरह यह बिल्कुल मानने के लिए तैयार नहीं थे कि वह उस धर्म से हर हालत में चिपके रहें जो न उनके मन को जँचता हो और न ही विकास में सहायक हो।[10]

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा—यदि वे इस्लाम को स्वीकार करते हैं तो मुसलमानों की संख्या इस देश मे दोगुनी जो जायेगी और मुस्लिम प्रभुत्व का खतरा पैदा हो जायेगा। यदि वह ईसाई धर्म को स्वीकार करते हैं, तो ईसाईयों की संख्या अधिक बढ़ जायेगी और इससे भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व सुदृढ़ हो जायेगा। उन्होंने कहा- हम भारत के मूल निवासी हैं और हम किसी ऐसे धर्म को स्वीकार नहीं कर सकते जो हमारा प्रेम बाँटकर या छीनकर विदेश में ले जाने का कारण बने। उनके इन शब्दों से प्रतीत होता है कि उनमें देशभक्ति की भावना कितनी प्रबल थी क्योंकि वह न आर्थिक प्रलोभनों से विचलित हुए और न ही नेतागणों के बड़े-बड़े शब्दों से विचलित हुए। उनका धर्म परिवर्तन अपने सम्मान व अपने अछूत समाज को उच्च स्तर तक ले जाने के लिए था।

बौद्ध धर्म ग्रहण करने का निश्चय तो वह पहले ही कर

चुके थे। केवल इसको रचनात्मक रूप देना शेष था। धर्म परिवर्तन को कार्यरूप देने के लिए उन्होंने 'बौद्ध जन समिति' नाम से एक समिति का गठन किया तथा अपने सहयोगी शंकरानंद शास्त्री से विचार-विर्मश करके उन्होंने 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में धर्म परिवर्तन का निश्चय किया। 13 अक्टूबर 1956 को नागपुर में आयोजित एक कान्फ्रेंस में उन्होंने कहा—मैं अपने लोगों को हीनयान व महायान जैसे भेद से दूर रखकर बुद्ध के मूल उपदेशों की शिक्षा दूँगा। यह एक प्रकार का नवयान या नवबौद्ध धर्म है। बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति का ही एक भाग है। उनकी भविष्यवाणी थी कि 10-15 वर्षों में सारा देश बौद्ध होगा। ब्राह्मण सबसे बाद में बौद्ध धर्म स्वीकार करेंगं। मैं अपने अज्ञानी लोगों को बौद्ध धर्म की शिक्षा दूँगा।[11]

निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध पत्र का यही निष्कर्ष निकलता है कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर जाति व्यवस्था के विरोधी थे और उन्हें यह विश्वास था कि हिन्दू धर्म में अछूतों के लिए कोई मुक्ति नहीं है। उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त छुआछूत, जाति प्रथा और वर्ण व्यवस्था के अन्याय और असमानता से तंग आकर बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। उन्होंने बौद्ध धर्म इसलिए अपनाया क्योंकि इसमें उन्हें सामाजिक सुधार और व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग दिखा। उनके अनुसार बौद्ध धर्म आधुनिकता और मानवता के अनुरूप है। साथ ही बौद्ध धर्म किसी भी तरह के पाखण्ड, जातिवादी आस्थाओं या धार्मिक कर्मकाण्डों पर आधारित नहीं है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने प्रज्ञा, शील, करुणा तथा मैत्री पर बल दिया है। यह उनके दर्शन का केन्द्र बिंदु है। ये मूल्य उन्होंने तथागत बुद्ध से ग्रहण किए हैं। तथागत बुद्ध ने दुनिया के दर्शनों में स्वर्णिम मानवतावादी दर्शन को खोजा था। दर्शन के आधार पर अनेक वर्षों तक कई धर्मों का अन्वेषण कर अन्त में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। धर्म परिवर्तन के कुछ दिनों पश्चात् 6 दिसम्बर 1956 ई. को दलितों के पुरोधा डॉ. भीमराव अम्बेडकर इस दुनिया से विदा हो गये। इससे दलित समाज को गहरा आघात लगा क्योंकि उनके प्रिय नेता इस दुनिया में नहीं रहे। समाज में उनके खाली स्थान को आज तक कोई नहीं भर पाया।

★शोध छात्रा
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय परिसर,
मेरठ (उ.प्र.)

★★शोध निर्देशिका,
प्राचार्या, राजकीय महाविद्यालय,
बी.बी. नगर, बुलन्दशहर, (उ.प्र.)

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड-12 प्रकाशक, अंबेडकर प्रतिष्ठान कल्याण मंत्रालय भारत सरकार।
2. वही
3. डॉ. डी.आर. जाटव, 'डॉ. अम्बेडकर एक प्रखर विरोधी', ए.बी.डी. पब्लिशर्स, जयपुर, 2004, पृ. 34-35
4. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'डॉ. अम्बेडकर व्यक्ति और विचार' चिन्मय प्रकाशन दिल्ली, 1994, पृ. 98
5. डॉ. भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड-15 प्रकाशक, अंबेडकर प्रतिष्ठान कल्याण मंत्रालय भारत सरकार, पृ. 29
6. डॉ. सुनील जोगी, 'दलित समाज के पितामह डॉ. भीमराव अम्बेडकर : डायमण्ड पॉकेट बुक्स, ओखला, नई दिल्ली, 2007, पृ. 99
7. वही
8. पंडित चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, 'नारी जीवन की कहानी', बहुजन कल्याण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 133
9. बंसत मून, 'डॉ. भीमराव अम्बेडकर', नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 1991, पृ. 90
10. राजेन्द्र पचौरिया, 'चित्रमय जीवनी', प्रभाव प्रकाशन दिल्ली, 1991 पृ. 52
11. वही, पृ. 53

डॉ. भावना

फणीश्वर नाथ 'रेणु' के रिपोर्ताज में संवेदना और यथार्थ

हिंदी साहित्य में फणीश्वर नाथ 'रेणु' की पहचान एक कालजयी रचनाकार के रूप में होती है। 'रेणु' मानवीय भावनाओं के चितेरे हैं लेकिन साथ ही वे सामाजिक-राजनीतिक एवं प्राकृतिक त्रासदियों को भी अनदेखा नहीं करते। यही कारण है कि 'रेणु' ने न सिर्फ कथाकार के रूप में उपन्यास, कहानी नामक विधा को समृद्ध किया बल्कि रिपोर्ताज की रचना करके पत्रकारिता को भी समृद्ध किया। रिपोर्ताज शब्द की व्युत्पत्ति 'रिपोर्ट' शब्द से हुई है। 'रिपोर्ट' को हिंदी में रपट, सूचना, प्रतिवेदन, समाचार, वृत्तान्त आदि अर्थों में भी लिया जाता है। फ्रांस में सबसे पहले रपट या रिपोर्ट को रचनात्मक रूप में प्रस्तुत करने वाली विधा के लिए 'रिपोर्ताज' शब्द का प्रयोग हुआ और देखते ही देखते उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में यह पूरे विश्व में एक विधा के रूप में प्रयुक्त होने लगा। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यह विधा प्रचलन में आई। हिंदी का पहला रिपोर्ताज शिवदान सिंह चौहान ने 'लक्ष्मीपुरा' नाम से लिखा। नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास' के चौदहवें खंड में इस विधा को इस तरह व्याख्यायित किया गया है- ''रिपोर्ट के कलात्मक व साहित्यिक रूप को रिपोर्ताज कहते हैं। घटना की तात्कालिक प्रतिक्रिया से भावावेश प्रधान शैली में लिखी गई विधा रिपोर्ताज है। सामान्यत: रिपोर्ताज को युद्ध, अकाल, महामारी, बाढ़ या प्राकृतिक आपदाओं के रचनात्मक चित्रण से जोड़ा जाता है किन्तु जन-सामान्य के जीवन से संबंधित किसी भी प्रसंग पर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है।'' [1]

'रेणु' का कथा-लेखन द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम दौर से शुरू होकर आठवें दशक तक निरंतर चलता रहा। कथाकार होने के साथ-साथ 'रेणु' राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी थे। 'रेणु' के इसी रूप ने उन्हें पत्रकारिता की ओर भी अग्रसर किया। उन्होंने जिस सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों में हिस्सा लिया उन घटनाओं को अंकित करने के लिए उनका अंतर्मन उन्हें सदैव उद्वेलित करता रहता था। यही कारण है कि उन्होंने कथा साहित्य के साथ-साथ रिपोर्ताज भी लिखना शुरू किया। सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होने के साथ उन्होंने अपने जिले और नेपाल के बारे में रिपोर्ताज लिखना शुरू किया। साप्ताहिक जनता में उनके कई लम्बे रिपोर्ताज प्रकाशित हुए, जो उस समय काफी चर्चित भी हुए। बाढ़ पर लिखा गया रिपोर्ताज 'जय गंगा' (1947), 'कोशी डायन' (1948) और 'हड्डियों का पुल' (1950) आदि अनेक रिपोर्ताज बाढ़ और अकाल की विभीषिका पर प्रकाशित हुए। डालमिया नगर के मिल-मजदूरों की हड़ताल पर भी उनका एक रिपोर्ताज 'घोड़े की ताप पर लोहे की रामधुन' शीर्षक नाम से छपा था, पर 'जनता' में प्रकाशित उनके प्रारंभिक रिपोर्ताज में सिर्फ 'सरहद के उस पार', 'जय गंगा' एवं 'हड्डियों का पुल' ही अभी तक उपलब्ध हो पाए हैं। इसके आलावा भी कई साप्ताहिकों में उनके रिपोर्ताज छपे। 'रेणु' तत्कालीन समय में हिंदी के रिपोर्ताज लिखने वालों में अग्रणी थे। पूर्णिया निवासी होने के कारण उन्होंने कोसी के ध्वंस को अपनी आंखों से देखा था जो करोड़ों लोगों के जन-जीवन से जुड़ा हुआ था। 'कोशी डायन' में 'रेणु' ने हमारा परिचय भिन्न-भिन्न पात्रों से कराया है कि हम सीधे एक-दूसरी ही यथार्थ दुनिया में पहुँच जाते हैं। बाढ़ पर भी 'रेणु' ने अलग से दो रिपोर्ताज लिखे हैं- 'पुरानी कहानी : नया

पाठ' और 'पटना जलप्रलय' (1975) में लिखा उनका प्रसिद्ध रिपोर्ताज। बाढ़ की विभीषिका को 'रेणु' ने अपने संपूर्ण जीवन काल में देखा था। कहा जाता है कि 'रेणु' ने बाढ़ के समय एक कमरे में बैठकर यह रिपोर्ताज लिखा था जब वे चारों ओर से पानी से घिरे हुए थे। इस नए पाठ को अभिव्यक्त करने के पीछे लेखक का उद्देश्य राजनीति, राजनीतिक दलों और समाज के प्रतिनिधियों जनसेवकों आदि के माध्यम से उनके वास्तविक रूप को जन सामान्य के समक्ष लाना था, जो इस तरह की विभीषिकाओं के वास्तविक अपराधी होते हैं, और ऐसे समय में भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि की कामना करने में लगे रहते हैं। लेखक के अनुसार-'बाढ़ के नाम पर अपनी गोटी लाल करने में भी वे नहीं चूकते।''रेणु' के रिपोर्ताज में मानव-व्यवहार के सहज और स्वाभाविक चित्र अंकित हुए हैं। 'रेणु' के अब तक उन्नीस रिपोर्ताज उपलब्ध हुए हैं जिनमें 'ऋण-जल-धन-जल' एवं 'नेपाली क्रांति कथा' पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ रिपोर्ताज उनके कहानी संग्रहों में एवं कुछ 'श्रुत-अश्रुत पूर्व' में संकलित किए जा चुके हैं। शेष असंकलित हैं।

'रेणु' द्वारा लिखित ये सभी रिपोर्ताज न सिर्फ एक विधा परक लेखन के साक्ष्य को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं बल्कि एक समय-सीमा में घटित कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं, स्थितियों और आस्थाओं को भी हमारे सामने रखते हैं। इन रिपोर्ताज में कथा साहित्य की विविध-विधाओं का भी प्रयोग हुआ है। कुछ रिपोर्ताज में कहानी विधा का, तो कुछ में संस्मरण का भी प्रयोग हुआ है। इनके रिपोर्ताज की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनमें 'रेणु' का लोक कथाकार जीवन से लेकर नेपाल, बांग्लादेश, पाकिस्तान युद्ध और दक्षिणी विहार के अकाल ग्रस्त क्षेत्र से लेकर बम्बई की फिल्मी दुनिया तक आ जाती है। कभी वे इन रिपोर्ताज में अतीत की स्मृतियों को याद करते हैं तो कभी भविष्य के प्रति चिंतित दिखाई देते हैं। वे यथार्थ को उसकी सूक्ष्मता और जटिलता के साथ इन रिपोर्ताज में अंकित करते हैं। 'रेणु' ने जिस यथार्थ भाव-भूमि पर उपन्यास और कहानियों की रचना की उतनी ही तन्मयता से इन रिपोर्ताज की भी रचना की है। 'बिदापत-नाच' 'रेणु' का वह रिपोर्ताज है जिसमें उन्होंने अपने अंचल के प्रसिद्ध लोक नृत्य बिदापत-नाच का परिचय कराया है। यह मुसहरों, दुसाधों अर्थात् दलित वर्ग के हरिजनों के बीच प्रचलित लोक नृत्य है जिसे पूरी आस्था और विश्वास के साथ रेणु ने पाठकों के सामने अवतरित किया है। लोकजीवन से जुड़े इन कलाकारों का चित्रण चुनौतीपूर्ण मुद्रा के साथ किया गया। वे इस नाच के प्रारंभिक परिचय के बाद ही पाठकों को एक ऐसी मुसहर बस्ती में ले जाते हैं जहां यह नाच साक्षात रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता दिखाई देता है। इस लोक नृत्य के साथ-साथ वह इन लोक कलाकारों की पीड़ा को भी उभारते हैं। इस नृत्य के माध्यम से वे समय और समाज की विद्रूपताओं पर खुलकर कटाक्ष करते दिखाई देते हैं-

"हे नैक जी (नायक जी)!'
हूँ!'
आब हमरो सुनूँ!' (अब मेरी भी सुनिए!)
'बाप रे!....
बाप रे कोन दुर्गति नहीं भेल।
सात साल हम सूद चुकाओल,
तबहूँ उरिन नहीं भेलौं।
कोल्हुक बरद सन खटलौं रात-दिन
करज बाढत हि गेल...।''

दूसरी ओर 'रेणु' के क्षेत्र से सटा हुआ नेपाल का विराट नगर जहां उनका प्रारंभिक जीवन कोइराला-बंधुओं के बीच बीता। इसलिए उन्होंने नेपाल के दो जन आन्दोलनों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। 'सरहद के उस पार में विराट नगर के मिल मजदूरों की त्रासद जीवन स्थितियों को दर्शाने के साथ-साथ वे पूंजीपतियों पर भी व्यंग्य करते हैं। इन आन्दोलनों ने जिस प्रकार नेपाल की पृष्ठभूमि को बदला उसने ही 'नेपाली क्रांति-कथा' की आधार शिला रखी। विराट नगर के पूंजीपति वहां के मजदूरों के साथ जिस प्रकार पशुवत व्यवहार कर रहे थे और वे अपनी मांगों को लेकर हड़ताल भी नहीं कर सकते थे इन सभी विषम परिस्थितियों को 'रेणु' 'सरहद के उस पर' में लिख रहे थे।

'ऋण-जल-धन-जल' में 'रेणु' ने बिहार में पड़े अकाल और सूखे की विभीषिका को चित्रित किया है। इस पुस्तक के दो खंड हैं पहला खंड बाढ़ से और दूसरा सूखे से संबंधित है। एक खंड में जल की अधिकता के कारण विनाश है और दूसरे में जल के न होने के कारण। गरीब क्षेत्रों के लोग अपने सामानों के साथ रोते बिलखते हैं उनकी स्थिति जानवरों से भी बदतर है। राहत कार्यों में भी भ्रष्टाचार किया जा रहा है और शेष सामग्री को समाज सेवी नेताओं, कार्यकर्ताओं के द्वारा

बीच में ही साफ कर दिया जाता है। सन् 1977 के अकाल से संपूर्ण उत्तरी भारत प्रभावित था। परंतु सबसे अधिक प्रभावित थे उत्तर प्रदेश और बिहार। इसके अतिरिक्त 'श्रुत-अश्रुत पूर्व' 'रेणु' के वैयक्तिक निबंधों, संस्मरणों एवं रिपोर्ताज का पहला संग्रह है। इस संग्रह में 'रेणु' के जीवन एवं उनकी विचारधारा का परिचय मिलता है। 'रेणु' ने अपने रिपोर्ताज में समय की नब्ज को सही तरीके से पकड़ा है और किसी भी महत्त्पूर्ण घटना के प्रति उदासीन न रहकर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया दी है। 'रेणु' ने अपने रिपोर्ताज के द्वारा पाठक वर्ग का ध्यान इस ओर आकृष्ठ कराया है कि भारतीय जनता मूल रूप से उत्सवधर्मी है। तमाम विषमताओं के बाद भी इनकी उत्सवधर्मी जिजीविषा समाप्त नहीं होती। 'रेणु' ने अपने संक्रमण काल में साहित्यकार और पत्रकार की भूमिका में रहते हुए सामाजिक विषमताओं को देखा और तमाम विद्रूपताओं के खिलाफ लिखा। इन्होंने अपने रिपोर्ताज में सरकारी तंत्र के जन विरोधी निरंकुश चरित्र का भी खुलकर विरोध किया। उपन्यास और कहानी में 'रेणु' जिस आंचलिकता का समावेश करते हैं वहीं उनके रिपोर्ताज भी इस आंचलिकता से अछूते नहीं रहे हैं। रिपोर्ताज में कहीं फ्लैश-बैक शैली का दर्शन मिलाता है तो कहीं कल्पना के द्वारा भविष्य को मूर्त किया गया है। उन्होंने कहीं-कहीं गीतात्मकता का प्रयोग करके वातावरण को रोचक बनाने का प्रयास किया है। एक तरफ जहां रचनाओं में यथार्थवादी आग्रह के कारण उनका रचनात्मक और साहित्यिक पक्ष गौण हो जाता है और वे यथार्थ का विवरण मात्र बनकर रह जाती हैं। दूसरी तरफ वहीं कलात्मक सृजनशीलता में यथार्थवादी पक्ष कमजोर हो जाता है। 'रेणु' इन दोनों विरोधी रूपों को साधते हुए नजर आते हैं। उनके रिपोर्ताज एक कथाकार के रिपोर्टर स्वरूप को उजागर करते हैं। यह 'रेणु' के रिपोर्ताज की विशेषताएं हैं जिसमें विषमता मूलक समाज के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पहलू एक-दूसरे से परस्पर गुथे हुए हैं। 'रेणु' का 'पुरानी कहानी : नया पाठ' नामक रिपोर्ताज 1963-64 में 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुआ था जिसमें 'रेणु' का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ था। वे कहते हैं, ''गत महायुद्ध (द्वितीय विश्व युद्ध के संबंध में) ने चिकित्सा-शास्त्र के चीर-फाड़ (शल्य चिकित्सा) विभाग को पेनसिलिन दिया और साहित्य के कथा-विभाग को रिपोर्ताज!''[3] रिपोर्ताज की महत्ता को 'रेणु' के इस वक्तव्य से समझा जा सकता है।

'रेणु' के इन रिपोर्ताज की साहित्यिक महत्ता तो है ही, इनका समाजशास्त्रीय महत्व भी है। जिनमें यथार्थ की अनेक परते हैं। 'रेणु' के रिपोर्ताज में यथार्थ का चित्रण ही नहीं है बल्कि उसमें एक आलोचनात्मक स्वर भी है। इस तरह हम देखते हैं कि रिपोर्ताज ही वह विधा है जिसमें रेणु ने अपने विभिन्न जीवन-प्रसंगों को विस्तार से रखा है। इन रिपोर्ताज में उनके जीवन के साथ-साथ उनके घर-परिवेश का भी जीवंत रूप चित्रित हुआ है। ऐसे प्रसंग उनके उपन्यासों एवं कहानियों में नहीं मिलते, किन्तु उनके रिपोर्ताज में जगह-जगह उनके जीवन की झलकियां दिखाई देती हैं। ये उनके रिपोर्ताज को प्रमाणिक ही नहीं बनाती, अपितु इस विधा को लचीला, सरस एवं यथार्थवादी भी बनाती है।

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
कलबुर्गी, 585367

सन्दर्भ सूची

1. हिंदी साहित्य का वहद् इतिहास - रिपोर्ताज के अंश में
2. रेणु रचनावली-4, पृ. 24
3. वही, पृ. 9

सन्दर्भ ग्रन्थ

★ डॉ. शिवचंद प्रसाद, फणीश्वर नाथ 'रेणु' युग चेतना एवं मूल्यबोध (गाजियाबाद : ज्योति प्रकाशन, 2012)
★ डॉ. पुष्पा जतकर, रचनाकार रेणु (नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1992)
★ डॉ. रेणु शाह, फणीश्वर नाथ 'रेणु' का कथा शिल्प (हैदराबाद : मिलिंद प्रकाशन)
★ पूर्णदेव, रेणु का आंचलिक कथा-साहित्य (नयी दिल्ली : आशा प्रकाशन गृह)
★ भारत यायावर, फणीश्वर नाथ 'रेणु' के रिपोर्ताज (प्रेरणा प्रकाशन)

राजेश कुमार

नागार्जुन की कविताओं में पर्यावरण चेतना

सार-संक्षेप :

पर्यावरणीय संकट से जूझना मानवता के समक्ष उपस्थित सबसे गंभीर दायित्व है। इस दायित्व-बोध ने साहित्य रचना तथा आलोचना को 'पर्यावरण विमर्श' के अभिमुख ला खड़ा किया है। पर्यावरण-विमर्श साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण और समकालीन विमर्श है, जो प्रकृति, पर्यावरण, और मनुष्य के बीच संबंधों को केंद्र में रखता है। यह विमर्श विशेष रूप से इस बात की पड़ताल करता है कि साहित्य में प्रकृति को कैसे चित्रित किया गया है तथा यह चित्रण प्रकृति के साथ मनुष्य के शोषणमूलक सम्बन्ध को रागात्मक संबंध की ओर किस भांति अग्रसर करता है।

नागार्जुन आधुनिक हिंदी साहित्य में जनकवि के रूप में ख्यात हैं। समकालीन राजनीति के साथ-साथ प्रकृति और लोकजीवन उनकी कविताओं के प्रमुख विषय रहे हैं। पर्यावरण विमर्श की समकालीन दृष्टि से नागार्जुन की कविताओं में प्रकृति की उपस्थिति, उसके स्वरूप तथा प्रासंगिकता की पड़ताल करना इस अध्ययन का उद्देश्य है।

बीज शब्द :

प्रकृति, पर्यावरण, पारिस्थितिक, संरक्षण, पर्यावरण विमर्श

भूमिका :

पर्यावरणीय संकट आज वैश्विक स्तर पर मानवता के समक्ष एक गंभीर चुनौती के रूप में उपस्थित है। इस संकट का स्वरूप केवल वैज्ञानिक या तकनीकी नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक विमर्शों से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। पर्यावरण विमर्श (Eco-criticism) के अंतर्गत साहित्य में प्रकृति, पर्यावरण और मनुष्य के पारस्परिक संबंधों की पड़ताल की जाती है। नागार्जुन, जिनका साहित्य जनसरोकारों से गहराई से जुड़ा है, अपनी कविताओं में प्रकृति को प्रभावशाली ढंग से चित्रित करते हैं। यह अध्ययन एक प्रयास है यह समझने का कि

1. नागार्जुन की कविताओं में प्रकृति और पर्यावरण का चित्रण किस प्रकार हुआ है?
2. क्या उनकी कविताओं में पारिस्थितिक चेतना के तत्व निहित हैं?
3. पर्यावरण विमर्श की समकालीन दृष्टि से उनकी कविताओं का पुनर्पाठ किस प्रकार किया जा सकता है?
4. नागार्जुन की कविताएँ पर्यावरण की चेतना को किस प्रकार जन-मानस तक पहुँचाने में सहायक बनती हैं?

पर्यावरण विमर्श :

वर्त्तमान समय में पर्यावरणीय संकट मानव सभ्यता के समक्ष सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक बनकर उभरा है। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में भी इन मुद्दों पर गहन विमर्श की आवश्यकता महसूस की गई, और इसी आवश्यकता ने 'पर्यावरण विमर्श' या 'Ecocriticism' जैसी आलोचनात्मक प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

पर्यावरणीय विमर्श एक अंतरविषयक आलोचना प्रणाली है। इसकी शुरूआत 1970 के दशक में पश्चिम में हुई और 1990 के बाद यह प्रमुख सैद्धांतिक धाराओं में गिना जाने लगा। चार्ल्स बीट्टी, ग्लॉटफेल्टी, और लॉरेंस बुइएल जैसे आलोचकों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह विमर्श वैश्विक

और स्थानीय दोनों स्तरों पर विकसित हुआ है।

शेरिल ग्लॉटफेल्टी के अनुसार–"ecocriticism is the study of the relationship between literature and the physical environment"[1] (इकोक्रिटिसिज्म साहित्य और भौतिक पर्यावरण के बीच संबंधों का अध्ययन है) यह प्रकृति को केवल एक पृष्ठभूमि या अलंकारिक उपकरण मानने के बजाय उसे एक सक्रिय, आत्मीय और राजनीतिक तत्त्व के रूप में देखता है। इसमें अनेक सैद्धांतिक अवधारणाएँ जुड़ी हुई हैं। इनमें पारिस्थितिकी सिद्धांत, डीप इकॉलॉजी, इकोलॉजिकल मार्क्सवाद, फेमिनिस्ट इकॉलॉजी, स्थानीयता और आदिवासी दृष्टिकोण शामिल हैं। इसके तहत साहित्यालोचन के विविध उपादानों का उपयोग होता है। उनमें से एक है–

'पारिस्थितिक चेतना' (Ecological Consciousness), जिसमें लेखक और पात्रों की पर्यावरण के प्रति संवेदना का विश्लेषण किया जाता है।

हिंदी साहित्य में प्रकृति–वर्णन की सुदीर्घ परंपरा मिलती है। इस संदर्भ में नागार्जुन का काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाबा नागार्जुन (1911–1998 ई.) की कविताओं में पर्यावरणीय चेतना की एक गहरी अंतर्धारा प्रवाहित होती है। नामवर सिंह कहते हैं–''नागार्जुन के काव्य–संसार का एक बहुत बड़ा भाग अनूठे प्रकृति–चित्रों से सजा है, जिनसे कवि की गहरी ऐन्द्रियता और सूक्ष्म सौन्दर्य–दृष्टि का एहसास होता है।''[2]

सहअस्तित्व और सहजीवन के प्रति निष्ठा :

लेखन के लिए विषयवस्तु का चयन रचनाकार की अपनी प्राथमिकताओं का द्योतक होता है। लोकजीवन, प्रकृति और समकालीन राजनीति नागार्जुन की रचनाओं के मुख्य विषय रहे हैं। रचना के लिए इस प्रकार की विषय–वस्तुओं का चयन उनके पर्यावरण–सम्पृक्ति और सरोकार का संकेत करते हैं। कवि अपनी प्रतिबद्धता की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहते हैं–

''सम्बद्ध हूँ, जी हाँ, सम्बद्ध हूँ– सचर–अचर सृष्टि से / शीत से, ताप से, धूप से, ओस से, हिमपात से''[3] (प्रतिबद्ध हूँ)।

कवि की यह घोषणा प्रकृति के समस्त अवयवों, जिनमें मानव भी शामिल है, के सहस्तित्व का सन्देश देती है। सहअस्तित्व की यह भावना कवि के अंत:स्थल में निहित है। तभी तो प्रकृति के सान्निध्य में कवि को अपनी जड़ों की ओर लौटने का अहसास होता है– ''शुरू–शुरू कातिक में/निशा शेष ओस की बूंदियों से लदी हैं/अगहनी धान की दुद्धी मंजरियाँ/पाकर परस प्रभाती किरणों का/मुखर हो उठेगा इनका अभिराम रूप/टहलने निकला हूँ 'परमान' के किनारे–किनारे/ बढ़ता जा रहा हूँ खेत की मेड़ों पर से, आगे/वापस मिला है अपना वह बचपन/कई युगों के बाद आज''[4] (पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने)।

कवि प्रकृति के समस्त उपादानों में, उनकी गतिविधियों में एक लय पाता है। यह लय सहजीवन का द्योतक है, जो प्रकृति के कण–कण में अन्तर्निहित है। सहजीवन की लय संगीत का आनंद पैदा करती है–''धिन–धिन–धा धमक–धमक/मेघ बजे/दामिनि यह गई दमक/मेघ बजे/दादुर का कंठ खुला/मेघ बजे/धरती का हृदय धुला/मेघ बजे''[5] (मेघा बजे)

प्राकृतिक न्याय :

यह प्रकृति सबको समान भाव से अमृत पान कराती है, जीवन और पोषण देती है। 'बादल भिगो गए रातोंरात' कविता में मेघ के रूपक से कवि कहते हैं–''उतरा है मानसून/भिगो गया है/रातोंरात सबको/इनको/उनको/ हमको/ आपको/मौसम का पहला वरदान/पहुँचा है सभी तक।''[6]

कवि हर सृजन को प्रकृति में अन्तर्निहित सहजीवन, उसके उपादानों के बीच सामंजस्य के परिणाम के रूप में देखते हैं। 'फसल' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं–''और तो कुछ नहीं है वह/नदियों के पानी का जादू है वह/हाथों के स्पर्श की महिमा है/भूरी–काली–संदली मिट्टी का गुण धर्म है/रूपांतर है सूरज की किरणों का/लिपटा हुआ संकोच है हवा की थिरकन का!''[7]

चेतन व सक्रिय प्रकृति :

नागार्जुन की कविताओं में प्रकृति केवल एक सौंदर्य–तत्त्व नहीं है। वे प्रकृति को न तो रोमांटिक दृष्टि से देखते हैं, न ही मात्र पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करते हैं, बल्कि वह उनकी कविता में एक सक्रिय पात्र की तरह उपस्थित होती है– संघर्षरत और संवादशील। 'वह तो वो नहीं है' शीर्षक कविता में वे नन्हें पेड़ से अपनी दोस्ती का जिक्र करते हैं–''ढाई–साल वाले उस शिशु से/मैंने यहीं तो दोस्ती गाँठी थी?/उसका नाम 'अ' से था न?/फलवाली प्रजाति का यह तरूण तरू।''[8]

प्राकृतिक विविधता का सम्मान :

घुमक्कड़ प्रवृत्ति के कवि, नागार्जुन ने प्रकृति की विविधता

का रम्य चित्रण किया है। ऐसा करके वे प्राकृतिक विविधता का सम्मान करते हैं। उनकी कविताओं में जैविक घटकों-नेवला, सांप, मेंढक, जुगनू, सूअर, तरह-तरह के पेड़-पौधों के अलावा भौतिक घटकों-मैदान, पहाड़, नदी-सागर की विविधता बहुतायत में प्राप्त होती है। पहाड़ों की चोटियों पर वे बादलों को बड़े करीब से देखते हैं-''अमल धवल गिरी के शिखरों पर/बदल को घिरते देखा है/छोटे-छोटे मोती जैसे/उसके शीतल तुहिन कणों को/मानसरोवर के उन स्वर्णिम कमलों पर गिरते देखा है/बदल को घिरते देखा है''[9] (बादल को घिरते देखा है)।

वे विविध प्राकृतिक घटनाओं का साक्षात्कार करते हुए कौतुक, विस्मय व रोमांच से भर उठते हैं-''देख रहा हूँ, बरफ पड़ रही कैसे/बरस रहे हैं आसमान से धुनी रूई के फाहे/या कि विमानों में भर-भरकर यक्ष और किन्नर बरसाते/-कास कुसुम अविराम/ढँके जा रहे देवदार की हरियाली को अरे दूधिया झाग।''[10]

ग्राम्य जीवन से अनुराग :

नागार्जुन को ग्राम्य जीवन से अनुराग है। दूर रहने पर उन्हें अपना गाँव बहुत याद आता है। न केवल स्वजन-परिजन, बलिक गाँव के प्राकृतिक उपादानों से उन्हें आत्मीय लगाव है। यह स्नेह-बंधन उन्हें अपनी ओर खींचता है-''याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम/याद आतीं लीचियाँ, वे आम/याद आते मुझे मिथिला के रूचिर भू-भाग/याद आते धान/याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान/याद आते शस्य-श्यामल जनपदों के/रूप-गुण अनुसार ही रक्खे गए वे नाम/याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय, अति अभिराम।''[11]

अपने गाँव के पर्यावरण में पहुँचकर वे आह्लादित हो जाते हैं-''बहुत दिनों के बाद/अबकी मैंने जी-भर भोगे/गंध-रूप-रस-शब्द-स्पर्श सब साथ-साथ इस भू पर/-बहुत दिनों के बाद।''[12]

प्रकृति के रम्य अनुभवों को ही नहीं, कटु अनुभवों को भी कवि उसी तन्मयता से जीते हैं-''सुबह-सुबह/रात्रि शेष की भींगी दूबों पर/नंगे पाँव चहलकदमी की/सुबह-सुबह/ हाथ-पैर ठिठुरे, सुन्न हुए/माघ की कड़ी सर्दी के मारे।''[13]

नागरीय जीवन की अपेक्षा ग्राम्य जीवन प्रकृति के अधिक समीप होता है। वह समग्र प्रकृति के साथ तादात्म्य से आगे बढ़ता है। यह तादात्म्य ग्रामीण समाज को प्रकृति के सभी उपादानों, गतियों और रूपों के प्रति समादर से भर देता है। ऋतुओं के पर्व, फसलों के पर्व उसकी उल्लासपूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं। कवि अपने गाँव में, प्रकृति के सान्निध्य में पहुँचकर आत्मीयता महसूस करते हैं, उल्लसित होते हैं-''नागार्जुन वाकई में प्रकृति के जीवनोत्सव के कवि हैं। कविता में वे याद आता मुझे तरौनी गाँव कहकर अपनी चेतना का प्रमाण देते हैं, तो उपन्यास बाबा बटेसरनाथ में वटवृक्ष को ही बुजुर्ग मानकर सम्मानित करते हैं।''[14]

पारिस्थितिक बोध :

नागार्जुन की प्रकृति विषयक अनेक कविताओं में पारिस्थितक सम्बद्धता का बोध स्पष्ट या गौण रूप में व्याप्त मिलता है। क्रंदन भी भा सकता है, ऋतु-संधि, मेघ बजे, अब के इस मौसम में, मेरी भी आभा है इसमें, फसल जैसी कविताएँ इस फेहरिस्त में ज्ञामिल हैं। 'अकाल और उसके बाद' शीर्षक कविता में उनका पारिस्थितिक बोध बहुत मुखरता से अभिव्यक्त हुआ है-''कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास /कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास/कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गस्त/कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।''[15]

यह कविता महज भूख की नहीं, बल्कि उस पारिस्थितिक असंतुलन की भी कविता है, जो मनुष्य की लोलुपता और शासन-प्रणालियों की विफलताओं से उपजा है। नागार्जुन ऐसी कविताओं के माध्यम से मानों आने वाले पर्यावरणीय संकटों के प्रति आगाह करते हैं।

पर्यावरणीय समस्या का उद्घाटन :

यों नागार्जुन की कविताओं में सहज-स्वाभाविक पर्यावरण का चित्रण बहुलता में हुआ है, पर कहीं-कहीं वे मनुष्य द्वारा प्रकृति के अंधाधुंध शोषण तथा पारिस्थितिक तंत्र से छेड़-छाड़ की ओर स्पष्टत: इंगित करते हैं-''वहाँ एक हरियाणवी गाय/फ्रिज वाली घास खाती है/और 45 लीटर दूध देती है रोज''[16] (बच्चा चिनार)।

आज मनुष्य पूंजीवादी लोभ के दुश्चक्र में फँस गया है। औद्योगिक प्रगति ने इस लोभ की पूर्ति के लिए प्रकृति के दोहन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मुनाफाखोरी की पूंजीवादी मानसिकता ने बड़ी चालाकी से उपभोक्तावाद और बाजारवाद को नई संस्कृति के रूप में स्थापित कर दिया है। इस छद्म संस्कृति की चकाचौंध ने प्रकृतिनंदिनी- सीता (मानवता) को दिग्भ्रमित कर दिया है। कवि कटाक्ष द्वारा इसकी पोलन खोलते

हैं-''सीता हुई भूमिगत, सखी बनी सूर्पनखा/वचन बिसर गए देर के, सवेर के !/बन गया साहूकार लंकापति विभीषण/पा गए अभयदान शावक कुबेर के/साहूकार जी उठा दसकंधर, स्तब्ध हुए मुनिगण/हावी हुआ स्वर्णमृग कन्धों पर शेर के।''[17] (भूले स्वाद बेर के)

शोषण के इस दुश्चक्र में प्रकृति पीड़ा झेल रही है। जब प्रकृति पीड़ा झेल रही है, तो मनुष्य का पीड़ित होना स्वाभाविक है-''सामने सरपट पड़ा मैदान/है न हरियाली किसी भी ओर/तृण-लता-तरूहीन नग्न प्रांतर देख/उठ रहा सर में बड़ा ही दर्द/हरा धुंधला या कि नीला/आ रहा चश्मा न कोई काम/किन्तु मुझको हो रहा विश्वास/यहाँ भी बादल बरसने जा रहा है आज/अब न सर में उठेगा फिर दर्द''[18] (ऋतु-संधि)।

ऐसे में मानवता के त्राण के लिए कवि छोटे-मोटे संशोधनों का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मुक्ति का आग्रही है-''मन करता है/नंगा होकर मैं खड़ा रहूँ सागर-तट पर/कुछ घंटों तक क्या, जीवन-भर''[19] (मन करता है)।

प्रकृति से रागात्मक संबंध की मांग :

आज जब पर्यावरण-जागरूकता बढ़ी है, तब प्रदूषण फैलाने वाली पूंजीवादी ताकतें पर्यावरणीय समस्या के समाधान के नाम पर भ्रम का बाजार खड़ा कर रही हैं। जलस्रोतों को स्वच्छ रखने की बाजाय, मँहगे बोतलबंद पानी का प्रचार किया जा रहा है, स्वच्छ हवा के लिए वृक्ष लगाने का नहीं, 'ऑक्सीजन-वार' का विकल्प परोसा जा रहा है, सूरज की किरणों को हानिकारक बताकर विटामिन-डी की गोलियों का विकल्प बेचा जा रहा है। ऐसे में सावधानीपूर्वक सही दिशा में बढ़ने की जरूरत है। प्रभाकर हेब्बार इल्लत कहते हैं-

''पर्यावरणीय विमर्श का अंतिम मकसद यह है कि प्रकृति और मानव के बीच पुनीत रागात्मक संबंध का विकास हो।''[20]

इस पुनीत रागात्मक संबंध के विकास के लिए कवि नागार्जुन एक अनूठी 'हरित क्रांति' का आह्वान करते हैं-''पसीना-पसीना हो जाते हैं तरूण/लगाते-लगाते सम्पूर्ण क्रांति के नारे/फूल-फूल जाती है गर्दनों की नसें /काश वे भी जेल के पिछवाड़े क्यारियों में/कुछ-न-कुछ उपजा के चले जाएँ/ भले दूसरे ही उनकी उपज के फल खाएँ''[21] (सिंके हुए दो भुट्टे)।

इस दिशा में की गई हर पहल को कवि क्रांति के विस्तार के रूप में देखते हैं और उसकी महत्व प्रतिष्ठा करते हैं-''किसका भी खुदवाया हो यह पोखरा/कुछ रहा हो उनका नाम !/जो लगा गए हैं एक ही पांत में/सात-सात हरसिंगार के ये नन्हें पौधे/उनके ही नाम जमा करूंगा मैं दो अंजुरी फूल/नन्हें-नन्हें फूल/लाल डंठलोंवाले फूल''[22] (नन्हें-नन्हें फूल)।

पर्यावरणीय समस्या अमावस के गहन अन्धकार जैसी निराशापूर्ण है। समाधान की राह और भी कठिन हो जाती है, क्योंकि पूंजीवादी ताकतों का शिकंजा बहुत निर्मम है। तथापि कवि जीत के प्रति आशान्वित हैं। वे आशान्वित हैं कि जुगनुओं जेसे उजास के छोटे-छोटे योगदानों से, उनके समेकन से जंगल को-पारिस्थितिक तंत्र को अक्षत तथा जीवंत रखने के संघर्ष में सफलता अवश्य मिलेगी-''गीली भादो/रैन अमावस/कैसे ये नीलम उजास के/अच्छत छींट रहे जंगल में/कितना अद्‌भुत योगदान है/इनका भी वर्षा-मंगल में/लगता है ये ही जीतेंगे/शक्ति प्रदर्शन के दंगल में''[23] (जान भर रहे हैं जंगल में)।

इस जीत के फलस्वरूप प्रकृति के तादात्म्य से एक आनंदपूर्ण जीवन के प्रति कवि अपनी आस्था प्रकट करते हैं-''आज मगर उगते सूरज को/देर तक देखेंगे/करेंगे अर्पित बहते जल का अर्घ/गुनगुनाएँगे गद्‌द होकर-'ओं नमो भगवते भुवन-भास्कराय/ओं नमो ज्योतिरीश्वराय/ओं नमों सूर्याय सवित्रे'/ देखना भई रत्नेश्वर, जल्दी न करना ! लौटेंगे इत्मीनान से/पछाड़ दिया है आज मेरे आस्तिक ने मेरे नास्तिक को''[24] (पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने)।

निष्कर्ष :

पर्यावरण विमर्श की दृष्टि से नागार्जुन की कविताएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। एक तो उन्होंने प्रकृति और लोकजीवन को प्रमुखता से अपनी कविताओं का विषय बनाया, दूसरे उनमें पर्यावरणीय चेतना का गहरा स्वर भी अंतर्निहित है। 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में नागार्जुन की पर्यावरणीय चेतना का निरूपण करते हुए बच्चन सिंह कहते हैं-''जनपदीय मौसम, ऋतुचक्र, पेड़-पौधे, फूल-फल उनकी चेतना में ऐसे बसे हैं, जैसे धमनियों में बहने वाला खून। उनके सौन्दर्य चित्रण में कवि का उल्लास भी बरसता चलता है। पाठक कवि के साथ खेतों की मेड़ों पर घूमता, कछारों में उतरता, गेहूँ-धान की बालों को छूता-घूमता, मौलश्री, कटहल की टटकी गंध को सूंघता, वंशी-मादल के स्वरों पर झूमता, किशोरियों के कोमल कंठ में डूबता आज के ऊबड़-खाबड़ जीवन को नया अर्थ और

आस्तिकता देता है।''[25]

नागार्जुन की कविता में लोक जीवन और पर्यावरण का ऐसा सामंजस्य दिखाई देता है, जो आज के वैश्विक पर्यावरणीय संकट की पृष्ठभूमि में और भी प्रासंगिक हो उठता है। उनके यहाँ प्रकृति को केवल सौंदर्य के लिए नहीं, बल्कि जीवन के स्रोत और सहचर के रूप में चित्रित किया गया है। नागार्जुन की दृष्टि में विकास वह नहीं, जो पर्यावरण को नष्ट करके आगे बढ़े, बल्कि वह है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति दोनों का संतुलित सह-अस्तित्व सुनिश्चत हो। आज जब जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता की हानि, और प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन जैसे मुद्दे मानव अस्तित्व को चुनौती दे रहे हैं, नागार्जुन की कविताएँ हमें एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रदान करती हैं- एक ऐसी दृष्टि जिसमें लोक चेतना, प्रकृति प्रेम और पर्यावरणीय संतुलन निहित है। अत: नागार्जुन ने हिंदी पर्यावरण कविता को एक सक्रिय, लोक-संवेदी, न्यायोन्मुखी विमर्श के रूप में विस्तारित किया, जो बहुत ही प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
अररिया कॉलेज, अररिया

सन्दर्भ सूची

1. Cheryll Glotfelty and Harold Fromm (Eds), The Ecocriticism Reader : Landmarks in Literary Ecology. Athens and London: University of Georgia, 1996, p-xviiii.
2. डॉ. नामवर सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ नागार्जुन, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 07
3. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 15
4. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 17
5. नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक-डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 68
6. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 90-91
7. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 74
8. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 86
9. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिलली, संस्करण 2019, पृष्ठ 63
10. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक-डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 66
11. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 28-29
12. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 72
13. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 33
14. कृष्ण बिहारी पाठक व डॉ. अनिल अग्रवाल, पर्यावरणीय सैद्धांतिकी एवं अनुप्रयोग, संपादक-डॉ. प्रीति अग्रवाल व डॉ. अलका तिवारी, वान्या पब्लिकेशन्स, कानपुर, संस्करण 2021, पृष्ठ 133-34
15. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 98
16. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 82
17. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर

सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 103
18. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 68
19. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 92
20. प्रभाकर हेब्बार इल्लत, पर्यावरण और समकालीन हिंदी साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2024, पृष्ठ 50
21. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 75
22. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 122-123
23. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 76-77
24. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएँ, संपादक- डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 18
25. डॉ. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2014, पृष्ठ 413

डॉ. सुनीता दुरंगल

कुछ आहटें, सोवियत और अन्ना अख्मातोवा

सदियाँ लग जाती हैं दशकों की 'गुलामी' से उबरने में, और 'गुलामी' देश की धरोहर, कला, संस्कृति, सोच अभिव्यक्ति सब कुछ छीन लेती है- ऐसे में युद्ध जरूरी हो जाते हैं- साम्राज्य के लिए ही नहीं, 'अस्मिता' के लिए भी, क्योंकि जो शेष रहेगा वहीं से सभ्यता का विस्तार होगा। मानवीय विषमताओं; जटिलताओं से भरे विश्व का इतिहास इस बात का जब-तब साक्षी बना है। जिसकी आहटें सोवियत रचनाकार अन्ना अख्मातोवा की कविताओं में साफ-साफ सुनी जा सकती हैं। वे लड़ती रही एक युद्ध-कभी खुद से, तो कभी सत्ता और व्यवस्था के साथ, इस यकीन के साथ कि एक न एक दिन हर सीमा टूटेगी, और तब फिर किसी 'युद्ध' की जरूरत नहीं होगी।

23 जून 1889 बल्शोए फनतान (BoLShoy Fontan) में जन्मी अख्मातोवा ने किव यूनिवर्सिटी में एक वर्ष कानून की शिक्षा के बाद, सेंट पिटर्सवर्ग में 'साहित्य' का अध्ययन किया।

लगभग 76 वर्षों का एक लंबा संघर्ष और विघटन, झेला सब कुछ; किन्तु कुछ स्पन्दन शेष रहकर एक जिजीविषा को अपने में समेटे रहे। सत्ता पक्ष के विरोध में और समय की क्रूर विभीषिकाओं में भी सोवियत न छोड़ने का लिया गया निर्णय अख्मातोवा को कदम-कदम पर भारी पड़ता रहा ताउम्र सिर्फ इतना ही नहीं जिन संबंधों में जीवन मिला, वे भी सत्ता ने जब-तब छीन लिये। 1921 में पहले पति निकोलय गुमिलियोव (Nikolay GumiLyov) को सोवियत शासन के विरुद्ध साजिश करने के कमर में सजाये मौत मिली और इस पर भी ये सत्ता पक्ष चैन से नहीं बैठा—दूसरा विवाह किया, कवि व्लादिमीर शिलेम्को से, जिन्हें 1930 में पुत्र लेव (जो निकोलय गुमिलयोव से हुए थे) सहित गिरफ्तार करके सरकार ने अख्मातोवा से अलग कर दिया। लंबे समय तक अन्ना अख्मातोवा के दोस्त रहे निकोलाइ पुनिन (NikoLai Punin) के साथ वैवाहिक सूत्र में बंधे रहने के सुख से भी वंछित किया व्यवस्था ने। निकोलाइ की गिरफ्तारी ने भीतर ही भीतर अन्ना अख्मातोका को तोड़ा जरूर किंतु वे चुप सहती रही।

लंबे समय तक ताशकंद में प्रवास किया किंतु सरकारी तंत्र का शिकार बनती रही अन्ना अख्मातोवा, और तो और सोवियत लेखक संघ ने भी निष्कासित किया। महज अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिये लेखक संघ द्वारा लिया गया यह निर्णय अन्ना अख्मातोबा को उनके लेखन से फिर भी दूर नहीं कर पाया। कदम-कदम पर पाबंदियों के बावजूद भी तमाम विडंबनाओं के बीच अपनी कविता और अस्मिता को एक नया वजूद सौंपती रही अन्ना अख्मातोवा।

सत्ता पक्ष, लेखक संघ के विरोध सहते-सहते भी न थकी अन्ना अख्मातोवा, किंतु इस मौन सी असहमति के बीच वे तब टूटी; जब अपने ही पिता आन्द्रे एन्तनोविच गोरेन्का (Andrey Antonovich Gorenko) ने परिवार के लिए शर्म का धब्बा घोषित किया, अन्ना अख्मातोवा के लेखन को। और तब अचानक अन्ना गोरेन्का (वास्तविक नाम) ने अपने सम्पूर्ण वजूद को जोड़ दिया—'अन्ना अख्मातोवा'—नाम से, वे अब लिखती, तो सिर्फ अन्ना अख्यातोवा नाम से। अन्ना अख्मातोवा अब महज एक नाम नहीं रह गया था, वह प्रेरणा स्रोत बना अपनी समकालीन मारीना त्स्वेतायेवा और अन्ना अख्मादूलिना

के लिये- जहाँ आभार के कुछ स्वर इस तरह उठे

NOT WORKING, NOT BREATHING
THE BEEHIVE SWEETEN AND DIES
THE AUTUMN DEEPENS,
THE SOUL RIPENS & GROWS OLD.
THANKS TO AKHMATOVA THAT....

सिर्फ इतना ही नहीं, अन्ना अख्मातोवा में एक अजब आकर्षित करने वाला सौन्दर्य था, जिसका परिणाम इटेलियन चित्रकार मोदीग्ल्यानी (Italian Artist Modigliani) द्वारा बनाए गये उनके 20 चित्रों में छिपा नजर आता है।

एक चुप सी असहमति के स्वरो में जीने की इच्छा कहीं खत्म होती नजर नहीं आती अन्ना अख्मातोवा की रचनाओं में—चाहे ये असहमति सत्ता पक्ष के प्रति रही; चाहे 'प्रतीकों' के विरोध में 'ACMEIMS' (A POETIC MOVEMENT) का समर्थन करते हुए अनुभूति सत्यता की अभिव्यक्ति के प्रति रही।

पूरा सोवियत, शासन तंत्र की जिन हलचलों से होकर गुजर रहा था, वे हलचलें और उनकी अनुगूँजें अन्ना अख्मातोवा के काव्य संसार का भी हिस्सा बनती रहीं; जहाँ एक ओर था पुत्र लेव को खोने का दर्द, वहीं दूसरी ओर प्रणय जैसा बेहद नाजुक रिश्ता, अपने वजूद को हर हाल में बचाने की जद्दोजहद। यहाँ कन्फेशनल धारा से जुड़ी छठे दशक की अमेरिकन कवि सिल्विया प्लाथ से काफी अलग नजर आती हैं अन्ना अख्मातोवा। सिल्विया प्लाथ अपने वजूद को बचाने की हर कोशिश में असफल रही और 'आत्महत्या' जैसा निर्णय ले लिया, किन्तु अन्ना अख्मोतोवा की कोई भी स्थिति उन्हें ऐसे किसी निर्णय के प्रति झुका नहीं पायी और जन्म लेते रहे वे शब्द-जो कभी जीवन को लयबद्ध कर रहे थे; तो कहीं बिखरे अनुभव खण्ड सिमटते रहे, और फैलती जा रही थी एक 'अस्वीकार की भाषा' बोलने वाली चुप्पी। इस अस्वीकार में छिपा था—सोवियत के हर उस व्यक्ति का सहमा हुआ 'डर' जो शासनतंत्र के खिलाफ किसी भी समय बुलन्द आवाज में तब्दील हो जाना चाहता था।

तमाम सरकारी प्रतिरोधों के बावजूद अन्ना अख्यातोवा का अनुभव संसार शब्द रहा था उन सभी सोवियत स्त्रियों के दर्द को, जो सत्ता और व्यवस्था के कड़वे सच को जीने की कोशिशें कर रही थीं। जिन्हें अब भी उम्मीद थी, अपने प्रिय से दो प्यार भरे शब्द सुनने की; जिन्हें इंतजार था सिर्फ अंतिम और एक बार फिर अपने अपने प्रिय को आँख भर देखने का, जिन्हें यह मालूम था कि मौत निश्चित है; जो किसी भी समय उन्हें उनके प्रिय को हमेशा के लिए जुदा कर देगी। वे यह जानती थी कि वे विरोध नहीं कर पायेंगी अब जिन्हें अपने प्रेमी, पति या फिर बेटे को दे देने थे—एक जोड़े जूते, दस्ताने या फिर कोई टोपी, जो वे बुन रही थी न जाने कब से, जिसका रंग सुर्ख लाल था, यह रंग उनके प्यार का इजहार था, यह रंग जो उनके रक्त से मेल खाता था, यह रंग जो विरोध का क्रांति का रंग बन जायेगा एक दिन ये वे जानती थीं, जिसे वे छिपाकर साथ ले आई थीं सिर्फ मिलने के बहाने और अपने संबंधों को यह दिलासा देने कि एक न एक दिन यह हार जीत में तब्दील जरूर होगी और तब; जो सूर्य उगेगा वह भी सुर्ख लाल रंग का होगा और तब खत्म हो जाएगा उनका इंतजार; जो वे न जाने कितने दिन से कर रही थी, उन जेलों के बाहर जहाँ उनके प्रेमी, पति, बेटे कैद थे। एक 'संवाद' कायम करती हैं अख्मातोबा-सोवियत स्त्रियों के दर्द के साथ, जो फैलता जाता है शताब्दियों को पार करता हुआ।

'अनुभव की खुरदरी जमीन' से उगी अन्ना अख्मातोवा की अनुभूतियाँ सोवियत की हर उस स्त्री की आवाज बनकर उभरी जो अब तक सिर्फ चुप रहकर सह रही थीं। जहाँ कुछ स्वर मिले, कुछ नये अर्थ उभरे और परिभाषित हुआ एक ऐसा सच जिसे झुठलाया नहीं जा सकता था-

'न सुबह की खामोशी भाती है
न शाम को ट्रामों की सुरीली आवाजें
जी रही हूँ बिना देखे -
कैसा है यह दिन?'

(न सोच कोई न शिकायत)

तब यहाँ फिर एक सवाल उठता है कि आखिर क्यों सहा यह सब-एक सोवियत स्त्री ने? जिसके सहने की कोई सीमा नहीं थी वह क्यों नहीं प्रतिकार कर पायी? क्या कोई फर्क नहीं था एक सोवियत स्त्री के सहने और 'सीता' के सहने में? शायद नहीं था कोई फर्क-'सीता' ने सहा-क्योंकि निर्णय लिया 'राम' ने चाहे वह चौदह बरस का वनवास था या फिर वनवास की अवधि पूरा होने के बाद भी एक ऐसी अवधि शेष थी-जिसे पूरा करना था 'सीता' को। राम के वनवास की एक समय सीमा थी किंतु 'सीता' -उनका वनवास कभी खत्म ही नहीं हुआ, जिसकी कोई समय सीमा तय नहीं थी। वन से

लौटने के बाद भी, जो मिला वह था राम का नया निर्णय; त्याग देना सीता को। फिर एक इंतजार शुरू हुआ और अंत हुआ भी तो- 'अग्नि परीक्षा' में- वे राम नहीं थके किंतु धरती में समा कर सीता ने राम को मर्यादित कर दिया-अपने निर्णय की अग्नि में; ताकि राम फिर कोई परीक्षा न ले और आने वाली सदियों तक कोई 'सीता' यूँ किसी 'राम' की अग्निपरीक्षा से न गुजरे। यह प्रतिकार नहीं तो और क्या था जिसे चुप सहकर भी 'सीता' ने किया, विरोध में राम के ? ?

'सीता' और 'अन्ना अख्मातोवा' के बीच यदि कुछ अंतर था तो वह था 'युगों का अन्तराल'-अन्यथा व्यवस्था 'सीता' के समय में भी वही थी, और अन्ना अख्मातोवा के समय में भी 'पुरुष सत्तात्मक'- जहाँ जो वो निर्णय लेगा वही मान्य होगा।

11 बरस की आयु से ही अन्ना अख्मातोवा कविताएँ लिखने लगीं। 1907 में प्रकाशित हुई, इनकी पहली कविता 'उसके हाथों में चमकती अंगुठियाँ'। जिन हलचलों के बीच अन्ना अख्मातोवा लिख रही थी, वहाँ वे बेहद आसानी से बचा लेती हैं अपने 'प्रणय' को। एक युवा प्रणय मन, जो कुछ इस तरह सोचता है-

'कितने अनुरोध होते हैं प्रेमिका के पास हमेशा
विरक्त के तो कोई अनुरोध होते नहीं
कितनी खुश हूँ यह देखकर
कि रंगहीन वर्फ के नीचे जम रहा है जल।'

('कितने अनुरोध')

आने वाले दिनों की उदास आहटें जैसे अन्ना अख्मातोवा को पहले ही सुनाई दे रही थी किंतु फिर भी उनका 'प्यार' कही खत्म नहीं होता और निर्बाध स्वर पाता रहा-

उदास पक्षियों ने
साँझ को उकसाया
प्यार के गीत गाने के लिये।

(सही समय में जन्मी हूँ मैं)

यह वह दौर था जहाँ 'प्यार' गायब सा नजर आता है पूरी सोवियत जमी से। ऐसे में अन्ना अख्मातोवा की कविताओं में मिली 'प्रणय' को एक नयी जमी-

'मैं पैर रखूँगी इस सफेद पतली चादर पर
.....संभाल कर रखी जाएं सारी चिट्ठियाँ.....
बहुत मजबूत हैं ये प्रेम जाल।

('कितने अनुरोध')

'प्रणय' जिसे पूरी शिद्दत के साथ महसूस किया जा सकता था। जिसमें न कोई शिकायत थी, न कोई सोच-यदि कुछ था तो वह थी गरमाहटें; आवेग और ऐसे स्पन्दन, जो महसूस किए जा सकते थे। जिनमें समायी थी वे आदिम धुनें, जो सदियों से साथ थी- एकलय प्यार में- यह एहसास कुछ-कुछ ऐसा था-

'भूल जाती हूँ
कौन सी तारीख है आज
और कौन-सी यह सदी ?
लगता है .....
मैं, एक नर्तकी हूँ छोटी-सी
छाया हूँ किसी दूसरे की
पागल हूँ दो अंधियारे चंद्रमाओं से घिरी।'

(न सोच कोई, न शिकायत)

1912 में इनका पहला कविता संग्रह 'शाम' (वेचर - VECHER) शीर्षक से प्रकाशित हुआ। 1911 के अंत तक लिखी गयी इन कविताओं में शामिल थी 'जंगल में पानी के ऊपर', 'सफेद आँखों वाला राजा', 'अंतिम मिलन का गीत' इत्यादि कविताएँ। जिनमें क्षमता थी हजारों युवाओं को अपनी ओर खींचने की यहीं से शुरू होती हैं साहित्यक जगत में अन्ना अख्यातोवा पर चर्चाएं। 1914 में 'माला' (CHETKI) शीर्षक से इन्होंने अपना दूसरा कविता संग्रह। जहाँ प्रणय पुन: परिभाषित हुआ। नये रंगों अनुभवों के साथ-सोवियत हलचलों से दूर एक हल्के से दर्द को अपने में समाये। तमाम आशंकाओं के बावजूद प्यार करने की ख्वाहिशें मरती नहीं और तब-

जिंदगी से मुझे अलग नहीं।
किया जा सकता सपने आते हैं मरने और
दोबारा प्यार करने के...।

(मैं भटक गया हूँ)

वे आहटें जो अन्ना अख्मोतावा को न जाने कब से सुनाई दे रही थीं अब और स्पष्ट होने लगीं; जहाँ सहमा हुआ 'डर' कुछ यूँ बोल रहा था-

'और पास आ रहा है डरने का समय'।

और यह 'डर' 1 अगस्त 1914 को हकीकत में तब्दील हो गया जब जर्मनी ने सोवियत पर आक्रमण की घोषणा की। इस उथल-पुथल के बीच अनुभवों को मिला एक और धरातल, जिसमें 'डर' गुमसुम कैद हो रहा था जिसे अन्ना अख्मातोवा ने स्वर दिये- 'सफेद चिड़ियों का झुण्ड' (Belaya staya) में

23 फरवरी 1917 पिटर्सवर्ग के हर मोड़ से उमड़ रहे थे जनसमूह जो अब विरोध का साहस दिखा रहे थे। अब तक जो दर्द अन्ना अख्मातोवा को तोड़ता रहा वह हर सोवियत वासी के विरोध में आवाज पा रहा था। अब तक एक अस्थायी सरकार सत्ता संभाल रही थी। अप्रैल 1917 अचानक जर्मनी के सहयोग से लेनिन सोवियत लौट आया। वह अस्थायी सरकार की नीतियों और आदर्शों के खिलाफ बोलकर और सोवियत लोगों के लिए 'Peace, Land & Bread' जैसे नारों के जरिए अपना समर्थन जुटाने का प्रयास कर रहा था लेकिन असफल रहा। किंतु उसकी साजिशें जारी रहीं और अचानक 25 अक्टूबर 1917 पिटर्सवर्ग की हर मीनार पर लेनिन का अधिकार हो गया, लेनिन का वामपंथ जीत गया और 1922 सोवियत संघ की स्थापना हुई। 1923 लेनिन की मृत्यु के बाद स्तालिन ने शासन संभाला। अन्ना अख्मातोवा के अनुभवों का दायरा बढ़ रहा था।

सन् 1925 अन्ना अख्मातोवा के लेखन पर 'प्रतिबंध' लगा दिया गया लेकिन वे लिखती रही, कभी पुत्र लेव की गिरफ्तारी पर कुछ न कर पाने की विवशता झेलती और गूँजते ये स्वर-

'सत्रह महीने मैं अनुरोध करती रही-
ओ मेरे पुत्र
लेकिन समझ न पायी
कौन जंगली है और कौन इंसान?'

सन् 1939 का दौर-स्तालिन की अनुमति से अन्ना अख्मातोवा के लेखन का कुछ हिस्सा 'एक भाग' में प्रकाशित किया गया।

यह समय (1939) दूसरे विश्व युद्ध का था-अन्ना अख्मातोवा ने जिया - Siege of Leningrad- जिससे जुड़ा था लगभग 900 दिनों का एक लंबा संघर्ष। सन् 1940 में अन्ना अख्मातोवा ने शुरूआत की, अपने महाकाव्य 'बिना नायक के कविता' (Poema bez Geroya) की, जो 20 वर्षों में पूरा हुआ और 'शोकगीत' की जो 1960 में प्रकाशित हुआ इसमें संग्रहित थी 15 छोटी कविताएँ। जहाँ कभी चुप्पी में सिमट रहा था दु:ख कोई, कहीं अविश्वास था खोने का, कहीं सहमा सा डर था, तो कहीं अफसोस के स्वर।

इस बीच न जाने कितनी पाबंदियाँ लगी अन्ना अख्मातोवा पर, लेकिन वे लिखती रही। जहाँ आरोप भी पीछा नहीं छोड़ रहे थे कभी Half Harlot, Half Nun. कहकर अपमानित किया गया, तो कभी Upper Class lady. तो कभी सोवियत युवाओं का भड़काने के आरोप सहती अन्ना अख्मातोवा।

प्रश्न उठता है यहाँ - क्या व्यवस्था इतनी कमजोर थी कि एक स्त्री से डरकर उसे प्रतिबंधित कर रही थी, तो कभी आरोपित क्यों? ऐसा कौन सा कारण था- जिससे डरती रही- सोवियत की पुरुष सत्ता, व्यवस्था और समाज? कारण शायद उस व्यवस्था में मौजूद थे- जहाँ वह व्यवस्था एक स्त्री के सच का सामना करने में असमर्थ थी; वह सच जिसे झुठलाया नहीं जा सकता था; जब 'बुद्धि' से काम नहीं चल पाया तो 'तर्क' को काटने के लिए 'आरोपों' और 'प्रतिबंधों' का सहारा लिया- सोवियत सत्ता तंत्र ने।

सन् 1953 स्तालिन की मृत्यु के बाद भी प्रेस को नियंत्रित रखा (Nikita Khrushchev ने) गया जहाँ पाबंदियाँ अब भी जारी थीं। लेकिन अन्ना अख्मातोवा इतनी कमजोर नहीं थी कि झुक जाती; जिसका परिणाम था-'बिना नायक की कविता'- वो महाकाव्य- जिसमें समय को बाँध लिया था अन्ना अख्मातोवा ने, जहाँ बीसवीं शताब्दी का वो सच बोल रहा था जिसे सहा था एक स्त्री ने जहाँ हर उस सोवियत वासी का दु:ख उसके साथ था; जो उसके अपने थे; जहाँ 20 वर्षों का संघर्ष शब्द पा रहा था। यह महाकाव्य अन्ना अख्मातोवा की मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हुआ। 1965 में Oxford University ने इन्हें डॉक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया।

मास्को शहर, वसंत का महीना और 5 मार्च 1966 अन्ना अख्मातोवा ने सोवियत संघ से विदा ली और अपने पीछे छोड़ा- ऐसा साहित्य, जो बीसवी शताब्दी के रूसी इतिहास को अपने समक्ष झुका रहा था। जिसे अनुदित किया- आर्मेनिया, इटली, फ्रांस, इंग्लैण्ड, कोरिया जैसे विश्व के देशों ने। ST. PETERSBURG में आज भी मौजूद है अन्ना अख्मातोवा की स्मृतियों में खोया-

ANNA AKHMATOVA LITERARY & MEMORIAL MUSEUM-

जहाँ वे आज भी बन रही है गरमाहटों के संसार।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग,
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ

1. अनामिका- 'कहती हैं औरतें', साहित्य उपक्रम प्रकाशन, प्रथम संस्करण - 2008
2. अनामिका- 'स्त्रीत्व का मानचित्र', वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण - 2006
3. वरयाम सिंह- 'बीसवीं सदी की रूसी कविता', प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण - 1998
4. वरयाम सिंह- 'आधुनिक बेलारूसी कविताएं' प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण - 1991
5. शिव नारायण सिंह 'अनिवेद'- 'कविता का गाँव' वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण - 2008
6. The complete poems of Anna Akhmatova - 'By Anna Akhmatova' - Translated by - Judith Hemschemeyer, Publisher - Zephyr Press - Bilingual (Somerville), Edition-2000
7. Twenty Poems of Anna Akhmatova - 'By Anna Akhmatova' - Eighties Press - Ally Press, (ISBN No. 91540830-9), Edition-1995
8. Poems of Anna Akhmatova - 'By Anna Akhmatova' - Publisher - W.W. Norton - Company, Edition-1983
9. The Complete poems of Anna Akhmatova - 'By Anna Akhmatova' - Publisher Bloodaxe Books - Conongate Books, Edition-2000
10. अन्ना अख्मातोवा - 'एक सफेद पत्थर की तरह', प्रकाशन- एकेडमी ऑफ अमेरिकन पोएट्स - (2023)
11. अन्ना अख्मातोवा की कविताएँ - 'अन्ना अख्मातोवा' प्रकाशक - Everyman's Library, Edition-2006

हिंदी के स्वाधीनता युगीन नाटकों में स्त्री-प्रश्न

लोकेंद्र प्रताप

शोध-सार

भारतेंदु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद के नाटकों में स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को एक जटिल और विरोधाभासी रूप में प्रस्तुत किया गया है। भारतेंदु के नाटकों में स्त्री पात्रों को अक्सर पारंपरिक भूमिकाओं में ही सीमित दिखाया गया है। जहाँ उनकी स्वायत्तता धर्म और समाज के वर्चस्ववादी ढाँचे के अधीन रही है। प्रसाद के नाटकों में स्त्री चरित्रों को अधिक सशक्त चित्रित किया गया है, लेकिन उनकी मुक्ति अंततः पितृसत्तात्मक मूल्यों और राष्ट्रीय-धार्मिक आदर्शों से बँधी हुई है। एंटोनियो ग्राम्शी के वर्चस्ववाद (Hegemony) के सिद्धांत के अनुसार, ये नाटक स्त्री-अधिकारों को सहमति के माध्यम से पारंपरिक सीमाओं में बाँधते हैं। इस शोध आलेख में इन नाटकों का वर्चस्ववादी दृष्टि से विश्लेषण किया गया औपनिवेशिक युग के हिंदी नाटक स्त्री-मुक्ति के प्रश्न पर पुराने सामाजिक वर्चस्व को ही पुनर्स्थापित करते हैं।

बीज-शब्द :

स्त्री-मुक्ति, भारतेंदु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, पितृसत्ता, हिंदी नाटक, वर्चस्ववाद।

आलेख-परिचर्चा

स्वाधीनता युग के हिंदी में दो बड़े और प्रमुख नाटककार हैं; भारतेंदु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद। स्वाधीनता संघर्ष के कालखंड में हिंदी साहित्य और विशेषतः नाट्य साहित्य ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का प्रसार। जिसके बड़े नेता प्रसाद और भारतेंदु हैं। किन्तु यह चेतना पूर्णतः समावेशी नहीं रही। यह राष्ट्रीय चेतना संपन्न वर्चस्वशाली समाज के द्वारा निर्मित की गई थी। इसमें प्राचीनता का मोह इतना था कि कुछ साहित्यकार यह देखना ही नहीं चाहा कि यह व्यवस्था समावेशी नहीं है बल्कि वर्चस्व आधारित संपन्न समाज की सत्ता है। स्त्रियों की मुक्ति का जो मार्ग इन नाटकों में प्रस्तावित किया गया, वह अक्सर धार्मिक और सांस्कृतिक वर्चस्व की पारंपरिक संरचनाओं में जकड़ा हुआ प्रतीत होता है। इसमें स्त्री मुक्ति का अर्थ है धर्म आधारित व्यवस्था को मजबूत करते हुए, उसी में स्त्री को स्थान दिया जाए। धार्मिक व्यवस्था में ही स्त्री को दर्पण दिखया जाए। भारतेंदु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद जैसे स्वाधीन चेतना के नाटककारों ने अपने नाटकों के माध्यम से स्त्री पात्रों की उपस्थिति और भूमिका वर्चस्ववादी सत्ता संरचनाओं की आलोचना कम और पुष्टि अधिक करती है। इस आलेख में इन दोनों रचनाकारों के नाटकों का विश्लेषण एंटोनियो ग्राम्शी के वर्चस्ववाद (Hegemony) के आलोक में किया गया है।

वर्चस्ववाद और स्त्रीवादी आलोचना का सैद्धांतिक आधार : एंटोनियो ग्राम्शी का वर्चस्ववाद सिद्धांत (Hegemony) इस बात को रेखांकित करता है कि कैसे शासक वर्ग अपने विचारों को समाज के सामान्य हित के रूप में प्रस्तुत करता है और जनता सहमति के साथ उन विचारों को स्वीकार कर लेती है। रेमंड विलियम ने वर्चस्ववाद शब्द की परिभाषा में उसकी ऐतिहासिक यात्रा बताते हुए लिखा है कि शब्द 'हेजेमनी' (वर्चस्व) सीधे यूनानी शब्द एगेमोनिया (egemonia) से अंग्रेजी में आया है, जिसकी जड़ यूनानी शब्द एगेमॉन (egemon) यानी 'नेता' या 'शासक' में है, जो अक्सर किसी अन्य राज्य पर प्रभुत्व रखने वाले शासक को दर्शाता था। 19वीं शताब्दी से पहले इसका अर्थ 'एक राज्य का दूसरे पर राजनीतिक

प्रभुत्व' आम नहीं था, लेकिन तब से यह प्रयोग बना हुआ है और अब वर्चस्ववादी शब्द प्रभुत्व की नीतियों को व्यक्त करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। (Williams 1983, 144) ने ग्राम्शी ने इस शब्द को सैद्धान्तिक रूप में विकसित है। कैसे सामाजिक मानस पर प्रभुत्वशाली सत्ताओं का वर्चस्व व्यवस्था परिवर्तन के बाद भी बना रहता है। नसरुलह मंब्रोल वर्चस्ववाद के परिचय में लिखते हैं कि हेजेमनी (वर्चस्ववाद) अब सहमति से आधिपत्य कायम करने के लिए समझा जाता है। इस शब्द को अंतोनियों ग्राम्शी ने 1930 के दशक में व्यापक सैद्धांतिक तौर पर गढ़ा और लोकप्रिय बनाया। इसमें उन्होंने यह समझाया कि शासक वर्ग अपने हितों के लिए सामान्य जनता में अपना आधिपत्य स्थापित करने में इतना सफल कैसे हो जाता है। वर्चस्व वह शक्ति है कि सामान्य जनता को उसकी सहमति से यह समझा दे इसी में उसका (जनता का) हित है। यह वर्चस्व किसी प्रकार के बल द्वारा नहीं, न ही आवश्यक रूप से सक्रिय अनुनय-विनय द्वारा बल्कि अर्थव्यवस्था, शिक्षा एवं मीडिया आदि तंत्रों पर सूक्ष्म वैचारिक शक्ति द्वारा स्थापित किया जाता है। इस वर्चस्व के द्वारा शासक के हित को जनता के सामान्य हित के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सामान्य परिभाषा के रूप में वर्चस्ववाद प्रारंभिक रूप से इस तरह समझा जा सकता है। (Gramsi 2016, 245) स्त्रीवादी आलोचना इस वर्चस्ववादी संरचना में स्त्री की स्थिति की पड़ताल करती है कैसे स्त्री की 'मुक्ति' को भी पितृसत्तात्मक संरचना में ही परिभाषित किया जाता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों में स्त्री की स्थिति : भारतेंदु हरिश्चंद्र को आधुनिक हिंदी नाटक का पितामह कहा जाता है। आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास की विधिवत परंपरा हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत से सम्मानित लेखक भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटकों से रेखांकित की जाती है। आधुनिक शिल्प-संरचना, रंगमंच और विमर्श की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाट्यकर्म को बुद्धिजीवियों, दर्शकों और पाठकों ने सम्मान की दृष्टि से देखा है। हिन्दी में इन्हीं से रंगमंच और नाटक की आधुनिक शुरुआत स्थापित है। हिन्दी साहित्य तथा नाट्य साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु जी के नाटकों की वजह से नाट्य साहित्य के इतिहास का पहला युग भारतेन्दु हरिश्चंद्र को समर्पित है। इसी कारण आधुनिक हिन्दी नाटक के पहले युग को 'भारतेन्दु युग' के नाम से जाना जाता है। इन्होंने 16 नाटकों का सृजन किया जिसमें आठ इनके मौलिक नाटक हैं और एक अधूरा छूट गया मौलिक नाटक है जिसे बाद में राधाकृषण दास जी ने उनकी मृत्य उपरांत पूर्ण किया। उनके प्रमुख नाटकों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873), सत्य हरिश्चंद्र (1875), श्री चंद्रावली (1876), विषस्य विषमौषधम् (1876), भारत दुर्दशा (1880), नीलदेवी (1889), अंधेर नगरी (1889), प्रेमजोगिनी (1875) उनके नाटकों में स्त्री पात्रों की उपस्थिति पारंपरिक नैतिकताओं से बंधी हुई है।

अंधेर नगरी : यह नाटक मुख्यत: राजनीतिक व्यंग्य है, परंतु स्त्री पात्र नदारद हैं या केवल प्रतीक रूप में उपस्थित हैं। स्त्री की उपस्थिति सामाजिक चेतना की वाहक नहीं, बल्कि अनदेखा की गई सत्ता की इकाई है।

सत्य हरिश्चंद्र : सत्य, तपस्या और धर्म की स्थापना के लिए स्त्री का त्याग यहाँ महिमा मंडित होता है। हरिश्चंद्र की पत्नी तारा और पुत्र रोहिताश्व की पीड़ा को राष्ट्रधर्म की बलिवेदी पर चढ़ा दिया जाता है। ''पतिव्रता धर्म में विश्वास रखती हुई तारा चुपचाप सब दुख सहती है'' (भारतेंदु 2024, 82) यह संवाद उस मानसिकता को दर्शाता है जहाँ स्त्री की सहनशीलता उसकी मुक्ति नहीं, बल्कि उसकी परतंत्रता का प्रतीक है।

भारत दुर्दशा : इस नाटक में स्त्री पात्रों का राजनीतिक या वैचारिक प्रतिनिधित्व नहीं है। यहाँ राष्ट्र की पीड़ा को 'भारत माता' के रूपक में दिखाया गया है, लेकिन यह स्त्री की वास्तविक स्वतंत्रता का प्रतिनिदित्व नहीं करता। इसी तरह उनके अन्य नाटक चंद्रावली में वैष्णव प्रेम की इस कथा में चंद्रावली की मुक्ति का अर्थ कृष्ण की प्राप्ति है, न कि व्यक्तिगत स्वायत्तता। यह भक्तिवाद की उस परंपरा को पुनर्स्थापित करता है जिसमें स्त्री का चरम उद्देश्य ईश्वर की सेवा और समर्पण है। विषस्य विषमौषधम् और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति नाटकों में धार्मिक नैतिकता का आग्रह इतना प्रबल है कि स्त्री की भूमिका केवल त्याग और सेवा तक सीमित रह जाती है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों में स्त्री मुक्ति का द्वंद्व : प्रसाद प्रमुख रूप से कवि, नाटककार और कथाकार के साहित्य रूप में सृजन किया। नाटक साहित्य रूप में प्रसाद ने 13 कृतियों का सृजन किया। इन सभी कृतियों को नाट्य इतिहासकारों ने तीन भागों में विभाजित किया है; आरंभिक काल, प्रयोग काल और प्रौढ़ काल। आरंभिक काल में 1910 से 1913 तक की कृतियों को रखा गया है जिनमें प्रमुख रूप से

सज्जन (1910), प्रायश्चित (1912), कल्याणी परिणय (1912), करूणालय (1913) और प्रयोग काल में राजश्री (1914), विशाख (1921), अजातशत्रु (1922) तथा जनमेजय का नागयज्ञ (1926) तथा प्रौढ़ काल में कामना (1927), स्कन्धगुप्त (1928), एक घंट (1929), चंद्रगुप्त (1932) और ध्रुवस्वामिनी (1933) नाट्य कृतियों स्थान दिया है। साहित्येत्तर जगत में प्रसाद को चंद्रगुप्त और ध्रुस्वामिनी नाटक की वजह से भिन्न पहचान मिली। भारतीय और हिंदी साहित्य में प्रसाद जी अपनी भिन्न और नव्य-शास्त्रीय नाट्य शैली के लिए बड़े हस्ताक्षर हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटक और रंगमंच को लेकर सैद्धांतिक विचार रंगमंच जगत में विवादित रहे। उनके नाटकों में रंगमंचीय तत्व की कमी होने का संवाद हुआ तो प्रसाद ने अपने बचाव में रंगमंच नाटक निबंध में लिखा कि रंगमंच नाटक के लिए होना चाहिए न कि नाटक रंगमंच के लिए। यह साहित्य में अवधारणागत विवाद के रूप में आज भी चर्चा का विषय रहता है।

प्रसाद अपने नाटकों के माध्यम से प्राचीन भारतीय सामाजिक और राजनीतिक संरचना से आधुनिक समाज को दर्शन कराने की इच्छा रखते थे जिस करण उनके लगभग सभी नाटकों की पृष्ठभूमि प्राचीन भारतीय इतिहास और व्यवस्था से है। जयशंकर प्रसाद के नाटक चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, कामना, एक घूँट, कर्ण, राज्य की रीति आदि में स्त्री पात्र अधिक सशक्त और मुखर प्रतीत होती हैं, लेकिन इनकी स्वतंत्रता का दायरा फिर भी परंपरागत सीमाओं में बंद है।

चंद्रगुप्त : चाणक्य और ब्राह्मण सत्ता के बीच स्त्री पात्र जैसे मुरारिका या कल्याणी अपनी सक्रियता खो बैठती हैं। ''ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम बुद्धि-वैभव है'' (प्रसाद 2021, 70) यह कथन नाटक की विचारधारा को स्पष्ट करता है, जहाँ स्त्री मुक्ति ब्राह्मणवादी सत्ता की अनुमति पर निर्भर है। जिस ब्राह्मणवादी वर्चस्वशाली शक्तियों की शिकार स्त्री स्वयं रही है, उन्हीं शक्तियों से स्त्री शक्ति को आकार दिया जा रहा है। चंद्रगुप्त नाटक की कल्याणी कहती है कि ''उस क्षत्रिय को यह सिखा दूँगी कि राज कन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं है।'' (प्रसाद 2021, 57) परंपरागत सामाजिक संरचना को गौरव के रूप में अभियक्त किया गया है।

ध्रुवस्वामिनी : इस नाटक को स्त्री-मुक्ति की दिशा में एक कदम माना गया, परंतु यहाँ भी ध्रुवस्वामिनी का निर्णय स्वतंत्र नहीं है। वह अपने पति रामगुप्त को छोड़ती है, लेकिन चंद्रगुप्त से विवाह 'पुरोहित' की अनुमति और धर्मादेश पर आधारित होता है। ''ब्राह्मण केवल धर्म से भयभीत है'' (प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी 2022, 93) पुरोहित का यह संवाद दर्शाता है कि स्त्री की स्वतंत्रता धर्म और पुरुष अनुमति से नियंत्रित होती है। प्राचीन भारत रूढ़िवादी सामंती परंपरा का आदर्शीकरण करना प्रसाद का उद्देश्य रहा। साहित्यकार अपने भाषा के जाल से एक प्रोक्ति का निर्माण करता है जिसमें सन्निहित विचारधारा सत्ता को शक्ति देती है। प्रसाद के नाटकों ने किसी वैकल्पिक स्त्रीवादी दृष्टि के अतिरिक्त परंपरागत प्राचीन व्यवस्था के वर्चस्व में समाहित दिखायी पड़ते हैं। डायना दिमित्रोवा ने लिखा है कि ''प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी अपने कमजोर और विश्वासघाती पति को छोड़कर अपने प्रिय पुरुष, बहादुर चंद्रगुप्त से विवाह करने का साहस करती है, स्वतंत्र रूप से नहीं, बल्कि अधिकार का प्रतिनिधित्व करने वाले एक अन्य व्यक्ति, पुरोहित 'हिंदू पुजारी' की स्वीकृति और सुझाव पर।'' (Dimitrova 2016, 165)

स्कन्दगुप्त : इस नाटक में मुद्गल का कथन : ''ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, और शूद्रों की हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति ही मुक्ति है'' यह न केवल जातीय श्रेष्ठता की स्थापना करता है, बल्कि स्त्री के लिए भी मुक्ति को केवल धार्मिक त्याग में ही संभव मानता है। कामना, एक घूँट, कर्ण इन छोटे नाटकों में भी स्त्री की आकांक्षाओं को आदर्शवाद और त्याग से बाँधकर दिखाया गया है। कर्ण की माता कुंती और द्रौपदी जैसे पात्रों की आंतरिक वेदना को पुरुष पात्रों के संघर्ष के सन्दर्भ में ही समझा जाता है।

प्रसाद के नाटकों में स्त्री मुक्ति बनाम धार्मिक नैतिकता : दोनों नाटककारों के नाटकों में स्त्री की मुक्ति की जो छवियाँ उभरती हैं, वे अंततः धार्मिक नैतिकता, जातीय श्रेष्ठता और पितृसत्तात्मक सत्ता के अधीनस्थ हैं। यह वही 'वर्चस्ववादी सहमति' है जिसकी चर्चा ग्राम्शी करते हैं जब उत्पीड़ित स्वयं अपनी परतंत्रता को मुक्ति समझने लगता है। प्रसाद के नाटकों को स्त्रीवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनके नाटकों की स्त्री प्राचीन संस्कृति और धर्मसत्ता में कैद है। उसकी मुक्ति नहीं बल्कि धार्मिक सत्ता का आधुनिक संस्कार है। स्त्रीवादी आलोचकों के अनुसार, जिस साहित्य में स्त्री के निर्णय की स्वतंत्रता नहीं, वहाँ मुक्ति का कोई वास्तविक अर्थ नहीं रह जाता। भारतेंदु और प्रसाद

दोनों ने स्त्री को त्यागमयी, पतिव्रता, राष्ट्रमाता और धर्मपरायण की भूमिकाओं में रखा।

निष्कर्ष :

भारतेंदु हरिश्चंद्र और जयशंकर प्रसाद के नाटक स्वाधीनता युग की सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करते हुए भी स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर पारंपरिक और वर्चस्ववादी दृष्टिकोण से ग्रस्त हैं। ग्राम्शी के वर्चस्ववाद के अनुसार, यह नाटक सहमति के माध्यम से पितृसत्तात्मक और ब्राह्मणवादी सत्ता को पुनर्स्थापित करते हैं। स्त्री पात्रों को आधुनिकता की ओर उन्मुख दिखाया गया है, परंतु उनकी स्वतंत्रता धर्म, जाति और पितृसत्ता की सीमा में परिभाषित होती है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि हिंदी नाट्य परंपरा का प्रारंभिक चरण, चाहे वह भारतेंदु की सामाजिक चेतना हो या प्रसाद की नव-संस्कृत दृष्टि, स्त्री को कभी पूर्ण रूप से मुक्त नहीं कर सका क्योंकि वह उसे मुक्त करने की नहीं, मर्यादित और अनुशासित करने की प्रक्रिया में संलग्न रहा।

पीएचडी शोध-छात्र
भारतीय भाषा केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
ई-मेल : Lokendre.edu@gmail.com

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रसाद, जयशंकर, 2021, चन्द्रगुप, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन
2. प्रसाद, जयशंकर, 2022, ध्रुवस्वामिनी, दिल्ली : पेंगुइन हिंदी
3. Dimitrova, Diana, 2016, Hinduism and Hindi Theater, New York : Palgrave Macmillan
4. कुमार, (संपादक) आलोक, 2024, 'भारतेंदु' भारतेंदु हरिश्चंद्र के मौलिक नाटक, भारतेंदु हरिचंद्र, 82, दिल्ली : फ्लाइड्रीम्स पब्लिकेशन
5. Williams, Raymond, 1983, Keywords A vocabulary of culture and society, New York: Oxford University Press
6. Gramsi, Antonio, 2016, selected From the Prison Notebooks, Delhi : Aakar books
7. Dimitrova, Diana, 2016, Hinduism and Hindi Theater, New York : Palgrave Macmillan

दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन में महिला संतों की भूमिका

श्रद्धा त्रिपाठी

छठी शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत, विशेषत: तमिलनाडु में, एक महत्वपूर्ण धार्मिक और सामाजिक आंदोलन उभरा जिसे 'भक्ति आंदोलन' कहा गया। यह आंदोलन उस समय की सामाजिक संरचना और धार्मिक परंपराओं के खिलाफ एक गहरा सांस्कृतिक प्रतिरोध था। इस आंदोलन के दो मुख्य ध्रुव—शिव की उपासना करने वाले 'नयनार' और विष्णु को आराध्य मानने वाले 'अलवार' संत न केवल धार्मिक पुनर्जागरण के संवाहक बने, बल्कि उन्होंने सामाजिक समरसता की नींव भी रखी। इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने व्यक्ति की जाति, लिंग और सामाजिक स्थिति की परवाह किए बिना, सभी को ईश्वर भक्ति का समान अधिकार दिया।

छठी शताब्दी का समाज ब्राह्मणवादी वर्चस्व, कर्मकांड और सामाजिक भेदभाव से ग्रस्त था।[1] स्त्रियों और शूद्रों को वैदिक ज्ञान और पूजा-पाठ से वंचित रखा गया था। शिक्षा और धार्मिक गतिविधियाँ केवल उच्च वर्गों तक सीमित थीं। लेकिन जब अलवार और नयनार संतों ने भक्ति को आत्मा का सहज अधिकार घोषित किया, तो समाज में एक नई जागरूकता आई। इन संतों ने कहा कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो, शूद्र हो, या किसी भी जाति से संबंधित हो अपने हृदय से ईश्वर की आराधना कर सकता है। इस विचारधारा ने पारंपरिक धर्म के कठोर ढाँचों को तोड़ते हुए, एक समतावादी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को जन्म दिया।

भक्ति आंदोलन के माध्यम से पहली बार स्त्रियों को आध्यात्मिक मंच मिला, जहाँ वे अपनी अनुभूतियों, संघर्षों और ईश्वर से अपने संबंध को कविता और गीतों के माध्यम से व्यक्त कर सकीं। उन्होंने मंदिरों में आरती गाई, धार्मिक काव्य रचे और यहां तक कि धार्मिक आंदोलनों का नेतृत्व भी किया। समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक सोच के विरुद्ध उनकी यह उपस्थिति एक क्रांति थी। महिला संतों ने भक्ति के माध्यम से अपनी आत्मा को अभिव्यक्ति दी, और साथ ही साथ यह भी सिद्ध किया कि आध्यात्मिक अनुभव किसी वर्ग या लिंग का मोहताज नहीं होता।

इस आंदोलन ने ईश्वर की धारणा को भय और अनुशासन की जंजीरों से मुक्त कर प्रेम और समर्पण का रूप दिया। अब ईश्वर किसी विशिष्ट वर्ग या कर्मकांड का स्वामी नहीं रहा, बल्कि हर व्यक्ति का अंतरंग प्रिय बन गया।[2] इस व्यक्तिगत और भावनात्मक संबंध ने भक्ति को एक गहरे मानवीय स्तर पर पहुँचाया, जिससे न केवल धर्म का स्वरूप बदला बल्कि सामाजिक संबंधों की पुनर्व्याख्या भी संभव हुई। ईश्वर को क्षेत्रीय नामों, स्वरूपों और प्रतीकों से जोड़कर, भक्ति आंदोलन ने स्थानीय संस्कृति को सम्मान दिया और लोक के साथ धर्म का सुंदर समन्वय स्थापित किया।

स्त्रियाँ, जो सदियों से सामाजिक और धार्मिक जीवन के हाशिए पर थीं, इस आंदोलन के माध्यम से न केवल ईश्वर के निकट आईं, बल्कि समाज के केंद्र में भी अपनी जगह बनाई।[3] इनकी उपस्थिति ने यह सिद्ध किया कि स्त्रियाँ भी धर्म की गूढ़ता को समझ सकती हैं, उसे अनुभव कर सकती हैं और उसे व्यक्त भी कर सकती हैं। इसी कारण यह आंदोलन स्त्री विमर्श के प्रारंभिक चरणों में भी अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।

अव्वैयार की साहित्यिक परंपरा

'अव्वैयार' तमिल साहित्यिक परंपरा की एक विशेष

पहचान है, जो संगम काल से जुड़ी हुई है। 'अव्वैयार' नाम का शाब्दिक अर्थ है—'सम्मानित अच्छी महिला', और यह एक नहीं, बल्कि कई कवयित्रियों की एक श्रेणी को इंगित करता है, जिन्होंने तमिल भक्ति साहित्य में अपनी गहन संवेदनशीलता और नैतिक शिक्षाओं से अमूल्य योगदान दिया। यद्यपि तीन प्रमुख अव्वैयारों की पहचान होती है, परंतु प्रथम अव्वैयार का ऐतिहासिक संदर्भ संगम काल (300 ईसा पूर्व 300 ईस्वी) से जुड़ा माना जाता है। उनका संबंध तमिल सरदार वेल पारी और अथियामान जैसे दानवीर राजाओं से रहा। उन्होंने 'पूरननूरू' जैसे संग्रथनों में कुल 59 कविताएं रचीं जो तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों को दर्शाती हैं।

उनकी अन्य प्रमुख रचनाएँ 'अथिचूड़ी', 'कोंडराई वेन्थन', 'नलवाजी' और 'मूधुराई' हैं, जो तमिल नैतिकता, व्यवहार, और बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा हेतु आज भी अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। 'अथिचूड़ी' की रचनाएँ दोहे के स्वरूप में होती हैं, जो बच्चों को नैतिकता, कर्तव्य और व्यवहारिक ज्ञान सिखाती हैं। यह एक तरह की तमिल लोकनीति है, जिसे तमिलनाडु के घरों और विद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

अव्वैयार का जीवन स्वयं में स्त्री आत्मनिर्णय और भक्ति की पराकाष्ठा का प्रतीक बन गया। कहा जाता है कि उन्होंने विवाह के सामाजिक दबाव से मुक्ति पाने हेतु भगवान गणेश से प्रार्थना की।[4] अव्वै ने प्रश्न किया—

''क्या मुझे विवाह कर पारिवारिक जीवन जीना चाहिए? क्यों आपने मुझे यह सौन्दर्य और आकर्षण दिया?...मेरे होंठों से केवल भलाई ही निकले, मुझे जन्म से मुक्ति का वरदान दीजिए।''[5]

गणेश ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए उन्हें वृद्धा का स्वरूप प्रदान कर दिया जिससे विवाह का दायित्व समाप्त हो गया। यह रूपांतरण, बाह्य सौंदर्य को त्याग कर आंतरिक चेतना की ओर जाने का प्रतीक बन गया।[6]

अव्वैयार की शिक्षाएं, विशेषकर महिलाओं के लिए, परंपरागत भूमिका की पुनर्पुष्टि करती हैं। उनके विचारों में नारी का सबसे बड़ा सौंदर्य उसकी पाकशैली में दक्षता, पति के प्रति वफादारी, और गृहस्थ जीवन की मर्यादा में निहित था। उनके अनुसार—

1. पाक निपुणता स्त्री का सबसे बड़ा आभूषण है।[7]

2. गृहस्थ जीवन में स्त्री का सर्वोत्तम स्थान है जहाँ वह पति की सेवा करती है।[8]

3. मर्यादा में बंधा स्त्रीत्व समाज के लिए सम्माननीय है।[9]

4. पतिव्रता धर्म को उन्होंने स्त्री का सर्वोच्च कर्तव्य माना।[10]

इस दृष्टिकोण से अव्वैयार को पूर्णरूपेण एक परंपरावादी महिला संत माना जा सकता है, जिनकी भक्ति और लेखनी समाज की मान्यताओं के भीतर रहकर स्त्री के लिए एक नैतिक मार्ग निर्धारित करती हैं। हालांकि आधुनिक स्त्रीवाद के सन्दर्भ में इन विचारों को सीमित माना जा सकता है, फिर भी तत्कालीन समय में यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों के लिए स्वीकृति और सम्मान का मार्ग प्रशस्त करता था।

अव्वैयार की लोकप्रियता केवल उनकी भक्ति या शिक्षाओं तक सीमित नहीं रही, बल्कि वे तमिल लोकजीवन और साहित्य में आदर्श नारी के रूप में प्रतिष्ठित हो गईं। आज भी तमिलनाडु के ग्रामीण अंचलों में उनकी कहावतें, शिक्षाएँ और नैतिक उपदेश लोकस्मृति का हिस्सा हैं।

करैक्काल अम्मैयार

इस क्रम मे अगला नाम करैक्काल अम्मैयार का है। इनका जन्म 5वीं-6वीं शती के मध्य में तमिलनाडु, करैक्काल में हुआ था। इनके आराध्य देव शिव का नटराज रूप है। इनकी भक्ति मे वैराग्य और आत्मत्याग की भावना प्रबल है। दैन्य भाव युक्त हो ये स्वयं को पिशाच-आत्मा मानती है, और इन्होंने समाज से पूर्णत: विरक्त जीवन व्यतीत किया है।

ये उन प्रथम महिलाओं मे से थीं जिन्होंने पितृ-सत्तात्मक समाज व आध्यात्म की पुरुष वर्चस्व वाली मान्यता को चुनौती दी। पारंपरिक प्रतीकों से इतर, इनका जीवन निष्काम, सहज भक्ति का उदाहरण रहा है। इनके काव्य मे बहुदा प्रयुक होने वाले प्रतीक 'शमशान', 'राख', एवं 'नृत्य' है। तमिल भाषा शैली मे इनकी कविताओं के शब्द मानो तीव्र आग मे तपाए हुए प्रतीत होते है। अर्पूरत तिरुवन्तति (आश्चर्य के पवित्र जुड़ाव वाले छंद), तिरुविरततताई, मणिमलाई (दो रत्नों की पवित्र माला) अम्मैयार की कुछ प्रसिद्ध काव्य कृतियाँ हैं। निम्नलिखित पंक्तियाँ अम्मैयार की कविताओं में से कुछ बहुश्रुत काव्य उक्तियाँ हैं[11]

1. 'न मुझे स्वर्ग चाहिए, न संसार; बस वह दृश्य जब तू शमशान में नृत्य करता है।'

2. 'चाहे यह शरीर जल जाए, चाहे हड्डियाँ राख बन जाएं। बस मुझे तेरे विचारों में जीने दे। हे थिरुवालंगाडु के नटराज बिखरे बाल, भस्म और अग्नि के नेत्रों वाले प्रभु।'

3. 'मैं स्वर्ग की इच्छा नहीं करती, न ही नरक से डरती हूँ; बस तेरा वह नृत्य देखना चाहती हूँ—जो शमशान मे होता है, जहां तू नागों को आभूषण बनाता है। और तेरे आँखों मे अग्नि जलती है।'

अंडाल (गोदा देवी)

अंडाल (गोदा देवी) का जन्म 8वीं-9वीं सदी में तमिलनाडु में हुआ था। इन्हें महिला संतों मे प्रमुख स्थान प्राप्त है। तमिलनाडु में कुछ स्थानों पर अंडाल की पूजा विष्णुजी के स्वामी रंगनाथ स्वरूप के साथ की जाती है। अंडाल रंगनाथ को राधा की तरह पति रूप में पाना चाहती है। इनका जीवन प्रेम और समर्पण का प्रतीक है। इन्होंने प्राय: अपने आप को अपनी कविताओं मे एक नववधू या प्रेमिका के रूप में चित्रांकित किया है। इन्होंने अपने काव्यों में गीतात्मक आजवार शैली का प्रयोग किया है। इनकी कविताओं में इन्होंने अपनी छवि को प्रेम में पागल एक नायिका के रूप मे दर्शाया है, जो भगवान के साथ वैवाहिक एकत्व का स्वप्न देखती है। 'हे श्री रंगनाथ, मुझे स्वीकारो, मैं तुम्हारी दासी नहीं पत्नी बनना चाहती हूँ।' यह पंक्ति इनकी एक अत्यंत प्रसिद्ध काव्योक्ति का हिन्दी अनुवाद है।

श्री अक्क महादेवी

अव्वैयार की तरह ही 12वीं शती में कर्नाटक के लिंगायत संप्रदाय के परिवार में जन्मी श्री अक्क महादेवी शिवभक्ति का महान उदाहरण हैं, जिन्होंने शिव के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया। इनकी यह प्रबल शिव भक्ति मूलत: इनके परिवार की पारंपरिक शिवभक्ति के संस्कारों के फलस्वरूप है, जिन्होंने कर्नाटक में बढ़ते हुए वीर शैववाद के समर्थन मे प्रधान भूमिका निभाई थी।

'पति अंतर में, प्रियतम बाहरय मैं दोनों को एक साथ नहीं निभा सकती। '[12]

महादेवीजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ उस 'अनश्वर प्रियतम' के प्रति उनकी गहरी निष्ठा को दर्शाती है[13]

'भूख के लिए
टनों चावल भीख के कटोरे में रखा है।
प्यास के लिए
तालाब, नहर, और कुएं हैं।
शयन के लिए
मंदिरों के भग्नावशेष हैं।
मेरे आत्मा के साथी
मैं आपके साथ हूँ हे ईश्वर
शुभ्र जैसे जस्मिन'

निष्कर्ष

दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन में महिला संतों की भूमिका केवल सहायक या साइड पात्र की नहीं रही, बल्कि वे स्वयं केंद्र में थीं—तेजस्वी, तपस्विनी और क्रांतिकारी। यद्यपि इस शोध में स्थानाभाव के कारण महाराष्ट्र की मुक्ताबाई, बहिनाबाई, जनाबाई जैसी महान संतों के नाम प्रमुखता से नहीं आ सके, तथापि यह निर्विवाद है कि इन सभी संत-साधिकाओं ने अपने आत्मबल, काव्य और भक्ति के माध्यम से भारतीय समाज की आत्मा को झकझोरा।

तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक जैसे प्रदेशों में आज भी करैक्काल अम्मैयार, अंडाल, अव्वैयार जैसी संत स्त्रियों को देवी के रूप में पूजा जाता है। यह केवल धार्मिक आस्था नहीं, बल्कि उस ऐतिहासिक चेतना का प्रमाण है जिसमें एक नारी आत्मा को ईश्वर के समीपस्थ समझा गया। इन संत कवयित्रियों ने अपने अनुभवों को छिपाया नहीं उन्होंने समाज की असमानता, पितृसत्ता, जातिवाद, लिंगभेद और ब्राह्मणवादी नियंत्रण के विरुद्ध आवाज उठाई; वह भी एक ऐसे युग में जब स्त्री का स्वर मौन में गूंजता था।

इनकी रचनाओं में करुणा, विद्रोह, समर्पण, प्रेम और वैराग्य की ऐसी अद्वितीय रचनात्मकता मिलती है, जो आज के तथाकथित नारीवादी विमर्श से कहीं अधिक सशक्त और आत्मगौरव से परिपूर्ण है। जहाँ आधुनिक आंदोलन कभी-कभी केवल अधिकारों की मांग तक सीमित हो जाते हैं, वहीं इन संतों की साधनास्व के विस्तारऔरईश्वर के वरणकी ओर बढ़ती है वह भी सामाजिक बेड़ियों को तोड़ते हुए।

इन स्त्रियों ने पत्नी, माँ और दासी के परंपरागत दायरे को आत्मचेतना, भक्ति और बौद्धिक स्वतंत्रता से विस्तार दिया। वे स्त्रियाँ जो समय से आगे चलीं जिन्होंने अपने शरीर, रूप, परिवार और यहाँ तक कि मृत्यु से भी ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित किया।

यह अध्ययन न केवल ऐतिहासिक दस्तावेजों का विश्लेषण है, बल्कि स्त्री चेतना की उस पवित्र रेखा को छूने का प्रयास भी है, जो समय, स्थान और परंपरा की सीमाओं से परे है। इन तेजस्विनी आत्माओं की परंपरा को नमन है वे भविष्य की पीढ़ियों के लिए प्रकाश स्तंभ बनी रहेंगी।

शोधार्थी, हिन्दी

सन्दर्भ सूची

1. शाश्वती पांडा ट्रैसिंग द आइडियास ऑफ इमैन्सपैशन इन थे वॉइसेस ऑफ वुमन साइंट्स ऑफ इंडिया इन मेडीवल पीरीअड, भूमिका पृष्ठ 2
2. वही, पृष्ठ 2
3. वही, पृष्ठ 2
4. उमा चक्रवर्ती द वर्ल्ड ऑफ द भक्तिन इन साउथ इंडियन ट्रडीशंस रू द बॉडी एण्ड बिऑन्ड, पृष्ठ 3
5. वही, पृष्ठ 4
6. उमा चक्रवर्ती तमिल साहित्य का इतिहास (अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 262
7. वही, पृष्ठ 264
8. वही, पृष्ठ 262
9. वही, पृष्ठ 262, 264, 266
10. वही, पृष्ठ 266
11. केरेन पेचीलीस –इंटेरपरेटिंग डिवोशन : थे पोइट्री एण्ड लेगसी ऑफ अ फीमैल भक्ति सैंत ऑफ इंडिया, पृष्ठ 2
12. ए. के. रामानुजन शिव के वचन, पृष्ठ 124 (सौजन्य उमा चक्रवर्ती, द वर्ल्ड ऑफ द भक्तिन इन साउथ इंडियन ट्रडीशंस : द बॉडी एण्ड बिऑन्ड)
13. वही, पृष्ठ 127

शोध-पत्र

हिंदी सिनेमा का बदलता परिदृश्य

डॉ. सीमा माहेश्वरी

भारत एक विषमता एवं बहुलतावादी देश है। जहाँ विभिन्न संस्कृतियों का समावेश देखने को मिलता है। यहाँ विभिन्न धर्म, जाति एवं भाषा को बोलने वाले लोग रहते हैं। जिसमें भाषा में भी बहुलता देखने को मिलती है। भारत के हर राज्य की एक विशेष भाषा एवं बोली है। कई राज्यों का नामकरण भी भाषा के आधार पर हुआ है। जैसे- बंगाल, पंजाब, गुजरात, असम, तमिल, हरियाणा, उड़ीसा आदि। किन्तु हिंदी भाषा जो मुख्यत: भारत के उत्तरी क्षेत्र की भाषा है उसमें भी विभिन्न बोलियों का समागम देखने को मिलता है। हिंदी भाषा भाषाई स्तर पर अपना एक अनोखा महत्त्व रखती है। हिंदी विश्व में तीसरे स्थान पर सबसे अधिक बोले जाने वाली भाषा है। हिंदी भाषा को भारत में राजभाषा का दर्जा प्राप्त है। विश्व स्तर पर भारत को हिंदी भाषा से जोड़ कर देखा जाता है।

भूमंडलीकरण के दौर में सिनेमा एक बहुत ही बड़े एवं सफल व्यवसाय के रूप में उभरा था। जो लोगों के बीच आकर्षण का केंद्र रहा है। सिनेमा का सीधा सम्बन्ध समाज से है, क्योंकि इसने सदा ही समाज को प्रभावित किया है। समाज और सिनेमा हमेशा एक-दूसरे के संपूरक रहे हैं। सिनेमा का विषय भी शुरूआती दौर में धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक ही है। समाज के परिवर्तन के साथ-साथ सिनेमा का विषय भी हमेशा परिवर्तित होता रहा है। सिनेमा और हिंदी भाषा दोनों ने एक-दूसरे के साथ मिलकर खूब लोकप्रियता हासिल की है। अभिव्यक्ति के अखिल भारतीय माध्यम के रूप में हिंदी फिल्मों के असाधारण महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए ही टी. वी. शांताराम, पी.सी. बरुआ, विमल राय, सत्यजित राय, श्याम बेनेगल तथा भूपेन हजारिका प्रभृति सिनेमा संसार के दिग्गजों ने हिंदी सिनेमा से जुड़ना महत्वपूर्ण समझा।

हिंदी सिनेमा में सामाजिक एवं राजनीतिक मुद्दों को कहीं-न-कहीं किसी रूप में केन्द्रित किया जाता है जैसे राष्ट्रीयता, देश-भक्ति, विभाजन, भ्रष्टाचार, बाल-शोषण, भेदभाव, अमीर-गरीब, पूँजी-पति वर्ग, शिक्षा, पलायन आदि। ऐसे सामाजिक मुद्दे हैं जो सीधे सिनेमा से जुड़े हुए हैं। हिंदी फिल्मों का उद्देश्य भी यही हुआ करता था देशप्रेम, बालविवाह, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों को तोड़ने वाले जैसे सामाजिक धर्म का निर्वाह करती है। रविन्द्र जाधव लिखते हैं—''समाज की किसी भी विचारधारा, आंदोलन एवं परिवर्तन का जन्म परिवेश और परिस्थिति की कोख से होता है। साहित्य भी उसी सामाजिक परिवेश और परिस्थिति को महत्तम उपलब्धि है। यह केवल मनुष्य की अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि समाज का दिशादर्शक एवं प्रेरणास्रोत भी है।''[1] उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है सिनेमा और साहित्य का आपस में सामंजस्य है एवं साहित्य का समाज से। इस प्रकार सिनेमा भी समाज को प्रभावित करता है। सिनेमा का सीधा सम्बन्ध समाज से होता है। जब-जब समाज में कोई परिवर्तन हुआ है सिनेमा पर भी इसका सीधा प्रभाव देखने को मिलता है। इसलिए सिनेमा समाज का यथार्थ रूप प्रस्तुत करती हैं। इन दोनों का रिश्ता बहुत पुराना है। भारतीय सिनेमा के शुरूआती दौर में पहली भारतीय फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' 1913 में मराठी भाषी दादा फालके ने 'सब टाइटल्स' अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी में भी रखे थे तथा जब

उन्होंने पहली बार फिल्म में आवाज को शामिल किया तो हिंदी का ही प्रयोग किया।

सिनेमा के शुरुआती दौर में 'पुंडलिक' (1912) जोकि एक मराठी भाषा की पहली फिल्म थी एक धार्मिक फिल्म थी। यह फिल्म निर्माता आर. जी. तोरणे और एन. जी. चित्रे द्वारा बनाई गई थी। एक वर्ष पश्चात् दादासाहब फाल्के द्वारा बनी फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का विषय भी धार्मिक था। सिनेमा में आरंभिक दौर में धार्मिक विषय होने का मुख्य कारण लोगों में धर्म के प्रति आस्था थी। समाज में नैतिक शिक्षा के प्रसार लाने के लिए फिल्म निर्देशकों ने भी धार्मिक फिल्मों को बनाया। जनता की रुचि धार्मिक जैसे विषयों में होने कारण फिल्म-निर्माता भी उसी विषय से सम्बंधित फिल्में बनाते थे। शुरुआती दौर में निर्माताओं ने ऐतिहासिक विषय को लेकर 'पृथ्वी-वल्लभ', 'झाँसी की रानी', 'पुकार', 'सिकंदर-ए-आजम' जैसी फिल्में बनाई थी जिसमें स्वतंत्रता जैसे विषय भी प्रमुख रहे हैं।

भारतीय सिनेमा पश्चिमी सिनेमा 'होलीवुड' की तर्ज बना था। इसलिए हिंदी सिनेमा 'बोलीवुड' से संबोधित किया गया। आरम्भिक दौर से लेकर वर्तमान समय में भी सिनेमा के विषय सदा प्रभावित रहे हैं। भारतीय सिनेमा ने हमेशा बदलते समय के साथ खुद बदला है। बदलते दौर के साथ तकनीकी एवं कलात्मकता के बढ़ते महत्त्व के चलते सिनेमा ने भी नवीन तकनीकों का सहारा लिया एवं उसमें सफल हुआ। आज का इंटनेट साधन के साथ भी सिनेमा कदम से कदम मिला कर चल रहा है।

1936 में आई 'अछूत कन्या', बांग्ला में बनी 'मेघे ढाका तारा', सत्यजीत ते द्वारा बनी 'पथेय पंचाल' यह भी बंगला भाषा में बनी, बिमल राय की हिंदी में बनी 'दो बीघा जमीन' ने भारतीय सिनेमा का पथ-प्रदर्शन किया था। इन सभी फिल्मों ने न केवल भारतीय सिनेमा जगत में खूब सुर्खियाँ बटोरी बल्कि विश्व स्तर पर भी इन्हें सराहना मिली। यह फिल्में विभिन्न आधुनिक तकनीकों से ओत-प्रोत थीं। ''शुरुआत में जैसे धार्मिक पौराणिक फिल्म अस्तित्व में आई और फिर ऐतिहासिक विषयों ने अपनी जगह बनाई, वैसे ही दिलीप कुमार, वी. शांताराम, देव आनंद, राज कपूर और गुरुदत्त जैसे अदाकारों तक आते-आते भारत की मुख्यधारा का सिनेमा अर्थात् हिंदी सिनेमा काफी हद तक समकालीन सच्चाइयों के निकट आ चुका था।''[2] भारतीय सिनेमा में आधुनिक समय की फिल्मों ने मानो नया आगाज किया हो।

आजादी के दौर में राष्ट्रभक्ति एवं देशभक्ति जैसी फिल्मों को महत्व दिया जाने लगा। जिससे समाज में राष्ट्रभक्ति एवं देशभक्ति की भावना प्रबल हो। भारतीय सिनेमा में मनोरंजन की फिल्मों के साथ-साथ न्यू वेब दौर भी चलता रहा जिसे समानान्तर सिनेमा के रूप में भी जाना जाता है। सत्यजीत राय की फिल्म 'पथेर पांचाली' से इसकी शुरुआत मानी जाती है। इसके बाद गुरुदत्त, विमल राय, ऋषिकेश मुखर्जी, ख्वाजा अहमद अब्बास, प्रकाश झा, गोविंद निहलानी, मृणाल सेन, श्याम बेनेगल, गौतम घोष, भीम सेन, महेश भट्ट आदि। फिल्म निर्देशकों ने समानान्तर फिल्में बनायीं। इन्हें सिनेमा जगत में भरपूर सफलता भी मिली। इन फिल्मों में 'श्री 420', 'आवारा', 'सात हिन्दुस्तानी', 'जागते रहो', 'शहर और सपना', 'आक्रोश', 'सारांश', 'सारा आकाश', 'अर्थ', 'अर्द्धसत्य', 'घरौंदा', आदि समानांतर फिल्मों की शुरुआत को दर्शाता है। इन फिल्मों का उद्देश्य समाज के समानांतर चलते हुए फिल्में बनाना था।

1975 के बाद हिंदी सिनेमा में विभिन्न भाषाओं में सिनेमा का प्रसार हुआ तथा यथार्थवादी सिनेमा का आगमन सिनेमा के जगत में हुआ। तकनीकी क्षेत्र में भी नवीन प्रयोग होने लगे। समाज का यथार्थवादी रूप सिनेमा के बहाने सामने आने लगा। यह धारा 1990 तक सिनेमा जगत की मुख्य धारा बन गई। इन फिल्मों को बहुत सराहा गया। जैसा कि हम सभी पूरी तरह वाकिफ हैं सिनेमा भी जनसंचार का माध्यम है जो लोगों में संदेश एवं जागरूकता का कार्य करता है। यथार्थवादी सिनेमा के भीतर समाज में व्याप्त समस्या को उजागर किया गया है जैसे गरीबी, जातिवाद, धार्मिक अहिष्णुता, संघर्ष, लिंग-भेद, स्त्री शोषण, राजनीतिक भ्रष्टाचार जैसे तत्वों को उजागर करते है जो समाज में व्याप्त है। ''नब्बे के दशक तक अर्थपूर्ण एवं यथार्थवादी सिनेमा काफी सशक्त हुआ था और इसने भी देश को काफी अच्छे अदाकार, निर्देशक दिए। नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी, अमरीश पुरी, कूलभूषण खरबंदा, मोहन आगाशे, अमोल पालेकर आदि कई अभिनेता इसी धारा से प्रकाश में आए। फिल्मों में भी 'भुवन शोम', 'मृगया', 'एक अधूरी कहानी', 'फणिअम्मा', 'घट श्राद्ध', 'पार', 'अयांत्रिक', 'सुवर्ण रेखा', 'पार्टी', 'प्रतिद्वंद्वी',

'पोस्टर', 'शंकराभरणं', 'ये वो मंजिल तो नहीं', 'निशांत', 'संस्कार', 'वंशवृक्ष', 'चक्र', 'नागरिक', 'इंटरव्यू', 'औरत', 'उसकी रोटी', 'चश्मे बद्दूर', 'कथा', 'दामुल', 'जाने भी दो यारों' आदि की एक लंबी सूची है, जिसने भारतीय सिनेमा में सोच और रचनात्मकता को एक सार्थक ऊंचाई और अर्थवत्ता प्रदान की।''[3]

सिनेमा बाजारवाद का सबसे सशक्त माध्यम है जिसमें हिट फिल्म, हिट गाने, हिट अभिनय को महत्व दिया जाता है। यह पैसा कमाने का भी सबसे सशक्त माध्यम है जो देश को आर्थिक रूप से प्रभावित करता है। जो विभिन्न प्रकार की फिल्मों, निर्देशक, अभिनेता, अभिनेत्री को प्रभावित करता है। जिससे सिनेमा जगत में आपस में स्पर्धा चलती रहती है। सिनेमा जगत एक ऐसा विषय है जो पूरे समाज को बहुत अधिक प्रभावित करता है। पूंजीवादी समाज ने अपनी वस्तु के प्रचार के लिए भी सिनेमा का प्रयोग बड़े स्तर करते हैं।

भारतीय सिनेमा में सामाजिक यथार्थ पर जो फिल्में बनी है उनमें 'चक दे इंडिया', 'पानसिंह तोमर', 'मांझी', 'आरक्षण', 'आर्टिकल-15', 'दंगल', 'भाग मिल्खा भाग', 'क्वीन', '3 इडियट्स', 'पी.के.', 'काई पो छे', 'सुपर 30' आदि ऐसी प्रसिद्ध फिल्में रहीं जो सामाजिक यथार्थ को प्रदर्शित करती हैं।

हिंदी सिनेमा विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा क्षेत्रीय संस्कृतियों के साझे, समन्वित प्रयासों का परिणाम था। एक समीक्षक का कहना था 'आलामारा' के बाद जब बोलती फिल्मों ने अपनी पहचान बनानी शुरू की, बांग्ला, मराठी आदि की भाषा-संस्कृति ने भी हिंदी सिनेमा को संपन्न किया। इस तरह से शुरुआती हिंदी सिनेमा हिंदी भाषी-संस्कृति के क्षेत्र का सिनेमा नहीं था। उसे 'हिन्दुस्तानी सिनेमा' भी कहा जा सकता है।

हिंदी सिनेमा में अब क्षेत्रीय भाषा को भी महत्व दिया जाने लगा है। बदलते दौर के साथ टी.वी. एवं इंटरनेट जैसे माध्यमों ने सभी भाषाओं को एक स्तर पर लाने का प्रयास किया यह प्रयास सफल भी रहा जो प्रसिद्ध क्षेत्रीय भाषी फिल्म है उनका हिंदी अनुवाद भी देखने को मिलता है। वर्तमान में दक्षिणी भाषी फिल्मों का हिंदी भाषा में अनुवाद किया जाता है। आज दक्षिणी भाषी फिल्मों को हिंदी बहुल क्षेत्रों में लोकप्रियता भी मिल रही है जिनमें सबसे प्रसिद्ध फिल्में हैं 'चंद्रमुखी', 'इंद्रा', 'अपरिचित', 'आई', 'बाहुबली', 'पुष्पा', 'वोंटेड', कंतारा आई' यह ऐसी लोकप्रिय फिल्में हैं जिन्हें हिंदी भाषी लोगों के बीच भी सफलता मिली है। इसी प्रकार हिंदी भाषी फिल्मों का भी अन्य क्षेत्रीय भाषा में भी अनुवाद हुआ है 'फूल और कांटे', 'मुन्ना भाई एम.बी.बी.एस.', 'जब वी मेट' ऐसी हिंदी फिल्में है जिनका अनुवाद अन्य क्षेत्रीय भाषा में भी हुआ है।

वर्तमान समय में हिंदी भाषा की विश्व स्तर पर भी लोकप्रियत ाबढ़ती जा रही है। हिंदी भाषा को भारतीय समाज में राजभाषा का दर्जा प्राप्त है। भाषा जहाँ अभिव्यक्ति का माध्यम है वहीं सिनेमा अभिव्यक्ति के साथ-साथ समाज को जागरूक करने का माध्यम भी है। हिंदी भाषा ने कहीं न कहीं सिनेमा के क्षेत्र को प्रभावित किया है। इसी प्रकार हिंदी सिनेमा ने भी भारतीय समाज को सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीति एवं आर्थिक रूप से प्रभावित किया है।

हम सभी जानते हैं सिनेमा एक 'जनसंचार' माध्यम है जिसमें सिनेमा के माध्यम से दर्शकों को एक स्तर पर जोड़ा जाता है। जनसंचार के माध्यम में रेडियो, दूरदर्शन, समाचार पत्रों के समान ही फिल्मों का बहुत बड़ा योगदान है। एक पाश्चात्य विद्वान डेनियल आर. विलियम्स ने अपने ग्रन्थ 'फीचर राइटिंग फॉर पेपर्स' में लिखा है, ''फिल्म एक ऐसा रचनात्मक तथा कुछ-कुछ स्वानुभूति मूलक लेखन है जिसका गठन किसी घटना, स्थिति अथवा जीवन के किसी पक्ष के सम्बन्ध में पाठकों दर्शकों का मनोरंजन करने एवं सूचना देने के उद्देश्य किया गया है''[4] जो दर्शकों को संवेदनात्मक रूप से एक-दूसरे से जोड़ती है।

सिनेमा में भाषा का प्रयोग प्रचलित भाषा का रूप देखने को मिलता है। अगर फिल्म किसी विशेष क्षेत्र जैसे पंजाब, गुजरात, बंगाली, भोजपुरी परिवेश पर आधारित है तो सिनेमा में भाषा का प्रयोग इसी आधार पर किया जायेगा। जैसे 'मदर इण्डिया' में हिंदी एवं भोजपुरी भाषा का मिला-जुला रूप देखने को मिलता है। सिनेमा सदा दर्शकों के रुचि के अनुरूप खुद को परिवर्तित करके चलता रहता है। सिनेमा के बदलते परिप्रेक्ष्य के विषय में बर्तोल्त ब्रेख्त का मत है—''लोकप्रिय सिनेमा में परिवर्तन लोगों के जीवन में परिवर्तन लाकर ही किया जा सकता है। वे मानते हैं कि सिनेमा उस समय बदल जायेगा। जब लोगों की जिंदगी के हालात बदल जायेंगे। लेकिन

समाज या जीवन के हालात में परिवर्तन के लिए विभिन्न स्तर पर किये जाने वाले प्रयासों में अन्य सचेतन वर्ग के लोगों की तरह क्या फिल्म निर्माताओं की भूमिका नहीं होनी चाहिए?''[5] इससे स्पष्ट है सिनेमा का मूल उद्देश्य लोगों के जीवन में सकारात्मक बदलाव है।

हिंदी सिनेमा में संगीत का बहुत अधिक महत्व है सभी फिल्म में गाने की भूमिका को महत्वपूर्ण रूप में देखा जाता है। आरंभिक दौर की फिल्मों में ''गीतों के कारण यह फिल्म इतनी लोकप्रिय हुई कि उस दिन शो देखने के लिए ब्लैक में एक-एक टिकट पचास-पचास रूपये का बिका था।'' हिंदी सिनेमा संगीत प्रधान रहा है वर्तमान समय में बिना संगीत के सिनेमा की कल्पना नहीं की जा सकती है। हिंदी शायर एवं लेखक की कविताओं का प्रयोग भी सिनेमा में देखने को मिलता है-''इस मोड़ पर आते हैं कुछ सुस्त कदम रस्ते, कुछ तेज कदम राहें उस मोड़ पर आ बैठा हूँ जिस मोड़ से जाती हैं हर एक तरफ राहें' ये पंक्तियां गुलजार की 'दिशाएं' कविता की पंक्तिया हैं''[6] इसी प्रकार निदा फाजली, जावेद अख्तर, गालिब की कविताओं का प्रयोग सिनेमा में होता है।

संगीत को मनोरंजक के रूप में देखा जाता है। जहाँ सिनेमा जगत में गानों का इतना अधिक महत्त्व है कि बिना गाने के फिल्म अधूरी लगती है। गानों का प्रचलन शुरूआती दौर से है जहाँ हिंदी गानों एवं पंजाबी गानों का अपना अलग महत्व है। आज पंजाबी गाने एवं हिंदी गाने मिलाकर लिखे जाते हैं। इन गानों की लोकप्रियता लोगों के बीच बढ़ती जा रही है। पंजाबी गानों की रुचि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देखने को मिलती है। यह विश्व स्तर पर लोगों में गानों प्रति बढ़ता रुझान है। इंटरनेट जैसे सशक्त माध्यम ने लोगों को एक-दूसरे से जोड़ने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। जहाँ हिंदी-पंजाबी का मिला-जुला रूप देखने को मिलता है। इसका प्रमुख कारण दर्शको में पंजाबी संगीत को लेकर बढ़ती लोकप्रियता है। दर्शक का हिंदी शायरी, गजलों, नज्म में बढ़ती रुचि भी सिनेमा को प्रभावित कर रही है। इंटरनेट एक ऐसा सशक्त माध्यम में जिसने पूरे विश्व को एक-दूसरे से जोड़ा है। दर्शकों की रुचि हिंदी भाषी समुदाय के साथ-साथ अन्य भाषी लोगों में भी हिंदी के प्रति रुचि उत्पन्न कर रही है।

दर्शकों की इसी बढ़ती रूचि के कारण विभिन्न भाषा की फिल्मों का अनुवाद हिंदी में भी किया जाने लगा है। 'नेटफ्लिक्स', 'प्राइम वीडिओ', जो पूरे विश्व को एक-दूसरे से जोड़ती है उन पर हर फिल्म का अनुवाद हिंदी भाषा में भी उपलब्ध होने लगा है। इसका मुख्य कारण हिंदी भाषा के प्रति लोगों की बढ़ती रुचि के कारण हो रहा है। आज हिंदी भाषा को विश्व स्तर पर लोग बोलना एवं सुनना पसंद करने लगे हैं। जहाँ हिंदी का लिखने एवं बोलने वाला वर्ग है वहीं हिंदी को गाने के रूप सुनना या फिल्म देखना, शायरी, गजल, गीत को सुनने वाला भी एक विशेष वर्ग है। जो हिंदी को सुनना पसंद करता है। यह वर्तमान समय में हिंदी भाषा के प्रति बढ़ती लोकप्रियता है। जिससे लोगों का रुझान हिंदी भाषा प्रति हो रहा है।

वर्तमान दौर में इंटरनेट के जहाँ सकारात्मक प्रभाव हैं वहीं इसके नकारात्मक प्रभाव भी हैं। जहाँ सिनेमा का पश्चिमी देशों से प्रभावित होने पर उनके अनुरूप लम्बी सीरीज का प्रचलन बढ़ा है। जो लगभग 8-10 घंटों की होती है जिसमें व्यक्ति अपना मनोरंजन तो ढूँढता है किन्तु उसका पूरा समय उसी में चला जाता तथा इससे उसकी आम दिनचर्या भी प्रभावित होती है तथा यह उसके कार्यों में बाधा भी उत्पन्न करता है। जो उसके स्वास्थ को भी प्रभावित कर रहा है। इंटनेट ने व्यक्ति अपने ऊपर इस प्रकार निर्भर कर लिए है जिससे उसके सभी महत्वपूर्ण कार्य भी इसी पर निर्भर है। इंटनेट का समय से अधिक प्रयोग व्यक्ति को मानसिक रूप से भी प्रभावित करने लगा है। यह सबसे नकारात्मक प्रभाव है।

हम यह कह सकते हैं हिंदी सिनेमा हर बदलते युग में भारतीय समाज के हर क्षेत्र को किसी न किसी रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। जो दर्शकों की बदलती रुचि के अनुरूप खुद को ढाल लेता है। सिनेमा एक बहुत ही सशक्त माध्यम है जिसने बदलते युग के साथ खुद भी परिवर्तित किया है तथा यह सफल भी रहा है। यदि हम देखें हिंदी भाषा को पूरे भारतीय समाज एवं विश्व में मुख्य भाषा के रूप में लाने में महत्वपूर्ण योगदान सिनेमा का ही है। वर्तमान सन्दर्भ में भी सिनेमा सफल एवं सशक्त माध्यम है।

एसोसिएट प्रोफेसर
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
smaheshwari@knc.du.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. संपादक रविन्द्र जाधव, केशव मोरे, मीडिया और हिंदी बदलती प्रवृत्तियां, वाणी प्रकाशन, पृ.- 220
2. सलील सुधाकर, कहाँ कहाँ से गुजर गया सिनेमा, ई-सन्दर्भ
3. उपर्युक्त
4. संपादन, रविन्द्र जाधव, केशव मोरे, मीडिया और हिंदी बदलती प्रवृतियाँ, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2016, प्राक्कथन
5. समकालीन सृजन साहित्य और सामाजिक आलोचना पत्रिका, समपादक, मृत्युंजय, हिंदी सिनेमा का सच, की पत्रिका, अंक-17, प्रकाशन वर्ष -1997 पृ.- 225
6. हिंदी सिनेमा का सच पत्रिका, अंक-17, पृ.- 91
7. हरीश चन्द्र बर्णवाल, टेलीवीजन की भाषा, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2011, चौथा संस्करण- 2022
8. अजय ब्रह्मात्मज, सिनेमा की सोच, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2006, आवृत्ति- 2013
10. जनकृति, अंतर्राष्ट्रीय मासिक पत्रिका, अंक 108-109, अप्रैल-मई 2024 द्धसंयुक्तऋ
11. आलोचना, त्रैमासिक, अंक 60, अप्रैल-जून- 2019

नारी का स्वरूप वैदिक परिप्रेक्ष्य में : सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण

चंदा*

प्रो. कौशल्या**

शोध-सार

यह शोधपत्र वैदिक संहिताकाल में नारी के सामाजिक और आध्यात्मिक स्वरूप का विश्लेषण करता है। वैदिक संहिताकाल में नारियों को उच्च सम्मान प्राप्त था और वह शिक्षा, युद्धकला, यज्ञ, और आध्यात्मिक साधना में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद् ग्रन्थों में नारियों की भूमिका और उनके योगदान का विस्तृत रूप से वर्णन मिलता है। प्रस्तुत शोध-पत्र नारी के वैदिककालीन समाज में स्थान, अधिकार, और आध्यात्मिक उन्नति की दिशा को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

संकेत-शब्द

नारी, वैदिक संहिताकाल, सामाजिक स्थिति, आध्यात्मिक उन्नति, ब्रह्मवादिनी, यज्ञ, ऋषिकाएँ, नारी शिक्षा, पितृसत्तात्मकता, वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्

प्रस्तावना

वैदिक संहिताकाल भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण युग रहा है, जिसमें समाज की संरचना, धर्म, और संस्कृति की नींव रखी गई। वैदिक काल में नारियों को उच्च सम्मान प्राप्त था और वह समाज के विभिन्न पहलुओं में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में नारियों की भूमिका और उनके अधिकारों का विस्तृत वर्णन मिलता है, जो उनके सामाजिक और आध्यात्मिक स्वरूप को उजागर करता है।

''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।''

अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा होती है वहां देवताओं का निवास होता है और जहाँ इनका आदर नहीं होता वहां समस्त धर्म-कर्म निष्फल हो जाते हैं।

विषय-वस्तु

1. वैदिक काल में नारी की सामाजिक स्थिति

वैदिक काल में नारियों को उच्च सम्मान प्राप्त था। ऋग्वेद में अनेक प्रकार की ऋषिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्होंने वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार किया और समाज में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उदाहरण के लिए घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, और विश्ववारा जैसी ऋषिकाएँ थीं जो वैदिक सूक्तों की द्रष्टा थीं।

अयज्ञियो वा एषः। योऽपत्निकः।

अर्थात् पत्नी के अभाव में यज्ञ अपूर्ण है अतः सपत्नीक यज्ञ करें। पत्नी के बिना यज्ञ करने वाले यजमान को अयज्ञिय कहा गया है।

नारियों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। उन्हें वेद, संगीत, नृत्य, शिल्प, और युद्धकला की शिक्षा दी जाती थी।

श्रिया वा एतद् रूप्यम् यत्पत्न्यः।

अर्थात् पत्नी गृहलक्ष्मी है, साक्षात् श्री हैं। वैदिक समाज में नारियां भी यज्ञों में भी सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। कौषीतकि ब्राह्मण में उल्लेख है कि कुछ यज्ञों का अनुष्ठान केवल नारियां ही कर सकती थीं।

जघनार्द्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी।

अर्थात् पत्नी को यज्ञ का अर्धभाग कहा गया है।

न वै स्त्रियं घ्नन्ति।

अर्थात् नारी के प्रति हिंसा करना निषेध बताया गया है।

क. शिक्षा और विद्वता में समानता – वैदिक काल में नारियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। उपनयन संस्कार के माध्यम से कन्यायें भी वेदों का अध्ययन करती थीं। ऋग्वेद में लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, सूर्या, शची, विश्ववारा जैसी ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने वैदिक सूक्तों का साक्षात्कार किया।

ख. समाज में सक्रिय भागीदारी – नारियाँ युद्ध, राजनीति, और सामाजिक निर्णयों में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। उदाहरण स्वरूप, ऋग्वेद में शशीयसी और दानु जैसी स्त्रियों का उल्लेख प्राप्त है, जिन्होंने युद्धों में भाग लिया और वीरता की अमिट छाप छोड़ी।

ग. धार्मिक और सांस्कृतिक योगदान – नारियाँ धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेती थीं और यज्ञों का आयोजन करती थीं। शतपथ ब्राह्मण में वशिष्ठ के गुरुकुल में उनकी पत्नी अरुन्धती द्वारा संगीत और पर्यावरण संरक्षण की शिक्षा देने का वर्णन मिलता है।

घ. परिवार और विवाह में स्वतंत्रता – विवाह से पूर्व नारियाँ शिक्षा प्राप्त करती थीं और अपने जीवनसाथी का चयन करने में स्वतंत्र होती थीं। अथर्ववेद में वर्णन है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली कन्या योग्य पति को प्राप्त करती है।

ङ. सामाजिक उत्थान और संघर्ष – वैदिककाल में नारियाँ सृजनात्मक कार्यों में संलग्न थीं और उनका सामाजिक संघर्ष साहित्य में परिलक्षित होता है। वैदिक सूक्तों की रचनाएँ नारियों की सृजनात्मकता और सामाजिक स्थिति को दर्शाती हैं।

2. युद्ध में नारी का योगदान

ऋग्वेद के दशम मंडल के 85वें सूक्त में विश्पला का उल्लेख मिलता है। वह एक योद्धा रानी थीं जिन्होंने युद्ध में भाग लिया। युद्ध के दौरान उनकी जंघा कट गई, जिसे अश्विनीकुमारों ने कृत्रिम लोहे की जंघा से प्रतिस्थापित किया। उन्होंने युद्ध जारी रखा और विजय प्राप्त की। ऋग्वेद में दानु और शशीयसी जैसी नारियों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने युद्धों में भाग लिया और वीरता का परिचय दिया। दानु ने वृत्रासुर के साथ युद्ध किया और वीरगति को प्राप्त हुई। शशीयसी ने भी युद्ध में भाग लिया और अपने साहस से समाज में सम्मान प्राप्त किया। वैदिककाल में नारियाँ भी सैन्य शिक्षा प्राप्त करती थीं। उन्हें धनुर्वेद, अस्तबल संचालन और युद्ध कौशल की शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद में वर्णन है कि नारियाँ युद्ध में भाग लेने हेतु प्रशिक्षित होती थीं और उन्हें शस्त्र संचालन में दक्षता प्राप्त होती थी। वैदिककाल में नारी की युद्ध में भूमिका स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती है। उनकी वीरता, साहस और युद्ध कौशल ने समाज में उनकी प्रतिष्ठा को ऊँचा किया। यह दर्शाता है कि प्राचीन भारतीय समाज में नारी को समान अधिकार और सम्मान प्राप्त था।

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः॥

इन्द्राणी को सेनानी के रूप में वर्णन करते हुए कहा गया है की उसका पैर शत्रु मर्दन के लिए आगे बढ़ने के लिए अधीर है। वह विजयिनी है और कभी पराजित नहीं होने वाली है।

3. आध्यात्मिक दृष्टिकोण : ब्रह्मवादिनी और वेद मन्त्रद्रष्टा

'ब्रह्मवादिनी' वह नारियां होती थीं जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदों का अध्ययन करती थीं और आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में अग्रसर होती थीं। उदाहरण के लिए गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषियाँ थीं, जिन्होंने वेदों और दर्शनशास्त्र में गहरी रुचि दिखाई और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए।

कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥

हे उषादेवी! तुम कन्या के समान अपने अंगों को स्पष्ट करती हुई दानशील एवं प्रकाशयुक्त सूर्य रूपी प्रिय के समीप आओ! तुम युवती के समान अत्यंत प्रकाशयुक्त होती हुई तथा हंसती हुई सूर्य के सामने अपने गोपनीय अंगों को वस्त्ररहित करो।

इसके अतिरिक्त, कुछ नारियाँ वैदिक मन्त्रों की रचनाकार भी थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 39वें और 40वें सूक्त घोषा के द्वारा साक्षात्कार किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि नारियां न केवल आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर थीं अपितु वे वेदों की रचनाकार भी थीं। वैदिककाल भारतीय संस्कृति का आधार स्तंभ रहा है। इस काल में नारी को केवल सामाजिक ही नहीं अपितु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सम्मानित स्थान प्राप्त था। नारी ने वेदों की रचना, ब्रह्मज्ञान, आत्मविचार और दर्शन के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान दिया है। प्रस्तुत शोध पत्र में वैदिक नारियों के अध्यात्मिक योगदान पर आधारित विचार प्रस्तुत किए गए हैं। 'ब्रह्मवादिनी' उस नारी को कहा जाता था जो ब्रह्मज्ञान में पारंगत हो और वेदाध्ययन में प्रवृत्त हो

उदाहरणस्वरूप लोपामुद्रा, उन्होंने अपने पति ऋषि अगस्त्य से आत्मा और ब्रह्म के रहस्य पर प्रश्न पूछे और उत्तरों में गूढ़ आध्यात्मिक संकेत पाए जाते हैं। घोषा ने दो सूक्तों की रचना की, जिनमें आध्यात्मिक साधना और ईश्वर से कृपा की प्रार्थना की गई है। विश्ववारा इन्द्र की स्तुति के माध्यम से ईश्वर की सर्वव्यापकता और नारी की श्रद्धा को दर्शाया गया है।

क. वेदों में नारी की आध्यात्मिक दृष्टि – ऋग्वेदसंहिता में नारी के माध्यम से आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, और मोक्ष जैसे विषयों की स्पष्ट झलक मिलती है

'स्त्री हि ब्रह्म बभूविथ'

स्त्री को ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है। सूर्या के विवाह में जीवन के चार आश्रमों और नारी की सामाजिक एवं आध्यात्मिक भूमिका पर प्रकाश डाला गया है।

ख. यज्ञ और आध्यात्मिक अनुष्ठान में सहभागिता – नारियाँ यज्ञों में आहुति देती थीं और मंत्रोच्चारण करती थीं। 'पत्नी धर्मे सहधर्मिणी।' शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है कि पति पत्नी दोनों साथ यज्ञ को पूर्ण करते हैं।

ग. उपनिषदों में नारी – बृहदारण्यक उपनिषद में गार्गी ने याज्ञवल्क्य जैसे महान ऋषि से ब्रह्म के विषय में गूढ़ प्रश्न किए। वह ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिमूर्ति थीं और 'ब्रह्मलौकिक संवाद' में उन्होंने निर्णायक भागीदारी की। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से स्पष्ट रूप से पूछा : ''यदि मुझे सारा संसार मिल जाए, परंतु आत्मा का ज्ञान न हो तो क्या वह अमरत्व दे सकता है?'' उनके प्रश्नों से स्पष्ट होता है कि वैदिक नारी आत्मा की स्वतंत्र सत्ता और ब्रह्म के अनुभव की जिज्ञासु रही है। वैदिककाल इस बात का प्रमाण है कि नारी न केवल वैदिक ऋचाओं की रचयिता थीं अपितु आध्यात्मिक द्रष्टा और ब्रह्मविद्या की साधिका भी थीं। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा एवं घोषा जैसी विदुषियों ने वैदिक परम्परा में आध्यात्मिक चेतना को समृद्ध किया। आधुनिक युग में नारी के पुनरुत्थान के लिए इन उदाहरणों से प्रेरणा ली जा सकती है।

4. वैदिक समाज में स्त्री के अधिकार और कर्तव्य

वैदिक समाज में नारियों को संपत्ति पर अधिकार प्राप्त था परन्तु विवाहित नारियों को अपने पिता की सम्पति पर अधिाकार नहीं था किन्तु अविवाहित नारियों को अपने भाई की संपत्ति में से एक चौथाई हिस्सा दिया जाता था ।

नारियाँ गृहस्थ जीवन में भी सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। वह घर की देखभाल करती थीं, बच्चों को शिक्षा देती थीं, और समाज में अपने कर्तव्यों का पालन करती थीं। उनकी भूमिका केवल गृहस्थ तक सीमित नहीं थी अपितु वे समाज के विभिन्न पहलुओं में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं।

वैदिककाल भारतीय संस्कृति का स्वर्ण युग माना गया है। इस युग में नारियाँ समाज का अभिन्न अंग थीं जिन्हें न केवल सम्मान प्राप्त था अपितु शिक्षा, संपत्ति, विवाह, धार्मिक अनुष्ठान और राजनीति तक में भागीदारी का अधिकार प्राप्त था। प्रस्तुत शोधपत्र में वैदिककाल के आधार पर नारी के अधिकारों और कर्तव्यों का विश्लेषण किया गया है।

क. शिक्षा का अधिकार – **''सा विद्या या विमुक्तये।''** नारी को विद्या द्वारा आत्मोद्धार का अधिकार प्राप्त है। नारियों के लिए उपनयन संस्कार का प्रावधान था। लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, विश्ववारा जैसी नारियाँ वेद मन्त्रों की द्रष्टा थीं। ''समानो मन्त्र'' अर्थात् मन्त्र सभी के लिए समान हैं, वेद का अध्ययन एवं वेदोक्त नर नारी दोनों के लिए समान रूप से उपदिष्ट है।

ख. विवाह में स्वतंत्रता – ऋग्वेद में 'स्वयंवर' परम्परा का वर्णन है, जिसमें नारियाँ स्वयं वर का चयन करती थीं। विवाह केवल सामाजिक अनुबंध नहीं था अपितु 'सहधर्मचारिणी' की अवधारणा पर आधारित था।

ग. संपत्ति पर अधिकार – पिता नारी को कन्यादान के समय यथायोग्य दहेज (स्त्रीधन) देता है जिसपर उसका व्यक्तिगत अधिकार होता है। वैदिक काल में नारी संपत्ति की स्वामिनी बन सकती थी और उसे उत्तराधिकार भी प्राप्त होता था।

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।

कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो३ येन मामहः॥

वैदिककाल में पुत्रियाँ भी पुत्रों के समान सम्पत्ति की अधिकारी थीं। अविवाहित कन्या जो आजीवन पिता के गृह में निवास करती थीं उन्हें पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था परन्तु विवाहित कन्या को सम्पत्ति में अधिकार नहीं प्राप्त होता था।

घ. धार्मिक अधिकार – नारियाँ यज्ञ में आहुतियाँ देती थीं और ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। शतपथ ब्राह्मण में पति-पत्नी को समान रूप से यज्ञ का कर्ता माना गया है

''योषा वै पत्नी योषायै वाऽइमाः प्रजाः प्रजायन्ते।''

पत्नी पति की सहधर्मिणी सहयोगिनी है जो यज्ञिय विनियोगों में उसके साथ रहती है।

ङ. गृहस्थ धर्म का पालन – वैदिक समाज में नारी का प्राथमिक कर्तव्य परिवार को संयमित, अनुशासित और धार्मिक बनाए रखना था। अथर्ववेद में वर्णन है कि ''नारी घर की दीपक है, जो घर को उजागर करती है।''

च. संतति पालन और शिक्षा – नारी को मातृत्व के रूप में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

''न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरम्''

माता को शिशु के धार्मिक और नैतिक प्रशिक्षण की प्रथम गुरु माना गया है।

निष्कर्ष

वैदिक संहिताकाल में नारियों को उच्च सम्मान प्राप्त था और वह समाज के विभिन्न पहलुओं में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं। उन्होंने शिक्षा, यज्ञ, युद्धकला, और आध्यात्मिक साधना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी भूमिका केवल गृहस्थ तक सीमित नहीं थी अपितु वे समाज के निर्माण में भी सहायक थीं। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में नारियों की भूमिका और उनके अधिकारों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है जो उनके सामाजिक और आध्यात्मिक स्वरूप को उजागर करता है।

***शोधार्थिनी**
संस्कृत अनुशासन, मानविकी विद्यापीठ
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

****निदेशक, मानविकी विद्यापीठ**
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची-

1. शर्मा, सुशील कुमार, वेदों में नारी की भूमिका, साहित्य कुंज, 2022
2. वेर्लेकर, ममता दीपक, वैदिक साहित्य में स्त्री-स्वर : एक अवलोकन, अपनी माटी, सितंबर 2023.
3. चौधरी, मनोज कुमार, ऋग्वैदिक और उत्तर वैदिक कालीन महिलाओं की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन
4. विश्व संवाद केंद्र, भोपाल अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस : भारतीय वैदिक दृष्टिकोण से, संवाद मीडिया समूह, मार्च 2022
5. अज्ञात। मातृशक्ति : वैदिक युग की नारी. पांचजन्य, 20 सितम्बर 2021.
6. शुक्ल, रमेश। वेदों में वर्णित स्त्री का स्वरूप. आर्य वैदिक धर्म ब्लॉग, दिसंबर 2015.
7. ऋग्वेद, सम्पादक: स्वामी दयानंद सरस्वती। अर्यावर्त प्रेस, 1875 (पुनर्मुद्रण 2020)
8. शतपथ ब्राह्मण, सम्पादक: मैक्समूलर, मूल संस्कृत ग्रंथ, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

डॉ. नवीन कुमार

साहित्य और पर्यावरण : अंत: सम्बन्ध

सारांश :

'साहित्य और पर्यावरण : अंत: सम्बन्ध' शीर्षक शोध आलेख में यह स्पष्ट किया गया है कि साहित्य और पर्यावरण के मध्य एक गहरा और अभिन्न संबंध है। प्रकृति न केवल साहित्य की प्रेरणा रही है, बल्कि उसमें मनुष्य के भावों, जीवन संघर्षों और चेतना को भी प्रतिबिंबित किया गया है। वेदों, उपनिषदों, लोक साहित्य और संत साहित्य में प्रकृति के प्रति श्रद्धा, संवेदना और सह-अस्तित्व की भावना मिलती है। आधुनिक हिंदी साहित्य में भी प्रेमचंद, रेणु, केदारनाथ सिंह आदि लेखकों की रचनाओं में पर्यावरणीय चेतना प्रमुखता से दिखाई देती है।यह आलेख 'इकोक्रिटिसिज्म' जैसे आधुनिक सैद्धांतिक दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए यह रेखांकित करता है कि साहित्य समाज को पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बना सकता है। आज के समय में जब पर्यावरणीय संकट गहराते जा रहे हैं, तब साहित्य एक प्रभावी माध्यम बन सकता है लोगों को जागरूक करने का। इस आलेख में यह भी सुझाव दिया गया है कि शिक्षा, मीडिया और साहित्यिक मंचों के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण के विचारों को जनसामान्य तक पहुँचाया जाना चाहिए। इस प्रकार, साहित्य और पर्यावरण के बीच का अंत: सम्बन्ध न केवल सौंदर्यपरक है, बल्कि मानव अस्तित्व और पृथ्वी की रक्षा के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

बीज शब्द : पर्यावरण, साहित्य, प्रकृति चेतना, इकोक्रिटिसिज्म, सामाजिक उत्तरदायित्व, संवेदनशीलता

भूमिका : साहित्य केवल समाज का दर्पण नहीं होता, बल्कि वह समाज की चेतना, संस्कारों, संवेदनाओं और मूल्यों का संवाहक होता है। साहित्य मानव जीवन की गहराइयों में उतरकर उसके अनुभवों, आशाओं, संघर्षों और आकांक्षाओं को स्वर देता है। यह न केवल मनुष्य की आंतरिक दुनिया को अभिव्यक्त करता है, बल्कि बाह्य जगत से उसके संबंधों की भी पड़ताल करता है। इसी बाह्य जगत का एक महत्वपूर्ण घटक है पर्यावरण, जो मानव जीवन के अस्तित्व का मूलाधार है।

पर्यावरण का अर्थ केवल वृक्ष, नदी, पर्वत, आकाश या पृथ्वी नहीं है, बल्कि उन सभी जैविक और अजैविक तत्वों का समुच्चय है, जिनसे मानव जीवन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित होता है। यह जल, वायु, भूमि, पशु-पक्षी, वनस्पति, जलवायु और समस्त प्राकृतिक संसाधनों का वह जाल है, जिसके भीतर जीवन अपनी विविधता के साथ संचरित होता है। जब साहित्य और पर्यावरण का समागम होता है, तो एक गहरी अंत: सम्बन्ध की अनुभूति होती है, जो केवल सौंदर्य के धरातल तक सीमित नहीं रहती, बल्कि वह पारिस्थितिक चेतना और जिम्मेदारी को भी उद्‌भासित करती है।

भारतीय साहित्य की परंपरा में प्रकृति सदैव एक सजीव इकाई के रूप में उपस्थित रही है। वैदिक ऋचाओं से लेकर आधुनिक कविता तक, प्रकृति न केवल सौंदर्य का स्रोत रही है, बल्कि वह सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। नदियाँ, पर्वत, वनों के वृक्ष, ऋतुएँ, सूर्य, चंद्रमा ये सब साहित्य में प्रतीक नहीं, बल्कि पात्र के रूप में स्थान पाते हैं। प्रकृति और साहित्य का यह सह-अस्तित्व भारतीय संस्कृति की आधारशिला रहा है।

किन्तु आज का युग केवल विकास और प्रौद्योगिकी की अंधी दौड़ का युग बनता जा रहा है, जहाँ पर्यावरणीय संतुलन को लगातार क्षति पहुँच रही है। जलवायु परिवर्तन, ग्लोबल वार्मिंग, वनों की अंधाधुंध कटाई, जैव विविधता का क्षरण,

प्रदूषण, और प्राकृतिक संसाधनों का दोहन जैसी समस्याएँ मानव अस्तित्व को ही संकट में डाल रही हैं। ऐसे संकटपूर्ण समय में साहित्य की भूमिका पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

आज साहित्य केवल मनोरंजन या सौंदर्याभिव्यक्ति का माध्यम नहीं रह गया है, बल्कि यह जागरूकता, संवेदनशीलता, और परिवर्तन का शस्त्र बन चुका है। साहित्य समाज को न केवल पर्यावरणीय संकटों के प्रति चेताता है, बल्कि उसे संवेदनशील दृष्टि और उत्तरदायित्व-बोध भी प्रदान करता है। साहित्यिक रचनाएँ, चाहे वह कविता हो, कहानी हो, उपन्यास हो या निबंध वे सब मिलकर एक ऐसी पारिस्थितिक दृष्टि विकसित करने का कार्य करती हैं, जो मानव और प्रकृति के बीच संतुलित संबंध को स्थापित करने में सहायक होती है।

इसलिए आज आवश्यकता है कि साहित्य को पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में नए सिरे से देखा जाए। इकोक्रिटिसिज्म जैसी आधुनिक अवधारणाएँ इस दिशा में मार्गदर्शन कर रही हैं। परंतु भारतीय परंपरा में यह दृष्टि बहुत पहले से निहित रही है जहाँ 'पृथ्वी' को माँ माना गया, 'वृक्ष' को देवता का दर्जा प्राप्त है और 'जल' को जीवन का अमृत समझा गया।

इस शोध आलेख का उद्देश्य भी यही है कि साहित्य और पर्यावरण के बीच उस अंत: सम्बन्ध को उजागर किया जाए, जो न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि समकालीन वैश्विक समस्याओं के समाधान के रूप में भी देखा जा सकता है। साहित्य के माध्यम से समाज को पर्यावरण के प्रति सजग, संपृक्त और उत्तरदायी बनाया जा सकता है। इसीलिए यह अध्ययन आज के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत समीचीन और आवश्यक है।

साहित्य और पर्यावरण : पारस्परिक संबंध की अवधारणा

साहित्य और पर्यावरण का संबंध अत्यंत गहन, संवेदनशील और ऐतिहासिक रहा है। साहित्य केवल मानव समाज के अनुभवों और भावनाओं का ही चित्रण नहीं करता, बल्कि वह उस पर्यावरण को भी स्वर देता है, जिसमें मनुष्य जीता है। प्रकृति, जो मानव जीवन की आधारशिला है, साहित्य की प्रेरणा स्रोत भी रही है।

भारतीय साहित्य में प्रकृति का चित्रण प्राचीन काल से मिलता है। ऋग्वेद में नदियाँ, वायु, अग्नि, पृथ्वी और आकाश की स्तुति की गई है। कालिदास की रचनाओं में ऋतुएँ, मेघ, पर्वत, और वनस्पति केवल सौंदर्य के तत्व नहीं, बल्कि पात्र के रूप में उपस्थित हैं। भक्तिकाल में तुलसीदास, सूरदास, मीरा आदि ने प्रकृति को आध्यात्मिक भावनाओं से जोड़ा, जबकि छायावादी कवियों जैसे जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, निराला ने प्रकृति को करुणा, अकेलापन और सौंदर्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

पश्चिम में 20वीं सदी में इकोक्रिटिसिज्म (Ecocriticism) नामक एक आलोचना पद्धति का उदय हुआ, जिसने साहित्य में पर्यावरण के चित्रण को केंद्र में रखकर उसकी व्याख्या की। इस विचारधारा के अनुसार, साहित्य में प्रकृति के साथ मानव संबंध, पर्यावरणीय समस्याएँ, और पारिस्थितिकी संतुलन के तत्वों को विश्लेषित किया जाता है।

भारतीय संदर्भ में यह दृष्टि नई नहीं है। यहाँ परंपरागत रूप से प्रकृति को देवतुल्य स्थान प्राप्त रहा है। वृक्षों, नदियों और पशु-पक्षियों को पूजनीय माना गया है। हिंदी साहित्य में यह चेतना सदियों से विद्यमान रही है। रेणु के उपन्यासों में ग्रामीण प्रकृति की संवेदनशीलता है, अज्ञेय और केदारनाथ सिंह की कविताओं में आधुनिक पारिस्थितिक संकट की गूँज सुनाई देती है।

वर्तमान समय में जब पर्यावरणीय असंतुलन और जलवायु संकट गहराता जा रहा है, तब साहित्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई है। साहित्य न केवल जागरूकता का माध्यम है, बल्कि वह एक संवेदनशील पर्यावरणीय चेतना भी विकसित करता है, जो समाज को प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की भावना सिखाता है।

इस प्रकार, साहित्य और पर्यावरण के बीच का संबंध केवल काव्यात्मक नहीं, बल्कि सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारी का रूप है, जिसे समझना और संवर्धित करना आज की आवश्यकता है।

भारतीय साहित्य में पर्यावरणीय चेतना

भारतीय साहित्य की सबसे विशेष बात यह रही है कि उसमें प्रकृति को केवल दृश्य सौंदर्य का माध्यम नहीं, बल्कि जीवंत चेतना और आध्यात्मिक तत्व के रूप में देखा गया है। प्रकृति को भारतीय संस्कृति में देवत्व का स्थान प्राप्त है, और यही भाव साहित्य में भी गहराई से प्रकट हुआ है।

(क) वेदों और उपनिषदों में प्रकृति

वेदों में प्रकृति के तत्वों—जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी और आकाश को देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ऋग्वेद में नदियों, विशेषत: सरस्वती, सिन्धु और यमुना की स्तुति की गई है। यजुर्वेद में अग्नि की महत्ता और अथर्ववेद में वनों, औषधियों और पृथ्वी के संरक्षण की भावना व्यक्त की

गई है। ये सभी रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि वैदिक साहित्य में मानव और प्रकृति के सह-अस्तित्व की गहरी समझ थी।

उपनिषदों में ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की अवधारणा केवल मानव समाज तक सीमित नहीं है, बल्कि संपूर्ण सृष्टि को एक कुटुंब (परिवार) के रूप में देखने की प्रेरणा देती है। यह दृष्टिकोण समग्र पर्यावरणीय चेतना का मूल आधार है।

(ख) लोक साहित्य और पर्यावरण

भारतीय लोक साहित्य जैसे लोकगीत, लोककथाएँ, कहावतें और रीति-रिवाज में प्रकृति एक जीवंत पात्र के रूप में मौजूद रहती है। बाँसुरी की धुन, पेड़ों की पूजा, बरगद और पीपल के वृक्षों की कथा, नदी से जुड़ी मान्यताएँ इन सबमें प्रकृति के प्रति श्रद्धा, भय और स्नेह का अद्‌भुत मिश्रण दिखाई देता है। त्योहारों और परंपराओं के माध्यम से भी पर्यावरण के संरक्षण की भावना निरंतर संप्रेषित होती रही है।

(ग) संत साहित्य

संत कवियों जैसे कबीर, सूरदास, तुलसीदास की वाणी में प्रकृति प्रतीकात्मक रूप से प्रयुक्त हुई है। कबीर कहते हैं— 'जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी'। यह पद पर्यावरणीय सह-अस्तित्व, एकात्मता और ब्रह्मांडीय चेतना का सुंदर उदाहरण है। सूरदास की रचनाओं में वृंदावन, यमुना, पवन और फूल-पत्तियों का चित्रण भक्तिपूर्ण और सौंदर्यात्मक दोनों रूपों में मिलता है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में वनवास प्रसंगों में प्राकृतिक परिवेश को गहराई से चित्रित किया है।

भारतीय साहित्य में पर्यावरणीय चेतना केवल दार्शनिक विचार नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि है। यह साहित्य प्रकृति से जुड़ाव को न केवल दर्शाता है, बल्कि संरक्षण और सहअस्तित्व की दिशा में मार्गदर्शन भी करता है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में पर्यावरण चेतना

आधुनिक हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में उभरकर सामने आई है। यह चेतना केवल प्रकृति की प्रशंसा तक सीमित नहीं रही, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और पारिस्थितिक संकटों को उजागर करने का सशक्त माध्यम बनी है।

(क) प्रेमचंद

प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' में पर्यावरणीय चेतना का वास्तविक और जीवंत चित्र मिलता है। उन्होंने ग्रामीण जीवन, कृषि व्यवस्था, वर्षा और सूखे की समस्या, तथा पशुधन जैसे विषयों के माध्यम से पारिस्थितिकी असंतुलन और किसानों के जीवन पर उसके प्रभाव को बारीकी से चित्रित किया है। यह उपन्यास पर्यावरण और समाज के अंतर्संबंध को रेखांकित करता है।

(ख) फणीश्वरनाथ रेणु

रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में ग्रामीण भारत का जीवन और प्रकृति का सजीव चित्रण है। उन्होंने प्राकृतिक परिवेश को केवल पृष्ठभूमि नहीं बनाया, बल्कि कथा का एक जीवंत हिस्सा बना दिया। उनके साहित्य में प्रकृति और मनुष्य के सह-अस्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है।

(ग) केदारनाथ सिंह

केदारनाथ सिंह की कविताओं में नदी, पेड़, पशु, खेत और गाँव का बिंब स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। 'बाघ', 'यहाँ से देखो' जैसी कविताएँ प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते की गहन संवेदना को प्रकट करती हैं। उनका काव्य पर्यावरणीय सौंदर्य और संकट दोनों को व्यक्त करता है।

(घ) समकालीन कवि

विष्णु खरे, लीलाधर मंडलोई, मंगलेश डबराल जैसे कवियों ने अपने काव्य में औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, वनों की कटाई और प्राकृतिक संसाधनों के शोषण को लेकर गहरी चिंता व्यक्त की है। इनकी रचनाएँ आज के पर्यावरणीय संकटों के प्रति पाठकों को जागरूक करती हैं।

महिला लेखन और पर्यावरण

हिंदी साहित्य में महिला रचनाकारों का योगदान केवल सामाजिक, सांस्कृतिक और आत्मिक विषयों तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि उन्होंने पर्यावरण और प्रकृति के प्रति एक संवेदनशील दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है। महिलाओं की लेखनी में प्रकृति केवल बाह्य सौंदर्य का माध्यम नहीं, बल्कि एक जीवंत सहचर के रूप में उपस्थित रहती है।

महादेवी वर्मा की गद्य रचनाएँ विशेषत: 'श्रृंखला की कड़ियाँ', 'पुन: चेतना', और 'मेरा परिवार' में पशु-पक्षियों, पेड़ों और वनस्पतियों के प्रति करुणा और आत्मीयता की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उनकी रचनाओं में प्रकृति मानवीय भावनाओं का दर्पण बन जाती है। वे एक पक्षी के पंखों, एक पेड़ की छाया, और एक पशु की पीड़ा में भी मानवीय संवेदनाओं की गूंज सुनती हैं। यह दृष्टिकोण हमें प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की भावना का बोध कराता है।

अमृता प्रीतम, जो मूलत: पंजाबी लेखिका थीं, पर हिंदी

साहित्य पर भी जिनका गहरा प्रभाव रहा है, उन्होंने अपने उपन्यासों और कविताओं में प्रकृति के सौंदर्य को प्रेम, पीड़ा और जीवन के प्रतीकों के रूप में प्रयोग किया है। उनकी रचनाओं में नदियाँ, फूल, हवाएँ मानो भावनाओं की संवाहक बन जाती हैं।

नासिरा शर्मा ने भी अपने उपन्यासों और कहानियों में प्रकृति को गहरे प्रतीकात्मक अर्थों में प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य में प्राकृतिक परिवेश, महिला संवेदना और सामाजिक यथार्थ का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है।

महिला रचनाकारों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने पर्यावरण को केवल एक बाहरी दुनिया की तरह नहीं देखा, बल्कि उसमें भावनात्मक और आत्मिक गहराई खोजी। इस प्रकार, महिला लेखन ने पर्यावरणीय चेतना को कोमलता, करुणा और संवेदनशीलता के साथ साहित्यिक अभिव्यक्ति दी है।

वैश्विक साहित्य और पर्यावरण

पर्यावरणीय चेतना का विस्तार केवल भारतीय साहित्य तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक वैश्विक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में भी विकसित हुई है। विशेषकर बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से यह विषय अंतरराष्ट्रीय साहित्य में गंभीरता से सामने आया है।

रेचल कार्सन की प्रसिद्ध कृति Silent Spring (1962) को पर्यावरणीय साहित्य की एक मील का पत्थर माना जाता है। इस पुस्तक में उन्होंने कीटनाशकों और रासायनिक प्रदूषकों के कारण हो रहे जैविक विनाश की ओर दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। इस रचना ने न केवल अमेरिका में पर्यावरण आंदोलन को जन्म दिया, बल्कि वैश्विक स्तर पर इको-लिटरेचर (पर्यावरण साहित्य) की एक मजबूत धारा विकसित की।

हेनरी डेविड थोरो की Walden एक आत्मानुभूति आधारित रचना है, जिसमें उन्होंने प्रकृति के साथ एकांतवास के अनुभवों को गहराई से व्यक्त किया है। यह कृति पर्यावरण और आत्मा के संवाद का अद्‌भुत उदाहरण है। लॉरेंस ब्यूल ने भी पर्यावरणीय साहित्य को अकादमिक रूप में विकसित करते हुए इसे साहित्यिक विमर्श का एक सशक्त आधार बनाया।

अर्नेस्ट हेमिंग्वे की रचनाओं में भी प्रकृति का प्रभावशाली चित्रण मिलता है। उनकी कहानियाँ समुद्र, पर्वत और वन्य जीवन के साथ मानवीय संघर्ष को दर्शाती हैं, जो प्रकृति के प्रति गहरी संवेदना को दर्शाता है।

भारतीय मूल के अंग्रेजी लेखक अमिताव घोष की The Hungry Tide एक ऐसी उल्लेखनीय रचना है, जो सुंदरबन की पारिस्थितिकी, जैव विविधता और वहाँ रहने वाले लोगों के संघर्षों को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। यह उपन्यास मानव और प्रकृति के बीच टकराव और सामंजस्य दोनों को दर्शाता है।

इस प्रकार वैश्विक साहित्य में पर्यावरण केवल पृष्ठभूमि नहीं, बल्कि एक सक्रिय पात्र के रूप में उपस्थित होकर मानवता की जिम्मेदारी का बोध कराता है।

इकोक्रिटिसिज्म और हिंदी आलोचना

इकोक्रिटिसिज्म (Ecocriticism) एक आधुनिक साहित्यिक दृष्टिकोण है, जो साहित्यिक रचनाओं में प्रकृति, पर्यावरण और पारिस्थितिकी संबंधी तत्वों के अध्ययन और मूल्यांकन पर केंद्रित है। यह दृष्टिकोण केवल प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह यह भी पूछता है कि साहित्य प्रकृति और पर्यावरण को कैसे देखता है, और किस प्रकार वह पर्यावरणीय चेतना को प्रोत्साहित करता है।

हिंदी साहित्य में यह प्रवृत्ति अब धीरे-धीरे विकसित हो रही है। नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, और प्रो॰ शिवकुमार मिश्र जैसे आलोचकों ने अपने लेखन में साहित्यिक रचनाओं में प्रकृति और सामाजिक संदर्भों की पारस्परिकता को उजागर किया है। हालांकि हिंदी आलोचना में यह क्षेत्र अभी व्यापक रूप से स्थापित नहीं हुआ है, फिर भी यह स्पष्ट है कि आने वाले समय में इकोक्रिटिकल दृष्टिकोण को एक सशक्त विमर्श के रूप में स्थान मिलेगा।

वर्तमान समय में जब पर्यावरण संकट गहराता जा रहा है, तब यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्यिक आलोचना में पर्यावरणीय विमर्श को विधिवत स्थान दिया जाए। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों, शोध प्रबंधों और आलोचनात्मक लेखन में पर्यावरणीय दृष्टिकोण को शामिल करना समय की मांग है।

साहित्य के माध्यम से पर्यावरणीय चेतना का विकास

आज का युग पर्यावरणीय संकटों से घिरा हुआ है जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, प्रदूषण, और जैव विविधता का ह्रास जैसे विषय मानव जीवन को गंभीर रूप से प्रभावित कर रहे हैं। ऐसे समय में साहित्य न केवल इन समस्याओं को रेखांकित करता है, बल्कि उनके समाधान की दिशा में चेतना निर्माण का सशक्त माध्यम बनता है।

शैक्षिक क्षेत्र में साहित्य को पर्यावरणीय संदर्भों के साथ पढ़ाने की आवश्यकता है। यदि विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में साहित्यिक पाठ्यक्रमों में पर्यावरण-केंद्रित कहानियाँ, कविताएँ

और नाटक शामिल किए जाएँ, तो विद्यार्थियों में प्रारंभ से ही प्राकृतिक संवेदना और संरक्षण की भावना विकसित हो सकती है। इससे न केवल वे साहित्य को गहराई से समझ पाएँगे, बल्कि पर्यावरण के प्रति भी उत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोण अपना सकेंगे।

सांस्कृतिक गतिविधियाँ जैसे कवि सम्मेलन, नाटक, कथा वाचन और साहित्यिक गोष्ठियाँ भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। इन आयोजनों में पर्यावरण-संवेदनशील साहित्य को प्रस्तुत कर लोगों में सामूहिक जागरूकता उत्पन्न की जा सकती है।

जनसंचार माध्यमों की भूमिका भी अत्यंत प्रभावी है। रेडियो, टेलीविजन, और विशेष रूप से सोशल मीडिया पर जब साहित्यिक कार्यक्रमों, कथाओं और कविताओं के माध्यम से पर्यावरणीय विषयों को प्रस्तुत किया जाता है, तो उनका प्रभाव व्यापक और गहरा होता है। इन माध्यमों से ग्रामीण और शहरी, शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्गों तक संदेश पहुँचना संभव होता है।

इस प्रकार साहित्य, केवल भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक व पारिस्थितिक चेतना को जाग्रत करने वाला उपकरण बन सकता है। यह न केवल समस्या को दिखाता है, बल्कि समाधान की दिशा भी सुझाता है।

निष्कर्ष : साहित्य और पर्यावरण का संबंध केवल सौंदर्यात्मक या आलंकारिक नहीं है, बल्कि यह एक गंभीर अस्तित्वात्मक संबंध है, जो मनुष्य के जीवन, संस्कृति और चेतना से गहराई से जुड़ा हुआ है। प्रकृति न केवल साहित्य को विषयवस्तु प्रदान करती है, बल्कि वह जीवन का मूलाधार भी है। साहित्य में जब प्रकृति का चित्रण होता है, तो वह केवल दृश्यात्मक अनुभव नहीं होता, बल्कि उसमें जीवन के प्रति एक संवेदनशील दृष्टिकोण भी प्रकट होता है।

वर्तमान समय में जब पर्यावरणीय संकट—जैसे जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, प्रदूषण, जैव विविधता का क्षरण तेजी से बढ़ रहे हैं, तब साहित्य की भूमिका केवल मनोरंजन या सौंदर्यबोध तक सीमित नहीं रह जाती। साहित्यकारों की यह सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि वे अपनी रचनाओं के माध्यम से न केवल इन संकटों को उजागर करें, बल्कि पाठकों के भीतर एक सजग पर्यावरणीय चेतना भी उत्पन्न करें।

साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण का सजीव चित्रण पाठकों को प्रकृति से जुड़ने, उसे समझने और उसकी रक्षा के लिए प्रेरित करता है। जब कविता, कहानी या उपन्यास में पर्यावरण की पीड़ा और उसकी सुंदरता को प्रस्तुत किया जाता है, तब वह संवेदना को जाग्रत कर सकारात्मक कार्यवाही की प्रेरणा देता है।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि साहित्य और पर्यावरण का अंत: सम्बन्ध जितना गहरा और जीवंत होगा, हमारी धरती उतनी ही सुरक्षित, संतुलित और संवेदनशील बन सकेगी। आने वाली पीढ़ियों के लिए सतत विकास और पर्यावरणीय संतुलन सुनिश्चित करने में साहित्य एक प्रभावी माध्यम बन सकता है।

असिस्टेंट प्रोफेसर
ए.एन. कॉलेज, पटना (पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय)
Email : drnkumar23@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, राजकमल पेपर बैक्स, 2016
2. मुंशी प्रेमचंद, गोदान, विश्व बुक्स, 2008
3. महादेवी वर्मा, स्मृति की रेखाएँ, लोकभारती प्रकाशन, 2008
4. केदारनाथ सिंह, बाघ, भारतीय ज्ञानपीठ, 1998
5. अमिताव घोष, द हंग्री टाइड, हार्पर कॉलिंस इंडिया, 2004
6. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, 1968
7. कुंवर नारायण, आत्मजयी, भारतीय ज्ञानपीठ, 2024
8. डॉ. प्रभाकरन हेब्बार इल्लत, पर्यावरण और समकालीन हिन्दी साहित्य, वाणी प्रकाशन, 2019
9. डॉ. प्रभाकरन हेब्बार इल्लत, हिन्दी का पर्यावरणीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, 2022
10. डॉ. प्रभाकरन हेब्बार इल्लत, पर्यावरण और समकालीन हिन्दी साहित्य, वाणी प्रकाशन, 2019
11. जायसी ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, सन् 1935
12. तुलसीदास, रामचरितमानस, टीकाकार-श्याम सुन्दर दास, इंडियन प्रेस, 1927
13. विश्वनाथ त्रिपाठी, लोकवादी तुलसीदास, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1974

शोध-पत्र

जैन धर्म में नारी : अधिकारों, भूमिकाओं और आध्यात्मिक यात्रा का अन्वेषण

डॉ. अरुणा रानी

सारांश (Abstract)

यह लेख प्राचीन से आधुनिक युग तक जैन धर्म में महिलाओं की स्थिति का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। प्रारंभिक वैदिक काल की तुलना में जैन समाज में महिलाओं को निम्न दर्जा दिया गया था, जहाँ उन्हें संपत्ति विरासत का अधिकार नहीं था और पुरुष प्रधान समाज में उनकी पहचान अक्सर पुरुषों पर निर्भर थी। यद्यपि उच्च जाति की महिलाओं को शिक्षा तक पहुँच प्राप्त थी, जैसे कि राजकुमारी जयंती, जिन्होंने भगवान महावीर के साथ दार्शनिक चर्चाएँ कीं, फिर भी अधिकांश महिलाओं के लिए शिक्षा सीमित थी। विवाह के संबंध में, माता-पिता द्वारा तय किए गए विवाहों के अलावा स्वयंवर और अंतर्जातीय विवाह जैसी प्रथाओं का भी उल्लेख मिलता है जैन ग्रंथों में महिलाओं के प्रति एक द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण दिखाई देता है; एक ओर, उन्हें मायावी, अविश्वसनीय और तपस्या के मार्ग में बाधा के रूप में वर्णित किया गया है, वहीं दूसरी ओर, रजिमती जैसी महिलाओं को आध्यात्मिक दृढ़ता और धार्मिक निष्ठा के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महिलाओं को सार्वजनिक जीवन में उपस्थिति की अनुमति थी और वे विभिन्न क्षमताओं में भूमिकाएँ निभाती थीं, जैसे कि साध्वी, शिक्षिका, माँ और घरेलू मामलों की स्वामिनी। हालांकि, नन (साध्वी) के रूप में भी, उन्हें भिक्षुओं की तुलना में कठोर अनुशासन के अधीन रखा गया और उनके अधिकार सीमित थे। आधुनिक युग में शिक्षा के विस्तार और सामाजिक परिवर्तनों के साथ महिलाओं की स्थिति में सुधार हुआ है, लेकिन धार्मिक नेतृत्व में उनकी भागीदारी अभी भी कम है, जो लैंगिक समानता की दिशा में आगे की प्रगति की आवश्यकता को दर्शाता है ।

मुख्य शब्द (Keywords)

जैन धर्म, नारी की स्थिति, सामाजिक स्थिति, आर्थिक अधिकार, संपत्ति का अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता, स्त्रीधन, शिक्षा, विवाह, साध्वी, नारी छवि, पितृसत्तात्मक समाज, आधुनिक युग।

प्रस्तावना

जैन धर्म भारत की प्राचीन और महत्वपूर्ण धार्मिक परंपराओं में से एक है, जो अहिंसा, सत्य और आत्मसंयम के सिद्धांतों पर आधारित है। यह धर्म न केवल आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग दिखाता है, बल्कि सामाजिक संरचना और लैंगिक समानता के प्रश्नों पर भी गहन विचार करता है। हालाँकि, जैन धर्म में नारी की स्थिति एक जटिल और विवादास्पद विषय रहा है। प्रारंभिक जैन ग्रंथों में नारी को धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से पुरुषों के समान अधिकार नहीं दिए गए हैं, जबकि कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ नारी को उच्च स्थान प्राप्त है।

जैन धर्म के दो प्रमुख संप्रदाय हैं : दिगंबर और श्वेतांबर। दिगंबर परंपरा के अनुसार, नारी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती, जबकि श्वेतांबर परंपरा इस विचार को नहीं मानती। इस लेख का उद्देश्य जैन धर्म में नारी की स्थिति का विस्तृत विश्लेषण करना है, जिसमें उनके धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को शामिल किया गया है। साथ ही, यह लेख इस बात की भी जाँच करेगा कि कैसे जैन धर्म के सिद्धांतों और व्यवहारिक जीवन में नारी की भूमिका को परिभाषित किया गया है।

इस लेख में निम्नलिखित खंडों पर चर्चा की जाएगी :

1. जैन धर्म में नारी की धार्मिक स्थिति - इसमें ननों (साध्वियों) की भूमिका, उनके नियम और मोक्ष प्राप्ति की संभावना शामिल है।

2. सामाजिक स्थिति - इसमें विवाह, शिक्षा और परिवार में नारी की भूमिका पर प्रकाश डाला जाएगा।

3. आर्थिक स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार - इसमें नारी की आर्थिक स्थिति और उसके संपत्ति संबंधी अधिकारों का विश्लेषण किया जाएगा।

4. जैन ग्रंथों में नारी की छवि - इसमें जैन साहित्य में नारी के प्रति दृष्टिकोण और उसकी भूमिका को उद्धृत किया जाएगा।

5. आधुनिक युग में जैन नारी की भूमिका - इसमें वर्तमान समय में जैन समाज में नारी की बदलती स्थिति और चुनौतियों पर चर्चा की जाएगी।

प्रत्येक खंड में विद्वानों के मतों और शोधों का हवाला दिया जाएगा ताकि लेख पूर्णत: प्रामाणिक और शोध-आधारित बन सके।

1. जैन धर्म में नारी की धार्मिक स्थिति

जैन धर्म में नारी की धार्मिक स्थिति पर दिगंबर और श्वेतांबर

संप्रदायों के बीच मतभेद है। दिगंबर परंपरा के अनुसार, नारी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि वह नग्न रहकर तपस्या नहीं कर सकती, जो मोक्ष के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत, श्वेतांबर परंपरा मानती है कि नारी भी मोक्ष प्राप्त कर सकती है और उनके ग्रंथों में कई साध्वियों के मोक्ष प्राप्त करने के उदाहरण मिलते हैं (स्टीवेंसन, 1915)।

जैन धर्म में ननों (साध्वियों) को पुरुष साधुओं की तुलना में कठोर नियमों का पालन करना होता है। उदाहरण के लिए, एक नन को कभी भी अकेले यात्रा नहीं करनी चाहिए और उसे हमेशा किसी वरिष्ठ साध्वी या साधु के मार्गदर्शन में रहना चाहिए। इसके अलावा, ननों को कुछ विशेष ग्रंथों का अध्ययन करने की अनुमति नहीं होती, जैसे कि दृष्टिवाद, क्योंकि यह माना जाता है कि वे इन ग्रंथों के ज्ञान को संभालने में सक्षम नहीं हैं (लालवानी, 1977)।

हालाँकि, जैन इतिहास में कई साध्वियों ने धार्मिक और दार्शनिक चर्चाओं में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उदाहरण के लिए, आर्या चंदना, जो एक दासी थी, ने महावीर के मार्गदर्शन में ज्ञान प्राप्त किया और बाद में एक प्रसिद्ध धार्मिक शिक्षिका बनीं (सिकदर, 1964)। इससे स्पष्ट है कि जैन धर्म में नारी की धार्मिक भूमिका जटिल है और इसे एकांगी दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

2. सामाजिक स्थिति

जैन समाज में नारी की सामाजिक स्थिति को एक जटिल और बहुआयामी परिदृश्य के रूप में देखा जा सकता है, जो समय के साथ बदलता रहा है और विभिन्न पहलुओं को समाहित करता है। एक ओर, जैन धर्म के मूलभूत सिद्धांतों में अहिंसा और सभी जीवों के प्रति समानता पर जोर दिया गया है, जिससे यह अपेक्षा की जाती है कि नारियों को भी पुरुषों के समान सम्मान मिले। दूसरी ओर, विभिन्न जैन ग्रंथों और ऐतिहासिक प्रथाओं में यह देखा गया है कि नारियों को अक्सर पुरुषों के अधीन माना गया है और उनकी भूमिकाएँ विशिष्ट सामाजिक ढाँचों तक सीमित रही हैं। पारंपरिक जैन ग्रंथों में नारी को पत्नी और माँ के रूप में एक अत्यंत पूजनीय स्थान दिया गया है। एक 'पतिव्रता' (आदर्श पत्नी) की अवधारणा को उच्च नैतिक और सामाजिक मूल्य दिया गया है, जहाँ पत्नी से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पति की सेवा करे और उसकी आज्ञा का पालन करे (जैन, 1991)। यह भूमिका परिवार के भीतर उसकी केंद्रीयता को दर्शाती है, जहाँ वह पारिवारिक एकता और धार्मिक अनुष्ठानों को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान देती है। हालांकि, यह सम्मान अक्सर उसकी अधीनस्थ स्थिति से जुड़ा होता था, जहाँ उसकी पहचान मुख्य रूप से उसके पति या परिवार से जुड़ी होती थी, न कि उसकी अपनी व्यक्तिगत पहचान से।

शिक्षा के क्षेत्र में, जैन समाज में नारियों की स्थिति सीमित रही है, विशेष रूप से प्रारंभिक काल में। वैदिक काल के विपरीत, जहाँ कुछ उच्च जाति की महिलाओं को वेदों का अध्ययन करने की अनुमति थी, जैन परंपरा में महिलाओं के लिए औपचारिक शिक्षा के अवसर अपेक्षाकृत कम थे। हालांकि, यह सार्वभौमिक रूप से सच नहीं था, और कुछ उल्लेखनीय अपवाद भी देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए, राजकुमारी जयंती का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने स्वयं भगवान महावीर के साथ गहन दार्शनिक चर्चाएँ कीं (सिकदर, 1964)। यह इंगित करता है कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों या उच्च सामाजिक पृष्ठभूमि वाली महिलाओं को बौद्धिक गतिविधियों में भाग लेने का अवसर मिला होगा, जो उनकी क्षमता और सीखने की इच्छा को दर्शाता है। हालाँकि, ऐसी महिलाएँ अपवाद थीं, नियम नहीं, और अधिकांश महिलाओं के लिए शिक्षा की पहुँच संकीर्ण थी।

विवाह के संदर्भ में, जैन ग्रंथों में विभिन्न प्रथाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें अंतर्जातीय विवाह और स्वयंवर जैसी अपेक्षाकृत उदार प्रथाएँ शामिल हैं, जहाँ एक महिला अपने पति का चुनाव कर सकती थी (अल्टेकर, 1943)। हालाँकि, ये प्रथाएँ शायद सभी सामाजिक स्तरों पर व्यापक रूप से प्रचलित नहीं थीं। अधिकांश विवाह माता-पिता द्वारा तय किए जाते थे, जो सामाजिक परंपराओं और परिवार की प्रतिष्ठा पर आधारित होते थे। विवाह को एक पवित्र बंधन माना जाता था और परिवार के सामाजिक और धार्मिक ताने-बाने को बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण था। विधवा विवाह के संबंध में, प्रारंभिक जैन समाज में इसके प्रति एक निश्चित आरक्षण था, हालांकि बाद में कुछ समुदायों में इसके अभ्यास के उदाहरण मिलते हैं।

धार्मिक क्षेत्र में, जैन धर्म में नारियों को साध्वी (भिक्षुणी) बनने की अनुमति दी गई है, जो उन्हें आध्यात्मिक मुक्ति के मार्ग पर चलने का अवसर प्रदान करता है। दिगंबर और श्वेतांबर परंपराओं के बीच इस मुद्दे पर मतभेद हैं, जहाँ दिगंबर परंपरा मानती है कि महिलाओं को मोक्ष प्राप्त करने के लिए पुरुष के रूप में पुनर्जन्म लेना होगा, जबकि श्वेतांबर परंपरा मानती है कि महिलाएँ अपने वर्तमान जीवन में मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं (बालबीर, 2002, पृष्ठ 86)। फिर भी, साध्वियों को एक सम्मानित स्थान दिया गया है, और उन्होंने जैन धर्म के प्रसार और संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनके पास धर्मोपदेश देने और आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्रदान करने का अधिकार था, जिससे उन्हें समाज में एक निश्चित स्तर का सम्मान और प्रभाव प्राप्त हुआ।

कुल मिलाकर, जैन समाज में नारी की सामाजिक स्थिति मिश्रित रही है। जहाँ उन्हें परिवार के भीतर उच्च सम्मान दिया गया और धार्मिक स्वतंत्रता का एक निश्चित स्तर प्राप्त हुआ, वहीं कई क्षेत्रों में उन्हें पुरुषों के अधीन माना गया और उनके अधिकार सीमित रहे। समय के साथ और विभिन्न क्षेत्रीय प्रथाओं के कारण इस स्थिति में परिवर्तन भी आए हैं, लेकिन जैन परंपरा में नारी के स्थान को समझने के लिए इन विभिन्न पहलुओं पर विचार करना महत्वपूर्ण है।

3. आर्थिक स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार

जैन समाज में नारी की आर्थिक स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार एक ऐसा क्षेत्र रहा है जहाँ उनकी स्थिति काफी सीमित रही है। प्रारंभिक जैन ग्रंथों में नारियों के संपत्ति अधिकारों का स्पष्ट और विस्तृत उल्लेख अक्सर नहीं मिलता है, जो इस बात का संकेत है कि उन्हें संपत्ति के स्वामित्व और प्रबंधन में पुरुषों के समान

अधिकार प्राप्त नहीं थे। सामान्यत:, संपत्ति पर पुरुषों का नियंत्रण होता था, और नारी को आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता था। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि जैन समाज, अन्य प्राचीन भारतीय समाजों की तरह, पितृसत्तात्मक था। इस व्यवस्था में, परिवार का पुरुष मुखिया (पिता, पति या पुत्र) संपत्ति का प्राथमिक धारक और प्रबंधक होता था। काणे के अनुसार, संपत्ति सामूहिक रूप से परिवार के पुरुष मुखिया की हिरासत में होती थी (काणे, उद्धृत, जैन, 1991)। इसका तात्पर्य यह था कि नारियों को विरासत का कोई अधिकार नहीं था। धार्मिक अनुष्ठानों में महिलाओं की भागीदारी में कमी के साथ, उन्हें संपत्ति विरासत के अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया, जो पहले उनके पास थे (जैन, 1991)। यह एक महत्वपूर्ण बिंदु है जो धार्मिक भूमिकाओं और आर्थिक अधिकारों के बीच संबंध को दर्शाता है। जब महिलाएं धार्मिक अनुष्ठानों में सक्रिय रूप से भाग लेना बंद कर देती थीं, तो उन्हें संपत्ति विरासत के अधिकार भी खोने पड़े, जो यह दर्शाता है कि धार्मिक और आर्थिक अधिकार आपस में जुड़े हुए थे।

हालांकि, कुछ अपवाद भी थे, विशेष रूप से उच्च सामाजिक स्तर या राजपरिवार की महिलाओं के लिए। कुछ उदाहरणों से यह पता चलता है कि राजपरिवार की महिलाएँ अपने विवाह उपहारों (स्त्रीधन) पर स्वामित्व रखती थीं (जैन, 1991)। 'स्त्रीधन' वह संपत्ति थी जो महिला को विवाह के समय या उसके बाद उपहार के रूप में मिलती थी, और इसे उसकी व्यक्तिगत संपत्ति माना जाता था, जिस पर उसका पूर्ण अधिकार होता था। इसमें आभूषण, वस्त्र, घरेलू वस्तुएँ और कभी-कभी भूमि या धन भी शामिल हो सकता था। यह स्त्रीधन महिला की आर्थिक सुरक्षा का एक महत्वपूर्ण स्रोत हो सकता था, खासकर संकट के समय। हालांकि, स्त्रीधन का आकार और महत्व महिला के सामाजिक और आर्थिक स्तर पर निर्भर करता था। सामान्य परिवारों में, स्त्रीधन की मात्रा बहुत कम होती थी और शायद ही कभी महिला को पर्याप्त आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करती थी।

कृषि आधारित समाज में, जहाँ भूमि प्राथमिक संपत्ति थी, महिलाओं का भूमि पर बहुत कम या कोई स्वामित्व नहीं होता था। वे अक्सर कृषि कार्यों में सहायता करती थीं, लेकिन भूमि का स्वामित्व और निर्णय लेने की शक्ति पुरुषों के पास ही रहती थी। व्यावसायिक गतिविधियों में भी महिलाओं की भागीदारी सीमित थी। वे छोटे पैमाने पर घरेलू उद्योगों में संलग्न हो सकती थीं या शिल्प कार्य कर सकती थीं, लेकिन बड़े व्यापारिक उद्यमों या वित्तीय लेनदेन में उनकी भूमिका नगण्य थी।

इसके अतिरिक्त, विधवाओं की स्थिति विशेष रूप से चुनौतीपूर्ण थी। चूंकि उन्हें अक्सर संपत्ति विरासत में नहीं मिलती थी, इसलिए वे अपने मृत पति के परिवार पर या अपने मायके पर निर्भर हो जाती थीं। भिक्षुणी बनने का विकल्प कुछ महिलाओं के लिए आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक सम्मान का एक मार्ग हो सकता था, क्योंकि संघ उन्हें भोजन और आश्रय प्रदान करता था। हालांकि, यह आध्यात्मिक मार्ग का एक विकल्प था, न कि सामान्य आर्थिक स्वतंत्रता का साधन।

आधुनिक काल में, कानूनी सुधारों और सामाजिक परिवर्तनों के साथ, जैन समाज में भी महिलाओं के संपत्ति अधिकारों में सुधार हुआ है। भारतीय कानून, जैसे कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम (जो जैनियों पर भी लागू होता है), ने महिलाओं को पुरुषों के समान संपत्ति के अधिकार प्रदान किए हैं। इन कानूनों ने पारंपरिक पितृसत्तात्मक प्रथाओं को चुनौती दी है और महिलाओं को आर्थिक रूप से अधिक स्वतंत्र बनने में मदद की है।

संक्षेप में, प्राचीन जैन समाज में नारी की आर्थिक स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार अत्यंत सीमित थे, और वे मुख्य रूप से पुरुषों पर निर्भर थीं। स्त्रीधन के रूप में कुछ व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार एक अपवाद था, लेकिन यह व्यापक आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता था। समय के साथ और कानूनी सुधारों के कारण इस स्थिति में महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं, लेकिन ऐतिहासिक रूप से यह एक ऐसा क्षेत्र रहा है जहाँ महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त नहीं थे।

4. जैन ग्रंथों में नारी की छवि

जैन ग्रंथों में नारी की छवि एक जटिल और द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण को दर्शाती है, जो विभिन्न संदर्भों और समय अवधियों में भिन्न होती है। यह दृष्टिकोण एक तरफ नारी को आध्यात्मिक प्रगति में बाधा और प्रलोभन के स्रोत के रूप में प्रस्तुत करता है, वहीं दूसरी ओर, कुछ नारियों को उच्च आदर्शों और आत्म-त्याग का प्रतीक भी मानता है। यह विरोधाभास जैन दर्शन के मूल सिद्धांतों, विशेषकर आत्म-संयम और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग से जुड़ा है।

एक प्रमुख दृष्टिकोण यह है कि नारी को पुरुषों के लिए मायावी और खतरनाक बताया गया है। जैन धर्म में इंद्रियों पर नियंत्रण और वासना से मुक्ति को मोक्ष प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना गया है। इस संदर्भ में, नारी को अक्सर एक ऐसे प्रलोभन के रूप में चित्रित किया गया है जो साधकों को उनके तपस्या के मार्ग से भटका सकती है। जैन ग्रंथों में ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जहाँ महिलाएँ अपनी सुंदरता या आकर्षण का उपयोग पुरुषों को सांसारिक बंधनों में फँसाने के लिए करती हैं। इस तरह के चित्रण का उद्देश्य संभवत: साधकों को संयम और ब्रह्मचर्य के महत्व पर जोर देना था, और उन्हें सांसारिक मोह से दूर रहने की चेतावनी देना था। जैन मुनियों के लिए महिलाओं से दूर रहने और उनके प्रति किसी भी प्रकार की आसक्ति से बचने के नियम कठोरता से निर्धारित किए गए हैं। लुईस (1932) जैसे विद्वानों ने भी इस पहलू पर ध्यान दिया है, यह बताते हुए कि कैसे कुछ जैन परंपराओं में महिला शरीर को अस्थिरता और अशुद्धता के प्रतीक के रूप में देखा गया है, जो मोक्ष के मार्ग में एक संभावित बाधा है।

दूसरी ओर, जैन ग्रंथों में कई नारियों को आदर्श चरित्रों और असाधारण गुणों वाली महिलाओं के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। इन पात्रों को धार्मिक निष्ठा, आत्म-त्याग, धैर्य और आध्यात्मिक शक्ति के प्रतीक के रूप में दर्शाया गया है। उदाहरण के लिए, रजिमती का उल्लेख मिलता है, जो भगवान नेमिनाथ की मंगेतर

थीं। जब नेमिनाथ ने विवाह का त्याग कर तपस्या का मार्ग अपनाया, तो रजिमती ने भी उनका अनुसरण किया और स्वयं एक साध्वी बन गईं। उन्होंने न केवल अपने सांसारिक जीवन का त्याग किया, बल्कि उन्होंने कठोर तपस्या भी की, जो उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति और आध्यात्मिक संकल्प को दर्शाती है (ल्यूमन, 1932)। रजिमती की कहानी जैन धर्म में नारी की आध्यात्मिक क्षमता और मुक्ति के मार्ग पर चलने की उसकी क्षमता का एक सशक्त उदाहरण है।

इसी तरह, अन्य जैन पात्र जैसे कि चंदना, भगवान महावीर की पहली शिष्या साध्वी, और मरुदेवी, भगवान ऋषभनाथ की माता, को भी उच्च सम्मान के साथ चित्रित किया गया है। चंदना ने महावीर के सिद्धांतों को ग्रहण किया और एक भिक्षुणी के रूप में उनके उपदेशों का प्रसार किया। मरुदेवी को एक ऐसी माँ के रूप में दर्शाया गया है जिन्होंने एक तीर्थंकर को जन्म दिया, जिससे उन्हें जैन धर्म में एक विशेष और पूजनीय स्थान प्राप्त हुआ। ये उदाहरण दर्शाते हैं कि जैन धर्म में नारी को केवल प्रलोभन के स्रोत के रूप में ही नहीं देखा गया, बल्कि उसे आध्यात्मिक उन्नति, धार्मिक नेतृत्व और पारिवारिक पवित्रता के प्रतीक के रूप में भी सराहा गया।

यह द्वंद्वात्मकता जैन धर्म के अंतर्निहित विरोधाभासों को दर्शाती है। एक तरफ, यह सांसारिक आसक्तियों से मुक्ति पर जोर देता है, और इस प्रक्रिया में नारी को एक संभावित बाधा के रूप में चित्रित करता है। दूसरी तरफ, यह इस बात को भी स्वीकार करता है कि नारी में भी पुरुषों के समान आध्यात्मिक क्षमता और मुक्ति प्राप्त करने की क्षमता है। यह इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि जैन धर्म में आदर्शों और वास्तविक व्यवहार के बीच एक अंतर हो सकता है। जबकि सैद्धांतिक रूप से नारी को आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की अनुमति दी गई थी, सामाजिक संरचनाएँ और कुछ धार्मिक व्याख्याएँ उनकी भूमिका को सीमित कर सकती थीं।

संक्षेप में, जैन ग्रंथों में नारी की छवि एक जटिल और विरोधाभासी है। जहाँ एक ओर उसे मायावी और मोक्ष के मार्ग में बाधा के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं दूसरी ओर, अनेक नारियों को धार्मिक निष्ठा, त्याग और आध्यात्मिक शक्ति के आदर्श प्रतीक के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। यह द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण जैन धर्म के आत्म-संयम के दर्शन और सभी जीवों की आध्यात्मिक समानता के बीच संतुलन साधने का प्रयास करता है।

5. आधुनिक युग में जैन नारी की भूमिका

आधुनिक युग में, शिक्षा के प्रसार, सामाजिक सुधारों और वैश्विक नारीवादी आंदोलनों के प्रभाव से जैन समाज में नारी की स्थिति में महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं। जहाँ पारंपरिक रूप से उन्हें कई क्षेत्रों में सीमित भूमिकाओं तक ही सीमित रखा गया था, वहीं अब उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अपनी भागीदारी बढ़ाई है, जिससे उनकी पहचान और सशक्तिकरण में वृद्धि हुई है।

शिक्षा का विस्तार जैन नारी के लिए एक प्रमुख उत्प्रेरक रहा है। लड़कियों के लिए स्कूलों और कॉलेजों तक पहुँच बढ़ने से उन्हें ज्ञान प्राप्त करने और अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाने का अवसर मिला है। शिक्षित होने से उन्हें न केवल व्यक्तिगत विकास मिला है, बल्कि इसने उन्हें विभिन्न व्यवसायों और सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने में भी सक्षम बनाया है। शहरीकरण और आधुनिकीकरण ने भी महिलाओं को पारंपरिक घरेलू भूमिकाओं से बाहर निकलने और बाहरी दुनिया में अधिक सक्रिय होने के अवसर प्रदान किए हैं।

धार्मिक क्षेत्र में, जैन नारियों की भागीदारी में वृद्धि हुई है। वे अब न केवल उपासिकाओं (श्राविकाओं) के रूप में धार्मिक अनुष्ठानों और त्योहारों में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं, बल्कि वे धार्मिक प्रवचन सुनने, धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करने और जैन संघों में शामिल होने में भी अधिक रुचि ले रही हैं। कई महिलाएँ अब साध्वी (भिक्षुणी) बनकर आध्यात्मिक मार्ग पर चल रही हैं, और वे स्वयं प्रवचन देती हैं, धार्मिक शिक्षाएँ प्रदान करती हैं, और समुदाय का मार्गदर्शन करती हैं। हालांकि, धार्मिक नेतृत्व में नारी की कम भागीदारी अभी भी एक चुनौती बनी हुई है, जैसा कि बालबीर (2002) ने उल्लेख किया है। दिगंबर परंपरा में महिलाओं के लिए मोक्ष प्राप्त करने की अवधारणा पर अभी भी बहस जारी है, और उन्हें पुरुषों के समान पूर्ण आध्यात्मिक अधिकार नहीं दिए गए हैं। श्वेतांबर परंपरा में साध्वियों की संख्या पुरुषों की तुलना में अधिक है, लेकिन निर्णय लेने वाले उच्च पदों पर अक्सर पुरुष मुनि ही होते हैं। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ लैंगिक समानता के लिए और अधिक प्रगति की आवश्यकता है।

सामाजिक क्षेत्रों में भी जैन नारियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। वे जैन संगठनों और समितियों में सक्रिय रूप से भाग ले रही हैं, जो धार्मिक और सामाजिक कल्याण के कार्यों में संलग्न हैं। महिला मंडलों का गठन हुआ है जो धार्मिक शिक्षा, सामाजिक सेवा और सामुदायिक विकास पर ध्यान केंद्रित करते हैं। कई जैन महिलाएँ अब डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक, वकील और व्यवसायी जैसे विभिन्न पेशेवर क्षेत्रों में सफल हो रही हैं। वे अपनी आर्थिक स्वतंत्रता स्थापित कर रही हैं और परिवार के साथ-साथ समाज में भी योगदान दे रही हैं। यह उनके आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास को दर्शाता है।

हालांकि, इन सकारात्मक परिवर्तनों के बावजूद, जैन समाज में नारी के लिए अभी भी कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं। धार्मिक नेतृत्व में सीमित भागीदारी के अलावा, कुछ पारंपरिक विचार और प्रथाएँ अभी भी मौजूद हैं जो उनकी पूरी क्षमता को बाधित कर सकती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में या कुछ रूढ़िवादी परिवारों में, लड़कियों की शिक्षा और कैरियर के अवसरों को अभी भी प्राथमिकता नहीं दी जा सकती है। दहेज प्रथा, हालांकि कानूनी रूप से निषिद्ध है, अभी भी कुछ हद तक मौजूद है, जो महिलाओं पर आर्थिक बोझ डालती है। इसके अलावा, पारिवारिक दबाव और सामाजिक अपेक्षाएँ अभी भी कई महिलाओं को अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को पूरा करने से रोक सकती हैं।

लैंगिक रूढ़िवादिताएँ, हालांकि कमजोर हो रही हैं, अभी भी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई हैं। कुछ लोग अभी भी महिलाओं की भूमिका को मुख्य रूप से परिवार और घर तक ही सीमित मानते हैं। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए, जैन समाज के भीतर और

बाहर दोनों जगह जागरूकता और शिक्षा को बढ़ावा देना महत्वपूर्ण है। महिलाओं को सशक्त बनाने वाले कानूनों और नीतियों का समर्थन करना भी आवश्यक है।

निष्कर्षत:, आधुनिक युग में जैन नारी की भूमिका में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। शिक्षा और आधुनिकीकरण ने उन्हें धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अधिक सक्रिय और स्वतंत्र बनने में सक्षम बनाया है। हालाँकि, धार्मिक नेतृत्व में लैंगिक समानता और कुछ पारंपरिक प्रथाओं को दूर करने जैसी चुनौतियाँ अभी भी बनी हुई हैं। भविष्य में, इन चुनौतियों का समाधान करके ही जैन नारी समाज में अपनी पूरी क्षमता का प्रदर्शन कर पाएंगी और एक अधिक समतावादी और न्यायपूर्ण समाज का निर्माण कर पाएंगी।

निष्कर्ष

जैन धर्म में नारी की स्थिति का विश्लेषण एक जटिल और बहुआयामी तस्वीर प्रस्तुत करता है, जहाँ विभिन्न कालों और परंपराओं में विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। ऐतिहासिक रूप से, जैन समाज ने वैदिक काल की तुलना में महिलाओं को कुछ क्षेत्रों में कमतर आँका है, विशेषकर संपत्ति अधिकारों और धार्मिक नेतृत्व में उनकी भागीदारी के संबंध में। प्राचीन जैन ग्रंथों में अक्सर महिलाओं को पुरुषों के अधीन और आर्थिक रूप से उन पर निर्भर दिखाया गया है, जहाँ उनकी पहचान मुख्य रूप से पत्नी या माँ के रूप में जुड़ी होती थी। संपत्ति के अधिकार सीमित थे, और 'स्त्रीधन' जैसे अपवाद भी केवल विशिष्ट परिस्थितियों या उच्च वर्ग की महिलाओं के लिए ही अधिक सार्थक थे।

धार्मिक ग्रंथों में नारी की छवि भी द्वंद्वात्मक रही है; एक ओर, उसे आध्यात्मिक मार्ग में एक संभावित बाधा और प्रलोभन के स्रोत के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं दूसरी ओर, रजिमती जैसी असाधारण महिलाओं को त्याग, धार्मिक निष्ठा और आध्यात्मिक दृढ़ता के प्रतीक के रूप में उच्च सम्मान दिया गया है। यह द्वंद्व जैन धर्म के आत्म-संयम के दर्शन और सभी जीवों की आध्यात्मिक समानता के बीच संतुलन साधने के प्रयास को दर्शाता है। साध्वी के रूप में महिलाओं को मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग प्रदान किया गया, जिससे उन्हें आध्यात्मिक अभ्यास और धार्मिक उपदेशों में भाग लेने का अवसर मिला, हालांकि दिगंबर और श्वेतांबर परंपराओं के बीच इस पर मतभेद रहे हैं।

आधुनिक युग में, शिक्षा के प्रसार, सामाजिक जागरूकता और कानूनी सुधारों के कारण जैन नारी की स्थिति में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में अपनी भागीदारी बढ़ाई है, और वे विभिन्न व्यवसायों में सफलतापूर्वक प्रवेश कर रही हैं, जिससे उनकी आर्थिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत सशक्तिकरण में वृद्धि हुई है। हालाँकि, अभी भी चुनौतियाँ मौजूद हैं, विशेषकर धार्मिक नेतृत्व के उच्च पदों पर महिलाओं की सीमित भागीदारी और कुछ पारंपरिक सामाजिक अपेक्षाएँ, जो उनकी पूरी क्षमता को बाधित कर सकती हैं।

संक्षेप में, जैन धर्म में नारी की स्थिति प्राचीन काल की सीमाओं से निकलकर आधुनिक युग में अधिक समानता और सक्रिय भागीदारी की ओर अग्रसर हुई है। यह विकास समाज की बदलती गतिशीलता और महिलाओं की बढ़ती आकांक्षाओं को दर्शाता है। भविष्य में, लैंगिक समानता की दिशा में और अधिक प्रगति तभी संभव होगी जब पारंपरिक बाधाओं को संबोधित किया जाए और जैन समाज के सभी स्तरों पर महिलाओं को उनके उचित स्थान और अधिकारों के साथ पूर्ण रूप से सशक्त बनाया जाए।

सहायक प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग
आर.एन.वाई.एम. महाविद्यालय, बरही
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

सन्दर्भ सूची

- अल्टेकर, ए.एस. (1943). प्राचीन भारत में महिलाएँ. बनारसरू नन्द किशोर एंड ब्रदर्स।
- अल्टेकर, ए.एस. (1943). राष्ट्रकूट एंड देयर टाइम्स.
- काणे, पी.वी. (उद्धृत) जैन, जे.सी. (1991). प्राचीन भारत में जीवन जैसा कि जैन कैनन और कमेंट्री में दर्शाया गया है. नई दिल्ली : मुंशीराम मनहरलाल पब्लिशर्स। (पेज 1 पर उद्धृत)
- जैन, जे.सी. (1991). प्राचीन भारत में जीवन जैसा कि जैन कैनन और कमेंट्री में दर्शाया गया है. नई दिल्ली : मुंशीराम मनहरलाल पब्लिशर्स। (पेज 134 और 154 पर उद्धृत)
- जैन, जे.सी. (1991). प्राचीन भारत में जीवन जैसा कि जैन कैनन और कमेंट्री में दर्शाया गया है. नई दिल्ली : मुंशीराम मनहरलाल पब्लिशर्स।
- जैन, जे.सी. (1991). द जैन वे ऑफ लाइफ
- बालबीर, नलिनी (2002). वीमेन इन इंडियन रिलिजन्स.
- बालबीर, नलिनी. (2002). ''भारत में महिलाएँ और जैन धर्म''. अरविंद शर्मा (संपादक) में, भारतीय धर्मों में महिलाएँ (पृष्ठ 86-95). दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास। (विशेष रूप से पृष्ठ 94-95 पर धार्मिक नेतृत्व में भागीदारी पर चर्चा)।
- बालबीर, नलिनी. (2002). ''भारत में महिलाएँ और जैन धर्म''. अरविंद शर्मा (संपादक) में, भारतीय धर्मों में महिलाएँ (पृष्ठ 86-95). दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।
- लालवानी, के.सी. (1977). उत्तराध्ययन सूत्र.
- ल्यूमन, ई. (1932). जैन धर्म का इतिहास. बर्लिन : वाल्टर डी ग्रुइटर एंड कंपनी। (यह संदर्भ "Lühmann" के रूप में भी संदर्भित किया जा सकता है, जो अक्सर उनके कार्यों में पाया जाता है। यह रजिमती की कहानी और जैन धर्म में नारी के प्रति दृष्टिकोण के संदर्भ में एक क्लासिक कार्य है।)
- सिकदर, जे.सी. (1964). जैन धर्म की नैतिक अवधारणा. वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान।
- सिकदर, जे.सी. (1964). स्टडीज इन भगवती सूत्र.

स्टीवेंसन, सिन्क्लेयर (1915). द हार्ट ऑफ जैनिज्म.

प्रेमचंद की पत्रकारिता और राष्ट्रवाद

परमिंदर यादव

प्रसिद्ध विचारक जॉन प्लामेंटाज ने राष्ट्रवाद पर विचार करते हुए यह समझने की कोशिश की है कि आखिर अपने मूल चरित्र में राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद अंततः एक सांस्कृतिक संघटना क्यों है और कुछ समय बाद उसका स्वरूप राजनीतिक क्यों हो जाता है? क्या यह उसकी सहज परिणिति है या उसकी बनावट ही ऐसी प्रतीत होती है कि वह जाने अनजाने किसी विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृति के उत्थान के मूल्यांकन में मदद करने लगती है जिसका चरित्र वृहत्तर समाज एवं राष्ट्र की आधारभूत सरंचनाओं को प्रभावित करने लगता है। यद्यपि यह एक महत्तपूर्ण बात है कि यूरोप में विकसित राष्ट्रीयता नस्लीय भाषाई, शासकीय, समतावादी-पूंजीवादी धारा की तरफ इशारा करती है; वहीं एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका आदि देशों में उदित राष्ट्रीयता लोक संस्कृति, साहित्य, कला आदि जन मूल्यों के सहारे राष्ट्रीय मुक्ति या राष्ट्रीय उत्थान की धारा की तरफ। इन सवालों और संदर्भों को लेकर एरिक हॉबसबाम, बेनेडिक्ट एंडरसन, रणधीर सिंह, रंजीत गुहा, शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय आदि इतिहासकार तो चिंतित होते ही हैं, कई बार इस प्रकार के प्रश्न आम जनता को भी मुश्किल में डाल देते हैं कि आखिर इस प्रकार की दासता की मुक्ति के लिए किए जा रहे राष्ट्रवादी संघर्ष के नतीजे क्या होंगे? भारत में भी 1857 के बाद राष्ट्रवाद की जो धारा निर्मित हुई उसके निर्माण में दासता से मुक्ति की इस चेतना को देखा जा सकता है तथा जिसकी अनेक जटिलताएं स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान दिखाई देती हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद की निर्मिती, ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष करते हुए भारत के वृहत्तर सामाजिक समूहों की चेतना में मौजूद राष्ट्र-मुक्ति की आकांक्षा लिए निर्मित और विकसित होता है। भारतीय राष्ट्रवाद के जितने भी संदर्भ दिखाई देते हैं। वो सभी प्रेमचंद के लेखन में मौजूद हैं। लेकिन प्रेमचंद की पत्रकारिता में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सवालों पर गहनतापूर्वक विचार किया गया है।

प्रेमचंद के लेखन में राष्ट्र की अवधारणा राजनीतिक से ज्यादा सामाजिक सांस्कृतिक हैं। प्रेमचंद की राष्ट्र को लेकर अपनी उनकी एक दृष्टि रही है। उनके लिए यह सैद्धांतिक प्रश्न महत्तपूर्ण नहीं था कि राष्ट्रवाद किन तत्वों से बनता है, बल्कि यह महत्तपूर्ण था कि बने हुए राष्ट्र की राजनीतिक-सामाजिक और सांस्कृतिक स्थापनाएं क्या हैं? वे भारत के संबंध में जिस राष्ट्र की अवधारणा की अवधारणा प्रस्तुत करते है, वह हिन्दू राष्ट्र, मुस्लिम राष्ट्र या अन्य धार्मिक राष्ट्र न होकर एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है उसमें भी वह किसानों, मजदूरों का राष्ट्र है। स्वराज के प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्र संबंधी विचार भी व्यक्त किए हैं। सन 1919 की फरवरी में लिखे अपने लेख 'पुराना जमाना : नया जमाना' में प्रेमचंद राष्ट्र संबंधी अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, ''क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों की हो, उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। आपने सैकड़ों मदरसे और कॉलेज बनवाए, यूनिवर्सिटियाँ खोली और अनेक आन्दोलन चलाए, मगर किसके लिए? सिर्फ अपने लिए, सिर्फ अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए और शायद अपने राष्ट्र की जो कसौटी आपके दिमाग में थी, उसको देखते हुए आपका आचरण जरा भी आपत्तिजनक न था, मगर नए जमाने ने एक पन्ना पलटा है, आने वाला

जमाना किसानों और मजदूरों का है।'' यह बात जाहिर है कि प्रेमचंद जिस राष्ट्र का सपना देख रहे थे। उसमें अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति का भी हक सुरक्षित रहे। कमजोर व्यक्ति भी यह महसूस कर पाए कि उसकी आवाज को दबाया नहीं जा रहा है।

प्रेमचंद राष्ट्रवाद को भलीभाँति समझते थे यही कारण था कि राष्ट्र जिस तरह बन रहे हैं क्या उसमें सबके लिए जगह होगी, इसलिए वो किसी सीमा में मुल्कों को कैद नहीं करना चाहते हैं। शायद प्रेमचंद के मन में यह सवाल रहा हो की राष्ट्र के लिए और राष्ट्रवाद के लिए पड़ोसी देश का दुश्मन होना कई बार जरूरी हो जाता है। आजकल तो यही हो रहा है। आजकल यह जरूरी बात हो गई है कि आपका राष्ट्रवाद तभी प्रतिफलित होगा जब आपका पड़ोसी मुल्क आपका का दुश्मन हो। राजनीति में तो इसका प्रयोग बखूबी किया जा रहा है। हाल यह है कि आपकी हर कमजोरी के लिए आपका पड़ोसी मुल्क जिम्मेदार होता है। समूची दुनिया के अंदर इस तरह के राष्ट्रवाद की धूम सी मची हुई है। मतलब हिंदुस्तान में गरीबी है, अशिक्षा है, उसके लिए पाकिस्तान जिम्मेदार है। पाकिस्तान में भी अगर इस तरह के हालात हैं तो उसके लिए भारत जिम्मेदार होगा। इसी बात का प्रेमचंद लगातार विरोध कर रहे थे। असल में देखा जाए तो राष्ट्र की अवधारणा जाति और धर्म की तरह लोगों को बाँटने का काम करती है और ये सभी बांटने वाली कृत्रिम या मानव निर्मित हैं। राष्ट्र का तो अंतोतगत्वा वह हश्र होना चाहिए जैसा आधुनिक यूरोप में हुआ है। जहां अब देश की सीमाओं पर न तो फौजें हैं और न ही एक सीमा से दूसरी सीमा में जाने के लिए किसी वीजा या पासपोर्ट की जरूरत पड़ती है। दक्षिण एशिया में भी एक दिन ऐसा जरूर आएगा जब हम एक देश दूसरे देश में ऐसे चले जाएंगे जैसे एक जिले से दूसरे जिले में चले जाते हैं। इस तरह के राष्ट्र में उग्र तेवर वाले दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों की कोई ज्यादा भूमिका नहीं रह जाती। क्योंकि इनका अस्तित्व तभी तक है जब तक सामने कोई दुश्मन, वास्तविक तथा कल्पित न खड़ा किया गया हो। यह इनकी सबसे बड़ी विडंबना है। इसलिए इनका सारा का सारा कार्यक्रम दुश्मन को केंद्र में रखकर होता है। यानी इनका अस्तित्व दुश्मन के अस्तित्व पर टिका हुआ है।

प्रेमचंद इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे, यही कारण है कि राष्ट्र के लिए किसी सीमा रेखा के खिलाफ थे। और लगातार अन्तर्राष्ट्रीयता पर जोर दे रहे थे।

प्रेमचंद अन्तर्राष्ट्रीयता पर जोर देकर लिखते हैं- ''राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ सांप्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। सांप्रदायिकता अपने घेरे के अंदर पूर्ण शांति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने खसोटने में उसे जरा भी क्लेश नहीं होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अंदर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र के बाहर का संसार उसका शत्रु है। सारा संसार ऐसे ही राष्ट्रों या गिरोहों में बटा हुआ है, और सभी एक-दूसरे को हिंसात्मक संदेह की दृष्टि से देखते हैं और जब तक इसका अंत न होगा। संसार में शांति का होना असंभव है। जागरूक आत्माएं संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार करना चाहती हैं और कर रही हैं, लेकिन राष्ट्रीयता के बंधन में जकड़ा हुआ संसार उन्हें ड्रीमर या शेखचिल्ली समझकर उनकी उपेक्षा करता।''

प्रेमचंद की यह चिंता निर्मूल साबित नहीं हुई बल्कि आज के दौर में देखा जाए तो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नोचने खसोटने के लिए तैयार बैठे हैं। प्रेमचंद एक ऐसे राष्ट्र का सपना देख रहे थे जिसमें लूट खसोट और परस्पर वैमनस्य न हो। इस दौर में देखा जाए तो समूची दुनिया में आर्थिक मोर्चे पर लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हैं, दुनियाँ के अमीर देश कमजोर देशों में सुरक्षा और शांति के नाम पर मनमानी कर रहे हैं। मजदूरों किसानों का औद्योगिक पूंजीवाद के गुलाम बनाकर रख दिया। अभी राष्ट्रवाद भले ही नया लग रहा हो लेकिन इसकी प्रवृत्तियाँ नई नहीं हैं। हाँ, इतना जरूर है कि राष्ट्रवाद प्रवृत्तियों को इस्तेमाल करना जानता है। इसलिए यह सामान्यतया क्षेत्र, जाति, नस्ल, रंग, भाषा, धर्म आदि की श्रेष्ठता के रथ पर सवार होकर आता है। कहने को यह राष्ट्र के आगे इन सब चीजों को महत्व नहीं देता और इन्हें कमजोर करता है परंतु वास्तव में यह नस्ल, जाति, धर्म आदि के निकृष्टतम रूप को मजबूत कर रहा होता है। भारत में धर्म की कट्टरता आजादी के समय सबसे मजबूत और मुखर रूप में नजर आई, गौरतलब है कि यही भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का चरम समय था। लेकिन राष्ट्रवाद की जो धारा चल रही उसमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को विरोधी के रूप में देख रहा है।

प्रेमचंद 27 नवंबर 1933 की जागरण के संपादकीय में लिखते हैं-''जब तक संपत्ति मानव-समाज के संगठन का आधार है, संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही संपत्ति है। संसार में जितना अन्याय और अनाचार

है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गांठ है। जब तक संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मजदूरों के काम का समय घटाइए, मजूरों और किसानों के स्वतवों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए इस तरह के चाहे जीतने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस टीप-टाप से खड़ी नहीं रह सकती। इसे नए सिरे से गिराकर उठाना होगा।''

प्रेमचंद निजी संपत्ति के मसले पर विचार करते हैं। उनका मानना है कि सारी लड़ाई इसलिए होती है। संपत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार होने के कारण ये सारी लड़ाइयां छिड़ी हुई हैं। इसलिए इस समस्या से किसी तरह निपटना ही होगा।

प्रेमचंद का राष्ट्रवाद सांस्कृतिक राष्ट्रवाद दिखाई देता है, और उस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की उनके यहाँ निर्मम आलोचना मौजूद है। प्रेमचंद भारत की जाति व्यवस्था की आलोचना करते हैं। उनका हमेशा से मानना रहा है कि जब तक जाति व्यवस्था है, तब तक किसी समृद्ध राष्ट्र की नीव नहीं डाली जा सकती है। इस जाति व्यवस्था के उन्नायकों की प्रेमचंद खोज खबर भी लेते हैं। ब्राह्मण पुरोहितों और पुजारियों को टकेपंथी दल बोलते थे। क्योंकि राष्ट्र निर्माण बाधक धार्मिक पाखंड फैलाने वाले यही लोग थे। प्रेमचंद जिस राष्ट्र का सपना देख रहे थे, उसमें वर्ण व्यवस्था के लिए कोई जगह नहीं थी। 8 जनवरी 1934 को जागरण की संपादकीय में लिखते हैं-''हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उसमें तो जन्मगत वर्णों की गंध तक नहीं होगी, वह हमारे श्रमिकों और श्रमिकों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ,न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे, या सभी हरिजन होंगे।''

प्रेमचंद आजादी और राष्ट्रवाद को व्यापक संदर्भों में देख रहे थे। वो सांस्कृतिक बदलावों पर जोर दे रहे थे। उनका मानना अगर आजादी मिल भी गई हो क्या होगा? असल आजादी तो अंग्रेजों के साथ भारतीय समाज में बदलाव के साथ ही आ सकती है। तभी तो वो 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं' नामक लेख में लिखते हैं- ''हमारा स्वराज केवल विदेशी जुए से मुक्त करना नहीं है, बल्कि हम सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं अधिक घातक है।

प्रेमचंद राष्टीयता के लिए ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ भी लिखते हैं। प्रेमचंद के राष्ट्रवाद में जीवन के विविध आयामों एक झलक यह भी है की वो भारतीयों के ऊपर थोपे गए उपनिवेशवाद के खिलाफ थे। और भारतीय राष्टवाद सही अर्थों में उपनिवेशवाद के खिलाफ ही आया था। प्रेमचंद हंस नवंबर 1930 को लिखते हैं-''सबसे बड़ी बात जो हमारी विजय को निश्चित कर देती है, वह 'हक' है। हम हक पर हैं और 'हक' की हमेशा विजय होती है और यह एक अमर सत्य है। समय भी हमारे साथ है। यह डेमोक्रेसी का युग है। निरंकुशता की जड़ें खोखली होती जा रही हैं। संसार ने निरंकुश शासन का या तो अंत कर दिया या करता जा रहाय अतएव समय भी हमारे साथ है। लोगों के दिलों में स्वाधीनता की लगन पैदा हो गई है, उसके लिए कुर्बानियाँ करने पर, उसकी कीमत देने पर प्राण की बाजी भी लगाने को तैयार हैं। गोलियों और लाठियों के सामने खड़ा रहना इतिहास में बड़े महत्व की बात है। इससे उस उन्माद का परिचय मिलता है, जो किसी महान उद्देश्य के लिए लाजिमी है। समय अपना प्रभाव दिखाकर रहेगा। अंग्रेजों के बुरे दिन आ रहे हैं। आर्थिक दशा में में वह अब दूसरे दर्जे की शक्ति है, सैनिक और नाविक-बल में तीसरे दर्जे की। यह बात नहीं भुलनी चाहिए कि संसार की सहानुभूति हमारे साथ है।

प्रेमचंद इस लेख में बाहर से मिलने वाले सपोर्ट को रेखांकित कर रहे थे अगर तुम लड़ोगे तो बाहर से भी हम सबको सपोर्ट मिल सकता है। उस दौर में अमेरिका, जापान और जर्मनी से सहयोग की अपेक्षा कर रहे थे। अंग्रेजों के इस डर को भी प्रेमचंद भलीभाँति समझ रहे थे। दिसंबर सन 1929 में भारतीय कांग्रेस ने अपना काम आगे बढ़ाकर पूर्ण स्वाराज प्राप्त करने का निश्चय किया प्रेमचंद जी की धारणा थी कि पूर्ण स्वाराज इंग्लैंड की घमंडी सरकार का जवाब है। डोमेनियन-स्टेटस धोखे की टट्टी थी। जहां से अपने बूते पर जो भी तोला-माशा मिले हमे ले लेना चाहिए था। आजादी कैसी है कि हम मजे में उन्हें एक दो सेसन शरारत करने दे सकें। स्मृति में भावना की वकालत की जाती है और भावना की कठिनाई स्मृति से आगे होती है। किन्तु दोनों के संतुलन से ही राष्ट्रीयता का जन विधान निर्मित होता है। संतुलन से जहां कहीं पहुँचा जाता है, भावना ही उस कक्षेत्र में विचरण करती है।

प्रेमचंद राष्ट्रवाद को किसानों,मजदूरों और उत्पीड़ित वर्गों का चाहते थे। कोई राष्ट्र बने तो उसमें सबकी हिस्सेदारी बराबर हो। राष्ट्र के बनने में बहुत सारी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है लेकिन प्रेमचंद उन समस्याओं को अच्छी तरह

समझ रहे थे। तभी तो वो लिखते हैं-''हमारे कृषक अब भी नीच समझे जाते हैं। उनसे अब भी बेगार ली जाती है, उन पर नाना प्रकार के अन्याय किए जाते हैं, स्वार्थ मएन अंधे जमींदार-गण उन्हें सताने और कुचलने में अब भी संकोच नहीं करते हैं।''

अक्सर देखा गया है पूंजीवादी राष्ट्र अपने से कमजोर राष्ट्र को दबाने के अपने के लिए अनेक तरह की उपनिवेशवादी पद्धतियों का इस्तेमाल करता है। इस दौर में अमेरिका इसका सबसे सटीक उदाहरण है। उसने खाड़ी के अनेक देशों में अपनी सेनाएं भेजकर उनको पूरी तरह तबाह कर डाला। प्राय: राष्ट्रवाद की भावना की यह कमजोरी कह सकते हैं कि अपने आस-पास के राष्ट्रों को अपने विरोधी या दुश्मन के रूप में देखता है। प्रेमचंद इस तरह की प्रवृत्ति के खिलाफ थे। वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रूकावटें नामक लेख में लिखते हैं- ''सच्चाई यह है कि हवाई जहाज और मोटर और दूसरे आविष्कारों ने इस समुदाय की आँखों को चुधिया दिया है। वह नहीं देखता कि मानव जाति को इन चीजों के लिए क्या कीमत अदा करनी पड़ती है, कितनी जानें जाती हैं कितनी मेहनत बेकार जाती है। इसी व्यापारिक धुन के कारण आजकल दुनिया जीवन-संग्राम का घरौंदा बनी हुई है। यह खीचतान हमारे सामाजिक जीवन का, हमारे दर्शन का एक अटल सिद्धांत और व्यवहार बन गई है। उसने हमारे स्वार्थों को, हमारी व्यक्तिवादिता को, हमारी लाभ हानी की चिंता को एक पागलपन की हद टक पहुँचा दिया है। उसी ने सबल राष्ट्रों को इस ओर प्रेरित किया है कि वे दुर्बल राष्ट्रों को यातनाएं दें, गरीबों को मारें और उन पर जुल्म करें।''

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने राष्ट्रवाद को व्याख्यायित करते हुए लिखा-लोगों के राजनीतिक और आर्थिक संघ के अर्थ में, राष्ट्र एक ऐसा दृष्टिकोण है, जो सारे देशवासी किसी यांत्रिक उद्देश्य से संगठित होकर अपनाते हैं। समाज का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता। यह दुख अपने आप में साध्य होता है। यह मानव के सामाजिक प्राणी होने की स्वैच्छिक आत्माभियक्ति होता है। यह मानवीय संबंधों की प्राकृतिक व्यवस्था है ताकि मनुष्य एक-दूसरे को सहयोग देने की नीयत से जीवन के आदर्शों का विकास कर सके। इसका एक राजनीतिक पहलू भी होता है, न कि मानव आदर्शों। शुरू में, समाज में, इसका अलग से स्थान निर्धारित था, जो केवल व्यवसायिक लोगों के लिए ही था। विज्ञान की सहायता एवं इस संगठन के परिष्कार के बाद इसकी शक्ति बढ़ने लगी और उसी के साथ अकूत संपदा आने लगी।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का एक रूप है राष्ट्रवाद, जिसमें एक राष्ट्र साझा द्वारा परिभाषित किया गया है संस्कृति। यह जातीय राष्ट्रवाद और नागरिक राष्ट्रवाद के बीच एक मध्य स्थान रखता है। इसलिए, यह सांस्कृतिक परंपराओं और एक आम भाषा के आकार की राष्ट्रीय पहचान पर केंद्रित है, लेकिन सामान्य वंश, नस्ल, या जातीयता की अवधारणाओं पर नहीं। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' स्वतंत्र आंदोलनों में खुद को प्रकट नहीं करता है, लेकिन राष्ट्रवादी विचारधारा के एक बड़े स्पेक्ट्रम के भीतर एक उदारवादी स्थिति है। इस प्रकार 'पलेमिश' या हिन्दू राष्ट्रवादों में उदारवादी स्थिति 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' हो सकती है, जबकि इन्हीं आंदोलनों में जातीय राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय रहस्यवाद के रूप शामिल हैं।

आंबेडकर ने लिखा था कि ''यदि हिन्दू राज्य वास्तविकता बनेगा तो यह देश के लिए सबसे बड़ी विपत्ति होगी। यह स्वतंत्रता समानता, और भयतृत्व के लिए खतरा होगा। इसे हर कीमत पर रोकना होगा।'' आंबेडकर के इस संकल्प और संदेश को झुठलाने के लिए आरएसएस अंबेडकर की हिंदुवादी गढ़ंत कर उनमें हेडगेवार और गोलवलकर से साम्य तलाश कर उन्हें संदर्भ विहीन बना रहा है। यह अकारण नहीं है कि 'आर्गेनाइजर' और 'पांचजन्य' जैसी पत्रिकाओं ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को पुरजोर हवा दी है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में सबसे महत्त्वपूर्ण रूप से 'राष्ट्रवाद' ने अपने स्थान को सक्रिय रूप से निर्धारित कर लिया था। यह स्थिति अस्वाभाविक भी नहीं थी, क्योंकि स्वयं की पहचान से लेकर किसी भी भू क्षेत्र की पहचान के लिए सबसे कारगर तरीका राष्ट्रवाद ही होता है, और एक बिल्कुल भिन्न जातीय समूह, धर्म सामाजिक व्यवस्था व राजनीतिक आचरण वाले समुदाय के समक्ष तो यह नितांत जरूरी हो जाता हैय और खास तौर पर तब जब कि उस समुदाय के समक्ष स्वयं पराजय बोध भी विद्यमान हो। यही कारण है कि देसाई ने इस तथ्य को दर्ज किया है कि 'भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में एक रोचक तथ्य यह है कि इसका आविर्भाव राजनीतिक पराधीनता के दिनों में हुआ।''

हिन्दी ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं में इस दौर के लेखकों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर इस प्रश्न का सामना किया है; और इस तरह से जिन कई प्रश्नों का उत्तर ज्ञान की ठोस ऐतिहासिक प्रविधियों से नहीं प्राप्त हो पता है, वहाँ इस दौर का साहित्य और लेखक हमारे अपने इतिहास व

इतिहास की प्रक्रिया को समझने में बेहतर मदद करते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी नवजागरण के सबसे पहले सचेत लेखक भारतेन्दु हरिश्चंद्र से लेकर भारतीय ओज व साहस को स्वर देने वाले तमिल नवजागरण के उद्घोषक कवि सुबर्मण्यम भर्ती तक की रचनाओं में हर कहीं पूर्वोक्त प्रश्न की उपस्थिति देखने को मिलती है। लेकिन यहाँ यह कतई जरूरी है कि इस दौर में संदर्भित प्रश्न उसी शब्दावली और मिजाज का अनुकरण नहीं करता है, जो आज के वक्त में है। मूल रूप से यह दौर 'राष्ट्रवाद' को परिभाषित करने की जद्दोजहद का है। इस चीज को प्रेमचंद की पत्रकारिता में भी देखा जा सकता है।

आंबेडकर का मत था कि जाति व्यवस्था एक राष्ट्रविरोधी संस्था है, और भारत का मजदूर राष्ट्रवाद में नहीं, अन्तर्राष्ट्रवाद में विश्वास करता है। हम देखते हैं कि यही बात प्रेमचन्द 1933 में कर रहे थे। उन्होंने 27 नवम्बर 1933 के 'जागरण' में लिखा था—'राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। साम्प्रदायिकता अपने घेरे के अन्दर पूर्ण शान्ति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने-खसोटने में उसे जरा भी मानसिक क्लेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अन्दर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र के बाहर का संसार उसका शत्रु है। सारा संसार ऐसे ही राष्ट्रों या गिरोहों में बँटा हुआ है, और सभी एक-दूसरे को हिंसात्मक सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और जब तक इसका अन्त न होगा, संसार में शान्ति का होना असम्भव है। जागरूक आत्माएँ संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार करना चाहती हैं और कर रही हैं, लेकिन राष्ट्रीयता के बन्धन में जकड़ा हुआ संसार उन्हें ड्रीमर या शेखचिल्ली समझकर उनकी उपेक्षा करता है।' (विविध प्रसंग, 2, अमृतराय, 1980, पृष्ठ 333-34)

राष्ट्रवाद के प्रश्न पर दोनों विचारकों में कितनी बड़ी समानता है। डा. आंबेडकर कहते हैं कि राष्ट्रवाद एक दुधारी चेतना है, जो एक तरफ अपने धर्मसमुदाय के प्रति भ्रातृत्व की बात करती है, तो दूसरी तरफ अपने से भिन्न समुदायों के प्रति नफरत की भावना रखती है। उन्होंने एक जगह मजदूरों के सन्दर्भ में लिखा है कि राष्ट्रवाद कोई गण्डा-ताबीज नहीं है, जिसे गले में बांधने से उनकी सारी समस्यायें दूर हो जायेंगी। उन्होंने कहा कि मजदूर राष्ट्रवाद में नहीं, अन्तर्राष्ट्रवाद में विश्वास करते हैं।

जब राष्ट्रवाद का जिक्र आता है, तो पूंजीवाद का जिक्र जरूर आयेगा। क्योंकि राष्ट्रवाद वह बीमारी है, जो अनेक जनविरोधी बीमारियों को दावत देती चलती है। अगर राष्ट्रवाद है, तो उसके साथ पूंजीवाद, धर्मवाद, जातिवाद और अस्मितावाद की बीमारियां स्वयं सक्रिय हो जाती हैं। ये हमजोली बीमारियां हैं, जिनका आपस में एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूंजीवाद ने जनता के शोषण का जो साम्राज्य कायम किया है, राष्ट्रवाद धर्म और जाति के हथियारों से उसकी सुरक्षा करता है। डा. आंबेडकर ने पूंजीवाद को दलित वर्गों का शत्रु करार दिया था, तो प्रेमचन्द भी इसे अंधा पूंजीवाद कहते हैं, जो गरीबों का दुश्मन है।

6 नवम्बर 1933 के 'जागरण' में प्रेमचन्द ने कितना सही लिखा था—'जिधर देखिए उधर पूंजीपतियों की घुड़दौड़ मची हुई है। किसानों की खेती उजड़ जाय, उनकी बला से। कहावत के उस मूर्ख की भाँति जो उसी डाल को काट रहा था, जिस पर वह बैठा था, यह समुदाय भी उसी किसान की गर्दन काट रहा है, जिसका पसीना उसी की सेवा में पानी की तरह बह रहा है।' (वही, पृ. 331)

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. स्वाधीनता आंदोलन और राष्ट्रवाद
2. प्रेमचंद रचनावली भाग, 07, पृष्ठ 224
3. भारतीय समाज, राष्ट्रवाद और प्रेमचंद, जितेंद्र श्रीवास्तव, सामयिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ 146
4. आजादी और राष्ट्रवाद, संपादक, रविकांत, पृष्ठ 210
5. प्रेमचंद रचनावली खंड 08, पृष्ठ 477
6. वही, 478
7. प्रेमचंद रचनावली भाग 09, पृष्ठ 126
8. वही, पृष्ठ 129
9. पत्रकार प्रेमचंद और हंस, राजेश प्रकाशन, पृष्ठ 112
10. वही, 113
11. रवींद्र नाथ टैगोर रचनावली खंड 38, संपादक इन्द्र नाथ चौधरी, पृष्ठ, 35
12. प्रेमचंद के विचार भाग 01, पृष्ठ 35

उपासना रंगा

ग्लोबल गाँव के देवता और भूमंडलीकरण के खतरे

21 वीं सदी में विकास एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन चुका है। भूमंडलीकरण और औद्योगिकरण ने आदिवासियों को उनके जल, जंगल और जमीन से बेदखल करने की एक मुहिम ही छेड़ दी है। ऐसे आदिवासियों के जीवन और संस्कृति के ऊपर खतरा आ गया है। पृथ्वी पर जल संकट, वायु, और प्रदूषण का संकट बढ़ चुका है। पहाड़ तोड़े जा रहे हैं और बड़ी-बड़ी फैकटीरियाँ बनाई जा रही हैं, उनसे निकलने वाला पानी, तथा धुआ पर्यावरण असंतुलन पैदा कर रहा है। साहित्य चूंकि समय और समाज के साथ चलते हुए उन्नत भविष्य के सृजन का दूसरा नाम है, अत: जीवन और जगत की कोई भी समस्या या विडम्बना उसकी परिधि से बाहर नहीं है। हालांकि, हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विस्थापन और पर्यावरण संकट के प्रश्न एक लम्बे समय तक प्रमुख रूप से सुनाई नहीं पड़ते, लेकिन सन् 1990 ई॰ के बाद उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के दौर ने जब पूंजीपति वर्गों और बाजार को छूट दी और आदिवासी जल-जंगल-जमीन के हक से उनका विवाद होना शुरू हुआ, तब से हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विस्थापन और पर्यावरण संकट के प्रश्न को प्रमुखता से उठाया जाने लगा। आदिवासी विस्थापन और पर्यावरण संकट के प्रश्नों को लेकर उपस्थित होने वाले उपन्यासों में वीरेंद्र जैन कृत 'डूब' एवं 'पार', विनोद कुमार कृत 'समर शेष हैं', राकेश वत्स कृत 'जंगल के आस-पास', रणेन्द्र कृत 'ग्लोबल गांव के देवता' एवं 'गायब होता देश', पीटर पौल एक्का कृत 'सोन पहाड़ी', हरिराम मीणा कृत 'धूणी तपे तीर', मंगल सिंह मुंडा कृत 'छैला सन्दु' एवं महुआ माजी कृत 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस लघु आकार के उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में सुर और असुर संस्कृति के संघर्ष को दिखाया गया है। तथाकथित अपनी मान्यताओं और परंपराओं को श्रेष्ठ मानकर आदिवासी और तमाम उत्पीड़ित समूहों पर थोपता है, और उनको न मानने पर अलग-अलग नामों से बुलाता है। असुर बोलने पर हमारे सामने एक चित्र घूमने लगता है। रनेन्द्र उस बनी बनाई धारणा पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं-''असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लंबे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक, दांत-वांत निकले हुए, माथे पर सींग-वीन्ग् लगे हुए लोग होंगे। लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घूम रही थीं।''

यह उपन्यास आदिवासी समाज के शोषण एक महान गाथा कहता है। आदिवासियों को सरकारी मशीनरी का प्रयोग करके बेदखल तो किया जा रहा है लेकिन उसके साथ ही इस समाज में प्रचलित कुप्रथाओं और मान्यताओं ने आदिवासियों परेशान करने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है। आदिवासी समाज में अंधविश्वास पर्याप्त संख्या में पाया जाता है। इसके उत्प्रेरक इस अंधविश्वास के माध्यम से प्रवंचित समूहों को अपने जाल में आसानी से फंसा लेते हैं। इनके लिए यह मसला नहीं है कि खदान की वजह से बरसात के दिनों में पानी लग जाता है। जिससे मलेरिया महामारी का रूप ले लेता है। यह सवाल प्रमुखता से कोई नहीं उठाता है। लेकिन मुड़ीकटवा को कोई नहीं देखा है, लेकिन वह सबसे बड़ी समस्या बना हुआ है। इसका विरोध करने वालों को मूर्ख समझ जाता है।

रनेन्द्र इस कथा के बारे लिखते हैं-''दरअसल कुछ लोगों के मन में यह बात बैठी हुई है कि धान को आदमी के खून में सानकर विचड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है। इसलिए इस सीजन में मुड़ीकटवा लोग घूमते रहते हैं।''

इस उपन्यास सुर और संघर्ष को उपन्यासकार हजारों वर्षों के संघर्ष रूप में देखता है। सुर असुर की यह लड़ाई बहुत पुरानी है। इन समूहों बहुत समय पहले से किसी कहानी के मध्यम से खलनायक बनाकर पेश किया जाता रहा है। उनको पीछे करने के लिए अनेक तरह की साजिश भी होती रही है। विकास की हवा हवाई बातें सारी सरकारें करती रहती हैं। जिस चीज को आदिवासी नहीं मांग रहे हैं, वे चीजें उनको जबरदस्ती दी जा रही हैं। भौराघाट स्कूल की कहानी को बहुत मार्मिक तरीके से इस उपन्यास में दर्ज किया है-''रुनझुन कहता है असुरों के सौ ज्यादा घरों को उजाड़कर बना था यह स्कूल। अभी भी आस-पास असुर आबादी है। ज्यादा दूर नहीं, बीस बाईस किलोमीटर के दायरे में लगभग सारी की सारी असुर विरजिया, कोरबा आबादी बसती है। पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो।''

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास असुर संस्कृति के वैश्विक धरातल को हमारे सामने खोलकर रख देता है। भूमंडलीकरण ने समूची दुनिया के अंदर आदिवासी समूहों के सांस्कृतिक तौर तरीकों पर हमला किया है। आदिवासी पहचान का खतरा आदिवासियों के जीवन संदर्भों से काट रहा है। इस उपन्यास पात्र ललिता कहती है-''हमारे महादनिया महादेव वह नहीं हैं लँगटा बाबा के है। हमारे महादेव यह पहाड़ है जो हमे पालता है। हमारी सरना माई न केवल सखुआगाछ में बल्कि सारी वनस्पतियों में समाई है। हमारे सारे जीवों से अपने गोत्र को जोड़ते है। हमारे यहाँ अन्य की अवधारणा नहीं है जिस समाज के पास इतनी बड़ी सोच हो उसे किसी लँगटा बाबा या किसी और की शरण में जाने की जरूरत ही क्या है।''

भारत के खनिज संपदा से सम्पन्न राज्यों में बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ कम रेट में आदिवासियों की जमीनें खरीदती हैं और कम मजदूरी देखर आदिवासियों से ही काम लेती हैं। विकास की इस अवधारणा ने आदिवासियों का काफी नुकसान किया है। भौराघाट का स्कूल आदिवासियों की जमीन पर बनया गया था लेकिन उसमें कितने आदिवासी बच्चे आज तक पढ़ पाए यह सोचने वाली बात जरूर है। बॉक्साइट की खान आदिवासियों की जीवन में समृद्धि के लिए बनाई गई थीं लेकिन उससे आदिवासियों का जीवन और भी दूभर होता जा रहा है। बरसात के दिनों में उसमें पानी भर जाने बड़े पैमाने पर मलेरिया फैलता है और आदिवासियों की मृत्यु होती है। उनकी वर्षों से चली आ रही सभ्यता और संस्कृति को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए उनको असुर बोलकर एक आकृति का निर्माण किया जाता है की असुर कैसे होते हैं।

वीर भारत तलवार आदिवासी समाज की प्रसंशा करत हुए अपनी पुस्तक 'झारखंड के आदिवासियों के बीच' में करते हुए लिखते हैं-''आदिवासी गरीब हैं। उनकी अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई है, उनकी उत्पादकता कम है, क्योंकि उनकी जमीन उपजाऊ नहीं है, उनके पास सिचाई के साधन तथा उत्पादन के साधनों का अभाव है... लेकिन यह सही नहीं है कि उनकी संस्कृति घटिया है... इसके उल्टे सच बात तो यह है कि आदिवासियों की संस्कृति, मूल्यों और सामाजिक परंपराओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ और मानवीय है।''

भारतीय समाज एक बड़े वर्ग को उसकी जमीन से बेदखल करने की साजिश को उपन्यास में बखूबी व्यक्त किया गया है। वन विभाग असुरों को घुसपैठिया मानकर जंगल में घुसने तक नहीं देता है। जिन्होंने जंगल को तोड़कर रहने लायक जगह बनाई और जंगल की रक्षा की उनको बड़ी-बड़ी कंपनियाँ उनकी ही जमीन से उनको बेदखल कर रही हैं, इसमें देशी से विदेशी कंपनियाँ शामिल हैं। भूमंडलीकरण के इस प्रभाव ने आदिवासियों को दोहरे शोषण की राह पर खड़ा कर दिया है। नाम कंपनियों का हिन्दी और देशी होता है लेकिन वास्तविक रूप में वो विदेशी होती हैं-''कंटीले तारों का घेरा डालने का काम 'वेदांग' जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनी ने लिया है। इतनी बड़ी कंपनी ने इतने छोटे काम में हाथ डाला इसमें जरूर कोई राज है। बहुत वर्षों से इस इलाके से बॉक्साइट बाहर नहीं भेजकर यहीं कारखाना खोलने की बात उठती रही है। लगता है वेदांग उसी टोह में आ रहा है। ग्लोबल गाँव का बड़ा देवता है वेदांग। यह उंगली पकड़कर बाह पकड़ने वाली बात लगती है। यह कंपनी है विदेशी और नाम रखा है वेदांग जैसे प्योर देशी हो। कितना चालू-पुर्जा है इसी से पता चलता है।''

आदिवासी समाज देशी, विदेशी कंपनियों की मनमानी की वजह से काम करने से मना कर देता है। ग्लोबल गाँव के देवताओं में हलचल मच जाती है। शिंडाल्को कंपनी का मैनेजर पाण्डेय आन्दोलन को खत्म करने के लिए साजिश रच देता है। कनारी संघ आन्दोलन से हाथ खींच लेता है। पुलिस छापा मारकर बहुत सारे असुरों को गिरफ्तार कर लेती है। उस गिरफ्तारी के विरोध में एक बाद आंदोलन खड़ा हो जाता है। पुलिस आदिवासियों को भड़काकर गोली चला देती है। जिसमें छः आदिवासी मारे जाते हैं। अखबार में खबर छपी की छह

नक्सली मारे गए। ऐसे में क्षेत्र के बहुत सारे नौजवान क्षेत्र छोड़कर चले जाते हैं और ग्लोबल गाँव के नेताओं में खुशी की लहर दौड़ जाती है। दूसरी ओर लैंस माइंस फटने से बुधनी दी लालिता एतवारी आदि मारे जाते हैं। इस लड़ाई को जारी रखने के लिए राजधानी के हॉस्टल में रहने वाले सुनील के ऊपर आ जाती है।

रनेन्द्र ने अपने उपन्यास में आदिवासी समाज के विभिन पहलुओं को बखूबी दर्ज किया है। आदिवासियों की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को और विकास के नाम पर आदिवासियों के दमन और अत्याचार की गहरी पड़ताल की गई है। आदिवासी समाज अपनी तमाम पीड़ाओं और यातनाओं को झेलते हुए समाज में हो रहे परिवर्तनों से आँख नहीं चुरा सकता है। जंगल जमीन अउर पहाड़ की लड़ाई लड़ते हुए आदिवासी मारे जा रहे हैं। सुर और असुर संघर्ष को लालचन की हत्या के रूप में प्रतिफलित होता है। यह सदियों से चली आ रही लड़ाई अब भी लड़ी जा रही है।

उपन्यासकार लिखता है- ग्लोबल गाँव के देवता खुश थे। जो लड़ाई वैदिक युग से शुरू हुई थी, हजार-हजार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया था। असुर-विरजिया, बिरहोर-कोरबा, आदिम जाति आदिवासी सब मुख्यधारा में शामिल हो रहे थे। मुख्यधारा की लहरें चाँद छूने को बेताब थीं। वह लहराती-इठलाती राज्यों की राजधानियों से होती वाया दिल्ली, वाशिंगटन डी. सी. की ओर दौड़ी जा रही थीं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ग्लोबल गाँव के देवता उपन्यास आदिवासियों के दुख, उत्पीड़न और संघर्ष की महागाथा है। सदियों से सुर और असुर संस्कृति का संघर्ष चलता रहा है। उपन्यासकार ने असुर संस्कृति और सभ्यता को ऐतिहासिक, मिथकीय, और वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की। हर दौर में सभ्यता, संस्कृति और मिथक के सहारे आदिवासी समुदाय के साथ छल करता रहा मुख्यधारा का समूह उसका बखूबी चित्रण इस उपन्यास में देखा जा सकता है।

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. हिन्दी का पर्यावरणीय साहित्य, प्रभाकर हेब्बार इल्लत, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 128 प्रथम संस्करण 2022
2. ग्लोबल गाँव के देवता, रनेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ-11
3. वही, पृष्ठ 12
4. वही, पृष्ठ 12
5. वही, पृष्ठ 72
6. 21वीं शती का हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2015, पृष्ठ 69
7. वही, पृष्ठ, 70
8. ग्लोबल गाँव के देवता, रनेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ-80
9, वही, पृष्ठ 100

डॉ. अंबेडकर का त्रिसूत्रीय मंत्र और महिला उद्यमिता : MSMEs के लिए कौशल विकास व समावेशी बाजार द्वारा सशक्तिकरण

सोनी* डॉ. राकेश कुमार रजक**

सारांश (Abstract)

यह शोध पत्र डॉ. बी.आर. अंबेडकर के शक्तिशाली त्रिसूत्रीय दर्शन—'शिक्षित करो, आंदोलित करो, संगठित हो' की स्थायी प्रासंगिकता का आलोचनात्मक परीक्षण करता है। इसका उद्देश्य भारत के सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यम (MSMEs) क्षेत्र में महिला उद्यमियों के सशक्तिकरण हेतु एक परिवर्तनकारी ढाँचे के रूप में इस दर्शन को स्थापित करना है। अपनी महत्वपूर्ण क्षमता के बावजूद, भारतीय उद्यमिता में महिलाओं को सामाजिक-सांस्कृतिक मानदंडों, वित्त तक सीमित पहुँच, कौशल की कमी और बाजार में प्रवेश की बाधाओं जैसी बहुआयामी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। यह अध्ययन तर्क देता है कि अंबेडकर का समग्र दृष्टिकोण इन मुद्दों को व्यवस्थित रूप से संबोधित करने के लिए एक सशक्त खाका प्रदान करता है।

यह पेपर अंबेडकर के प्रत्येक सिद्धांत का सूक्ष्मता से विश्लेषण करता है : 'शिक्षित करो' को वित्तीय साक्षरता, डिजिटल दक्षता और व्यवसाय प्रबंधन में लक्षित कौशल विकास की अनिवार्यता के रूप में पुनर्व्याख्यायित किया गया है, जो आधुनिक बाजारों में सफल होने के लिए महत्वपूर्ण हैं। 'आंदोलित करो' लैंगिक पूर्वाग्रहों, संस्थागत भेदभाव और सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ चल रहे संघर्ष को दर्शाता है जो महिलाओं की उद्यमशीलता की आकांक्षाओं को दबाते हैं, इसमें मजबूत नीतिगत वकालत और सामूहिक मानसिकता में बदलाव की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। अंततः, 'संगठित हो' स्वयं सहायता समूहों, उद्योग संघों और डिजिटल नेटवर्कों के माध्यम से सामूहिक कार्रवाई की शक्ति को रेखांकित करता है, जो साझा संसाधनों, बाजार संबंधों और निरंतर विकास को बढ़ावा देता है। अंबेडकर के व्यावहारिक और मुक्तिदायक ढाँचे को लागू करके, यह विश्लेषण दर्शाता है कि कैसे एक ठोस प्रयास मौजूदा बाधाओं को दूर कर सकता है, महिला-नेतृत्व वाले MSMEs की पूर्ण आर्थिक क्षमता को उजागर कर सकता है, और अंततः भारत में अधिक समावेशी तथा न्याय-संगत उद्यमशीलता पारिस्थितिकी तंत्र को बढ़ावा दे सकता है।

मुख्य शब्द : (Keywords) : महिला उद्यमिता, डॉ. बी.आर. अंबेडकर, शिक्षित करो, आंदोलित करो, संगठित हो, सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यम (MSMEs), कौशल विकास, बाजार पहुँच, लैंगिक सशक्तिकरण, भारत सामाजिक न्याय, समावेशी विकास

1. परिचय

भारत के सामाजिक न्याय के प्रतीक और संविधान के वास्तुकार, डॉ. भीमराव अंबेडकर का त्रिसूत्रीय मंत्र 'शिक्षित करो, आंदोलित करो, संगठित हो' स्वाधीनता के सात दशकों से भी अधिक समय बाद भी एक कालातीत और जीवंत दर्शन बना हुआ है। (Ambedkar, 1936, p. 89)। यह नारा केवल दलित मुक्ति के लिए एक युद्धघोष नहीं था, बल्कि किसी भी वंचित या हाशिए पर पड़े समूह के उत्थान और सशक्तिकरण के लिए एक सार्वभौमिक और मौलिक मॉडल है। इस दर्शन की प्रासंगिकता आज विशेष रूप से महिला उद्यमिता के क्षेत्र में मुखर होकर सामने आती है, जहाँ यह महिलाओं को न केवल आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने की राह दिखाता है, बल्कि सामाजिक संरचना में एक गरिमापूर्ण स्थान और अटूट आत्म-विश्वास भी प्रदान करने की शक्ति रखता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यम (MSMEs) विकास और रोजगार सृजन के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं। हालाँकि, इस क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी अभी भी अपेक्षानुसार नहीं है। नीति आयोग की 2018 की रिपोर्ट (NITI

Aayog, 2018, p. 23), इस बात पर प्रकाश डालती है कि देश के कुल उद्यमियों में महिलाओं की भागीदारी मात्र 20% है। यह आँकड़ा केवल एक संख्या नहीं है, बल्कि उन गहरी बैठी संरचनात्मक, सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक बाधाओं का एक स्पष्ट प्रतिबिंब है जो महिलाओं को उद्यमशीलता के मार्ग पर आगे बढ़ने से रोकती हैं। इन बाधाओं में प्रचलित सामाजिक रूढ़ियाँ, वित्तीय संसाधनों तक सीमित पहुँच, आवश्यक कौशल का अभाव और बाजार तक पहुँचने की चुनौतियाँ प्रमुख हैं।

यह लेख डॉ. अंबेडकर के इस त्रिसूत्रीय सिद्धांत का गहन विश्लेषण करता है और यह पड़ताल करता है कि कैसे इसे महिला उद्यमिता में कौशल विकास और समावेशी बाजार पहुँच की चुनौतियों के समाधान के रूप में लागू किया जा सकता है, विशेष रूप से भारत के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले MSME के संदर्भ में। हमारा केंद्रीय तर्क यह है कि अंबेडकर का ढाँचा महिला उद्यमियों के लिए एक समग्र और प्रभावी मॉडल प्रदान करता है। इस अध्ययन का मुख्य शोध प्रश्न है : डॉ. अंबेडकर का 'शिक्षित करो, आंदोलन करो, संगठित हो' का दर्शन वर्तमान सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य में महिला उद्यमियों के लिए आवश्यक कौशल विकास और समावेशी बाजार पहुँच रणनीतियों को किस प्रकार आकार दे सकता है और उनके सशक्तिकरण में सहायक हो सकता है? यह अध्ययन राष्ट्रीय विकास लक्ष्यों, लैंगिक समानता (सतत विकास लक्ष्य 5), और समावेशी आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने में महिला उद्यमिता के महत्त्व पर प्रकाश डालेगा। आगामी खंडों में, हम पहले भारत में महिला उद्यमिता के परिदृश्य और चुनौतियों का विश्लेषण करेंगे, फिर अंबेडकर के दर्शन की ऐतिहासिक जड़ों और समकालीन प्रासंगिकता पर प्रकाश डालेंगे, और अंत में उनके प्रत्येक सिद्धांत को महिला उद्यमिता के संदर्भ में विस्तार से लागू करेंगे।

2. भारत में महिला उद्यमिता का परिदृश्य और बहुआयामी चुनौतियाँ : एक गहन विश्लेषण

भारत, अपनी विशाल जनसंख्या और तीव्र आर्थिक विकास के बावजूद, लैंगिक समानता के कई महत्त्वपूर्ण सूचकांकों पर अभी भी संघर्ष कर रहा है। महिला उद्यमिता के क्षेत्र में यह असमानता विशेष रूप से मुखर है। हालाँकि भारत में महिलाएँ पारंपरिक रूप से घरेलू उद्योगों, हस्तशिल्प और कृषि से जुड़े छोटे पैमाने के व्यवसायों में संलग्न रही हैं, औपचारिक और संगठित उद्यमिता में उनकी उपस्थिति कम बनी हुई है। नीति आयोग की 2018 की रिपोर्ट (NITI Aayog, 2018, p. 23), द्वारा प्रस्तुत 20% का आँकड़ा चिंताजनक है, खासकर जब हम देश की आधी आबादी के अप्रयुक्त आर्थिक क्षमता पर विचार करते हैं। यह आँकड़ा केवल एक संख्या नहीं, बल्कि उन गहरी बैठी संरचनात्मक, सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक बाधाओं का एक निराशाजनक प्रतिबिंब है जो महिलाओं को उद्यमशीलता के मार्ग पर आगे बढ़ने से लगातार रोकती हैं।

इन बाधाओं में सबसे प्रमुख हैं ''सामाजिक-सांस्कृतिक मानदंड और अपेक्षाएँ''। भारतीय समाज में महिलाओं से अक्सर प्राथमिक रूप से घर-गृहस्थी और बच्चों की देखभाल की अपेक्षा की जाती है। यह सामाजिक दबाव उनके लिए व्यावसायिक महत्वाकांक्षाओं को पोषित करने या उन्हें पूरा करने के लिए आवश्यक समय और गतिशीलता को सीमित कर देता है (Brush et al., 2018, p. 67)। ''पारिवारिक सहयोग का अभाव'' भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है; यदि पति या परिवार के अन्य सदस्य महिलाओं के व्यावसायिक प्रयासों का समर्थन नहीं करते हैं, तो उनके लिए व्यवसाय शुरू करना या उसे बढ़ाना लगभग असंभव हो जाता है। इसके अतिरिक्त, महिलाओं की गतिशीलता पर सामाजिक प्रतिबंध और सुरक्षा संबंधी चिंताएँ अक्सर उन्हें बाजार का दौरा करने, नेटवर्किंग कार्यक्रमों में भाग लेने, या व्यावसायिक संचालन के लिए यात्रा करने से रोकती हैं, विशेष रूप से ग्रामीण या छोटे शहरों में। एक पुरानी और हानिकारक सामाजिक सोच यह भी है कि महिलाएँ ष्व्यवसायष जैसे क्षेत्र के लिए अयोग्य हैं, जिससे उनका आत्मविश्वास कम होता है और उन्हें समाज में स्वीकार्यता प्राप्त करने में कठिनाई होती है।

आर्थिक और वित्तीय बाधाएँ भी उतनी ही विकट हैं। वित्तीय संसाधनों तक पहुँच की कमी महिला उद्यमियों के लिए सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है। अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC) की 2014 की रिपोर्ट (International Finance Corporation [IFC], 2014, p. 32), यह चौंकाने वाला तथ्य सामने लाती है कि विकासशील देशों में महिला-स्वामित्व वाले छोटे व्यवसायों को पुरुषों के मुकाबले $300 बिलियन कम वित्तीय सहायता मिलती है। यह वित्तीय खाई कई कारणों से गहराती है, जिनमें संपार्श्विक (collateral) की कमी प्रमुख है, क्योंकि भारत में महिलाएँ अक्सर संपत्ति की मालिक नहीं होतीं। इसके अलावा, वित्तीय साक्षरता का अभाव और औपचारिक बैंकिंग प्रक्रियाओं की जटिलताएँ महिलाओं को ऋण प्राप्त करने या सरकारी योजनाओं का लाभ उठाने से रोकती हैं (International Finance Corporation [IFC] 2014, p. 45)। वित्तीय संस्थान भी अक्सर महिला उद्यमियों को अधिक जोखिम भरा मानते हैं, जिससे उन्हें ऋण देने में

हिचकिचाहट होती है। वित्त के अलावा, कच्चे माल, आधुनिक प्रौद्योगिकी, बिजली और इंटरनेट जैसे बुनियादी ढाँचे, और उपयुक्त कार्यस्थलों तक पहुँच की कमी भी उनके उद्यमों के विकास को बाधित करती है।

कौशल विकास का अभाव भी एक महत्त्वपूर्ण चुनौती है। कई महिलाएँ पारंपरिक रूप से अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत हैं, जहाँ उन्हें औपचारिक व्यावसायिक प्रशिक्षण, प्रबंधन कौशल, या नवीनतम तकनीकी जानकारी प्राप्त करने के अवसर सीमित होते हैं। डिजिटल साक्षरता की कमी,आधुनिक विपणन रणनीतियों का ज्ञान न होना, और वित्तीय व कानूनी अनुपालन की समझ का अभाव उनके व्यवसायों के विस्तार और औपचारिकता को रोक देता है।

अंततः, बाजार तक पहुँच की समस्या भी एक बड़ी बाधा है। कई महिलाएँ उत्कृष्ट उत्पादों या सेवाओं का निर्माण करती हैं, विशेषकर हस्तशिल्प, खाद्य प्रसंस्करण और पारंपरिक उद्योगों में, लेकिन उन्हें अपने उत्पादों के लिए सही बाजार खोजने, कुशल वितरण चैनलों को समझने, या डिजिटल प्लेटफॉर्म का प्रभावी ढंग से उपयोग करने में चुनौतियों का सामना करना पड़ता है (Menon, 2020, p. 76)। वे अक्सर स्थापित, पुरुष-प्रधान व्यवसायों से तीव्र प्रतिस्पर्धा का सामना करती हैं, और बाजार की मांग, मूल्य निर्धारण रणनीतियों और उपभोक्ता रुझानों के बारे में जानकारी की कमी उन्हें अप्रभावी व्यावसायिक निर्णय लेने पर मजबूर करती है।

इन बहुआयामी चुनौतियों के आलोक में, डॉ. अंबेडकर का दूरदर्शी दृष्टिकोण एक ठोस और व्यावहारिक समाधान प्रदान करता है। वे हमें याद दिलाते हैं कि शिक्षा, संघर्ष और संगठन की सामूहिक शक्ति के माध्यम से कोई भी वंचित समूह अपनी नियति बदल सकता है (Omvedt, 2004, p. 112)। यह सूत्र न केवल दलितों और अन्य हाशिए पर पड़े समुदायों के लिए था, बल्कि आज यह महिला उद्यमियों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है जो पितृसत्तात्मक समाज और संरचनात्मक बाधाओं के खिलाफ एक निरंतर संघर्ष में संलग्न हैं। अंबेडकर का दर्शन इन चुनौतियों को व्यवस्थित रूप से संबोधित करने के लिए एक रूपरेखा प्रदान करता है, जिससे महिलाएँ न केवल आर्थिक रूप से मजबूत हों, बल्कि सामाजिक रूप से भी सशक्त बनें।

3. डॉ. अंबेडकर का त्रिसूत्रीय दर्शनरू ऐतिहासिक संदर्भ और समकालीन प्रासंगिकता

डॉ. भीमराव अंबेडकर का त्रिसूत्रीय मंत्र 'शिक्षित करो, आंदोलित करो, संगठित हो' उनके अपने जीवन के गहन अनुभवों, गहन सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण और दलितों तथा अन्य उत्पीड़ित समुदायों के लिए न्याय व समानता के प्रति उनके अटूट समर्पण से उपजा था। 1891 में जन्मे अंबेडकर ने अपने बचपन से ही जातिगत भेदभाव की अकल्पनीय और असहनीय पीड़ा झेली (Keer, 1954, p. 56)। उन्हें स्कूल में पीने के पानी को छूने तक की अनुमति नहीं थी और वे कक्षा में दूसरों से अलग बैठने को मजबूर थे (Ambedkar, 1936, p. 34)। इन अनुभवों ने उन्हें यह मूलभूत सत्य सिखाया कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ('स्वराज') पर्याप्त नहीं है; सच्ची आजादी ('विमुक्ति') तभी आएगी जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति को गरिमा, समानता और अवसर मिले, और वे अपने शोषण के विरुद्ध बिना किसी भय के आवाज उठा सकें (Jaffrelot, 2005, p. 98)।

अंबेडकर ने यह महसूस किया कि ''शिक्षा ('शिक्षित करो')'' सामाजिक परिवर्तन की दिशा में पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण कदम है। उनके अनुसार, शिक्षा केवल साक्षरता प्राप्त करना या डिग्री हासिल करना नहीं था, बल्कि आत्म-चेतना, आत्म-जागरूकता और अपने अधिकारों व क्षमता को पहचानने की प्रक्रिया थी (Rege, 2019, p. 77)। शिक्षा व्यक्ति को अज्ञानता और अंधविश्वास के बंधन से मुक्त करती है, उसे दुनिया को आलोचनात्मक रूप से समझने और अपनी दयनीय स्थिति पर सवाल उठाने की शक्ति प्रदान करती है। दलितों के लिए शिक्षा का उनका आह्वान आत्म-बोध और आत्म-सम्मान की दिशा में एक क्रांतिकारी आह्वान था, क्योंकि यह उन्हें सदियों के अपमान और अधीनता से बाहर निकलने का मार्ग दिखा रहा था। अंबेडकर ने हाशिए पर पड़े लोगों के लिए उच्च शिक्षा और व्यावसायिक कौशल के अधिग्रहण पर विशेष जोर दिया, ताकि वे मुख्यधारा के समाज में प्रतिस्पर्धा कर सकें और अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार कर सकें।

हालाँकि, अंबेडकर ने यह भी समझा कि शिक्षा अकेले सामाजिक जड़ता को तोड़ने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। उन्होंने देखा कि जागरूक व्यक्तियों को ''अन्याय के खिलाफ आवाज उठानी ('आंदोलित करो')'' होगी। 'आंदोलित करो' का नारा केवल सड़कों पर उतरकर शारीरिक विरोध करने का आह्वान नहीं था, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक निष्क्रियता को तोड़ना, अन्यायपूर्ण प्रथाओं का विरोध करना, और अपने अधिकारों के लिए सामूहिक रूप से संघर्ष करना था (Narayan, 2006, p. 123)। महाड़ सत्याग्रह (1927) इसका एक प्रमुख और ऐतिहासिक उदाहरण है, जहाँ उन्होंने दलितों को सार्वजनिक तालाब से पानी पीने के अपने बुनियादी मानवाधिकार के लिए संगठित किया, जो सदियों से उन्हें नकारा गया था (Rodrigues, 2002, p. 88)। यह केवल

पानी का नहीं, बल्कि आत्म-सम्मान, समानता और नागरिक अधिकारों की दावेदारी का आंदोलन था। 'आंदोलित करो' में बौद्धिक आंदोलन, तर्क और साक्ष्य का उपयोग करके भेदभाव और असमानता का मुकाबला करना भी शामिल था।

अंततः, अंबेडकर ने यह भी समझा कि व्यक्तिगत शिक्षा और एकाकी आंदोलन लंबे समय तक टिकाऊ नहीं होते और वे व्यापक व्यवस्थित परिवर्तन लाने में विफल रह सकते हैं। स्थायी परिवर्तन लाने और अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए ''सामूहिक शक्ति और एकजुटता ('संगठित हो')'' अपरिहार्य है (Rodrigues, 2002, p. 45)। उन्होंने बहिष्कृत हितकारिणी सभा (1924) जैसे संगठन बनाए, जिसका उद्देश्य दलितों के शैक्षिक और सामाजिक उत्थान के लिए काम करना था (Ghani et al., 2014, p. 102)। इन संगठनों के माध्यम से, वे दलितों को एक साथ लाए, उनमें एकता की भावना पैदा की, और एक साझा उद्देश्य के लिए सामूहिक रूप से कार्य करने के लिए प्रेरित किया। 'संगठित हो' का सिद्धांत यह सुनिश्चित करता है कि शिक्षा से प्राप्त ज्ञान और आंदोलन से उत्पन्न ऊर्जा को एक स्थायी, संरचित और प्रभावी तरीके से चैनलाइज किया जा सके।

ये तीनों चरण एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं और एक सहक्रियात्मक चक्र बनाते हैं। शिक्षा आंदोलन का आधार बनी, क्योंकि शिक्षित लोग ही अन्याय को पहचान सकते हैं और उसके खिलाफ आवाज उठा सकते हैं। आंदोलन ने संगठन को ताकत दी, क्योंकि साझा संघर्ष ने लोगों को एक साथ आने और एकजुट होने के लिए प्रेरित किया। और अंततः, संगठन ने शिक्षा के स्थायी प्रभाव को सुनिश्चित किया, क्योंकि एक संगठित समूह ही अपने सदस्यों के लिए शैक्षिक अवसरों की वकालत कर सकता है और उन्हें संरक्षित कर सकता है (Rodrigues, 2002, p. 66)।

आज जब हम महिला उद्यमिता को बढ़ावा देने का लक्ष्य रखते हैं, तो अंबेडकर का यही त्रिसूत्रीय चक्र हमारा सीधा मार्गदर्शन कर सकता है। पितृसत्तात्मक संरचनाएँ और लैंगिक भेदभाव अक्सर महिलाओं को दलितों के समान ही एक वंचित समूह बनाते हैं, जिनके लिए ये सिद्धांत उतनी ही प्रासंगिकता रखते हैं। जिस तरह अंबेडकर ने दलितों को अज्ञानता, निष्क्रियता और विभाजन से बाहर निकाला, उसी तरह उनके सिद्धांत महिलाओं को भी आर्थिक और सामाजिक मुक्ति की ओर ले जा सकते हैं।

4. 'शिक्षित करो' का अनुप्रयोग : महिला उद्यमियों के लिए कौशल विकास

डॉ. अंबेडकर का 'शिक्षित करो' का आह्वान महिला उद्यमियों के संदर्भ में एक व्यापक अर्थ रखता है। यहाँ शिक्षा का मतलब केवल पारंपरिक अकादमिक डिग्रियाँ प्राप्त करना नहीं है, बल्कि उन व्यावहारिक, तकनीकी और व्यावसायिक कौशलों का अधिग्रहण है जो उन्हें आज की प्रतिस्पर्धी बाजार अर्थव्यवस्था में सफल होने में सक्षम बनाते हैं (Field et al., 2010, p. 130)। भारत में कई महिलाएँ उत्कृष्ट कारीगर, निर्माता या सेवा प्रदाता होती हैं, विशेषकर हस्तशिल्प, खाद्य प्रसंस्करण और पारंपरिक घरेलू उद्योगों में। हालाँकि, उन्हें अक्सर व्यवसाय के वाणिज्यिक पहलुओं, जैसे उन्नत वित्तीय प्रबंधन, प्रभावी विपणन रणनीतियाँ, डिजिटल उपकरणों का उपयोग, आपूर्ति श्रृंखला प्रबंधन और ग्राहक संबंध प्रबंधन की गहरी समझ का अभाव होता है।

कौशल विकास के महत्त्वपूर्ण आयाम :

वित्तीय साक्षरता और प्रबंधन (Financial Literacy & Management): महिला उद्यमियों के लिए वित्तीय साक्षरता एक आधारशिला है। IFC की 2014 की रिपोर्ट (International Finance Corporation [IFC], 2014, p. 32) स्पष्ट करती है कि विकासशील देशों में महिला-स्वामित्व वाले MSMEs को पुरुषों की तुलना में $300 बिलियन का वित्तीय अंतर का सामना करना पड़ता है। यह अंतर अक्सर वित्तीय नियोजन, बहीखाता, ऋण आवेदन प्रक्रिया को समझने, बजट बनाने और निवेश के अवसरों की जानकारी के अभाव के कारण होता है। 'शिक्षित करो' के तहत, महिलाओं को प्रधानमंत्री जन-धन योजना, मुद्रा योजना (जो संपार्श्विक-मुक्त छोटे ऋण प्रदान करती है), और स्टैंड-अप इंडिया (Ministry of MSME, 2023, p. 71) जैसी सरकारी योजनाओं के लाभों और उपयोग के बारे में गहराई से शिक्षित किया जाना चाहिए। उन्हें सरल बैंकिंग प्रक्रियाओं, डिजिटल भुगतान प्रणालियों (जैसे यूनिफाइड पेमेंट्स इंटरफेस - UPI), और छोटे निवेश के तरीकों पर व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाना चाहिए, जिससे वे वित्तीय रूप से आत्मनिर्भर बन सकें। वित्तीय संस्थानों को महिलाओं के लिए विशेष कार्यशालाएँ आयोजित करनी चाहिए ताकि उन्हें ऋण तक पहुँचने के तरीके सिखाए जा सकें।

डिजिटल साक्षरता और ई-कॉमर्स कौशल (Digital Literacy & E-commerce Skills): आज के डिजिटल युग में, ऑनलाइन उपस्थिति किसी भी व्यवसाय के लिए अपरिहार्य है। महिला उद्यमियों को अपनी ऑनलाइन उपस्थिति स्थापित करने और प्रबंधित करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इसमें वेबसाइट बनाने, सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म (जैसे Instagram, Facebook, Pinterest) का उपयोग करके

प्रभावी विपणन अभियान चलाने, प्रमुख ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म (जैसे Amazon, Flipkart, Meesho) पर अपनी दुकानें स्थापित करने, और सुरक्षित ऑनलाइन भुगतान स्वीकार करने का प्रशिक्षण शामिल है (SWAYAM, 2020, p. 37)। केरल की लता का उदाहरण, जिन्होंने कोरोना महामारी के दौरान अपने नारियल तेल के व्यवसाय को Instagram के जरिए दुनिया भर में सफलतापूर्वक पहुँचाया (Kumar, 2020, p. 155), यह दर्शाता है कि कैसे डिजिटल शिक्षा और कौशल छोटे और पारंपरिक व्यवसायों के लिए भी क्रांतिकारी बाजार पहुँच प्रदान कर सकते हैं। इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल कनेक्टिविटी में सुधार और किफायती इंटरनेट पहुँच आवश्यक है।

व्यवसाय प्रबंधन और परिचालन कौशल (Business Management & Operational Skills) : एक सफल व्यवसाय चलाने के लिए उत्पाद निर्माण से परे कई कौशल आवश्यक हैं। महिला उद्यमियों को व्यवसाय योजना बनाने, बाजार अनुसंधान करने, मानव संसाधन का प्रभावी ढंग से प्रबंधन करने, गुणवत्ता नियंत्रण सुनिश्चित करने, सूची प्रबंधन, आपूर्ति श्रृंखला को अनुकूलित करने, और कानूनी अनुपालन (जैसे GST पंजीकरण, व्यवसाय लाइसेंस) सुनिश्चित करने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। ''प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना (PMKVY ** [SWAYAM] 2020, p. 29) और "SWAYAM'' जैसे ऑनलाइन लर्निंग प्लेटफॉर्म इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं, क्योंकि वे विविध व्यावसायिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम प्रदान करते हैं जो महिलाओं को अपनी सुविधानुसार सीखने में मदद करते हैं।

नेतृत्व, बातचीत और संचार कौशल (Leadership] Negotiation & Communication Skills) : एक उद्यमी के रूप में सफल होने के लिए मजबूत नेतृत्व गुण, प्रभावी बातचीत की क्षमता और स्पष्ट संचार कौशल आवश्यक हैं। महिलाओं को मुखरता विकसित करने, प्रभावी ढंग से निर्णय लेने, सार्वजनिक रूप से बोलने, और आपूर्तिकर्ताओं, खरीदारों और निवेशकों के साथ आत्मविश्वास से बातचीत करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। ये ष्सॉफ्ट स्किल्सष् अक्सर तकनीकी कौशल जितनी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं।

उत्पाद विकास और नवाचार (Product Development & Innovation) : महिलाओं को बाजार के अंतरालों की पहचान करने, नए और अभिनव उत्पादों या सेवाओं को डिजाइन करने, और उनके उत्पादों के लिए बौद्धिक संपदा अधिकारों (जैसे ट्रेडमार्क या कॉपीराइट) के मूल सिद्धांतों को समझने में भी प्रशिक्षित किया जाना चाहिए।

कुल मिलाकर, 'शिक्षित करो' का लक्ष्य केवल जानकारी देना नहीं है, बल्कि महिलाओं में आत्मविश्वास, आत्म-सम्मान और एक उद्यमी के रूप में अपनी क्षमता में विश्वास को बढ़ाना है (National Commission for Women, 2019, p. 93)। अंबेडकर का 'शिक्षित करो' का आह्वान केवल ज्ञान प्राप्ति नहीं, बल्कि आत्म-जागरूकता और अपनी क्षमताओं पर अटूट विश्वास को बढ़ाने का एक व्यापक उद्देश्य रखता है। विभिन्न सरकारी पहलें, NGOs, और निजी क्षेत्र के प्रशिक्षण कार्यक्रम इस पहलू पर सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं, जो महिला उद्यमियों के लिए एक मजबूत कौशल आधार का निर्माण कर रहे हैं।

5. 'आंदोलित करो' का अनुप्रयोग : सामाजिक और संस्थागत बाधाओं को चुनौती देना

डॉ. अंबेडकर का 'आंदोलित करो' का सिद्धांत आज के संदर्भ में एक बहुआयामी अर्थ रखता है, जिसका तात्पर्य केवल सड़कों पर उतरकर भौतिक विरोध करना नहीं है, बल्कि उन सूक्ष्म और स्थूल सामाजिक बंदिशों तथा संस्थागत पूर्वाग्रहों को चुनौती देना है जो महिलाओं को उद्यमशीलता के मार्ग पर आगे बढ़ने से रोकती हैं (Global Entrepreneurship Monitor-GEM, 2021, p. 78)। यह एक गहन सांस्कृतिक और सामाजिक आंदोलन है जिसमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण पहलू शामिल हैं :

सामाजिक-सांस्कृतिक मानदंडों और मानसिकता को चुनौती देना (Challenging Socio-Cultural Norms & Mindsets) : भारतीय समाज में महिलाओं को अक्सर प्राथमिक रूप से ष्घर की चारदीवारी तक सीमितष् माना जाता है, और व्यवसाय, विशेषकर जोखिम भरा उद्यमशीलता, को पुरुषों का डोमेन माना जाता है (Brush et al., 2018, p. 59)। इस गहरी जड़ें जमा चुकी सोच को बदलना एक सतत सांस्कृतिक आंदोलन है। इस आंदोलन में सफल महिला उद्यमियों की कहानियों को मुख्यधारा में लाना और उन्हें शक्तिशाली रोल मॉडल के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है। किरण मजूमदार-शॉ (बायोकॉन की संस्थापक), फाल्गुनी नायर (नायका की संस्थापक) (Ministry of MSME, 2023, p. 63) जैसी प्रख्यात महिलाएँ, या ग्रामीण भारत की वे महिलाएँ जिन्होंने स्वयं सहायता समूह (SHG) आधारित सफल व्यवसाय स्थापित किए हैं, उनकी कहानियाँ समाज की मानसिकता को बदलने और उद्यमिता को महिलाओं के लिए एक व्यवहार्य तथा सम्मानित करियर विकल्प के रूप में स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। यह महिलाओं को यह विश्वास दिलाता है कि वे भी व्यवसाय में सफल हो सकती हैं, विशेषकर

जब GEM की रिपोर्ट (Global Entrepreneurship Monitor [GEM], 2021, p. 22) बताती है कि पुरुष अक्सर अवसर देखकर व्यवसाय शुरू करते हैं, जबकि महिलाएँ अक्सर आर्थिक मजबूरी में, जो इस मानसिकता का सीधा परिणाम है।

संस्थागत भेदभाव के विरुद्ध वकालत (Agitating Against Institutional Discrimination) : वित्तीय संस्थानों, सरकारी विभागों और अन्य व्यावसायिक निकायों में अक्सर लैंगिक पूर्वाग्रह (Gender Bias) मौजूद होता है। महिला उद्यमियों को पुरुषों की तुलना में ऋण प्राप्त करने में अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है, भले ही उनके पास ठोस व्यवसाय योजना हो (International Finance Corporation [IFC], 2014, p. 55)। 'आंदोलित करो' का अर्थ इन संस्थागत बाधाओं को स्पष्ट रूप से उजागर करना और नीति निर्माताओं पर दबाव डालना है कि वे लैंगिक-संवेदनशील नीतियाँ (Gender-sensitive policies) बनाएँ। राष्ट्रीय महिला आयोग (National Commission for Women, 2019, p. 115) और अन्य महिला अधिकार संगठनों को इस दिशा में सक्रिय रूप से कार्य करना चाहिए, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि महिलाएँ वित्तीय सहायता और अन्य संसाधनों तक समान पहुँच प्राप्त कर सकें। नौकरशाही बाधाएँ ('लालफीताशाही') और भ्रष्टाचार भी महिला उद्यमियों को disproportionately प्रभावित करते हैं, क्योंकि उनके पास अक्सर कम गतिशीलता या कम संपर्क होते हैं। इन मुद्दों को संबोधित करने के लिए भी आंदोलन आवश्यक है।

आत्म-सम्मान और आत्मविश्वास का आंतरिक आंदोलन (Internal Agitation of Self-Respect and Confidence) : अंबेडकर का आत्म-सम्मान का दर्शन यहाँ अत्यंत प्रासंगिक है (Ambedkar, 1936, p. 100)। महिला उद्यमियों को अक्सर समाज द्वारा थोपी गई अपेक्षाओं और रूढ़िवादिता के कारण आत्म-संदेह (Self-doubt) और आत्म-मूल्यन की कमी (Lack of Self-worth) का सामना करना पड़ता है। 'आंदोलित करो' का एक आंतरिक पहलू भी है – महिलाओं को अपनी क्षमताओं पर विश्वास करना और सामाजिक दबावों या आलोचनाओं के बावजूद अपनी उपलब्धियों का दावा करना सीखना होगा। यह एक मानसिक आंदोलन है जो उन्हें बाहरी बाधाओं के बावजूद अपने व्यवसाय को आगे बढ़ाने की शक्ति देता है।

नीतिगत वकालत और प्रभावी कार्यान्वयन (Policy Advocacy and Effective Implementation) : सरकार द्वारा महिला-उन्मुख नीतियों (जैसे स्टैंड-अप इंडिया, मुद्रा योजना) का केवल निर्माण ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनके प्रभावी और न्यायसंगत कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने के लिए 'आंदोलन' आवश्यक है। नीति निर्माताओं को महिलाओं की विशिष्ट चुनौतियों को समझना चाहिए और ऐसी नीतियाँ बनानी चाहिए जो वित्तीय पहुँच, बाजार लिंकेज और कौशल विकास को सुगम बनाएँ। उदाहरण के लिए, सरकारी खरीद में महिला-नेतृत्व वाले MSMEs को प्राथमिकता देने या उनके लिए निर्यात प्रक्रियाओं को आसान बनाने की वकालत करना इस 'आंदोलन' का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है (National Commission for Women, 2019, p. 108)।

सहायक पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण (Creating a Supportive Ecosystem) : 'आंदोलित करो' के व्यापक दायरे में एक सहायक पारिस्थितिकी तंत्र का निर्माण भी शामिल है। इसमें मेंटरशिप कार्यक्रमों को बढ़ावा देना शामिल है जहाँ अनुभवी महिला उद्यमी महत्वाकांक्षी उद्यमियों का मार्गदर्शन और प्रेरणा दे सकती हैं। पीयर सपोर्ट नेटवर्क, जहाँ महिलाएँ अपनी चुनौतियों और समाधानों को साझा कर सकती हैं, भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, जन जागरूकता अभियान जो परिवारों और समुदायों को महिला आर्थिक सशक्तिकरण के लाभों के बारे में शिक्षित करते हैं, सामाजिक मानसिकता को बदलने में सहायक होते हैं।

संक्षेप में, 'आंदोलित करो' महिला उद्यमियों के लिए एक सक्रिय और बहुआयामी संघर्ष का आह्वान है—जो सामाजिक रूढ़िवादिता को चुनौती देता है, संस्थागत पूर्वाग्रहों के खिलाफ आवाज उठाता है, और आंतरिक रूप से आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान को बढ़ावा देता है, ताकि वे अपने उद्यमिता के मार्ग पर बिना किसी बाधा के आगे बढ़ सकें।

6. 'संगठित हो' का अनुप्रयोग : सामूहिक शक्ति, नेटवर्किंग और समावेशी बाजार रणनीतियाँ

डॉ॰ अंबेडकर का 'संगठित हो' का सिद्धांत महिला उद्यमिता के लिए सबसे शक्तिशाली और परिवर्तनकारी उपकरण है। उनका यह मानना था कि अकेला पौधा तूफान में झुक जाता है, लेकिन जंगल टिका रहता है (Rodrigues, 2002, p. 133)। यह सिद्धांत व्यक्तिगत प्रयासों को सामूहिक शक्ति में बदलने और एक मजबूत, सहायक पारिस्थितिकी तंत्र बनाने पर केंद्रित है, जो महिला उद्यमियों को संसाधनों, ज्ञान और बाजार तक पहुँचने में मदद करता है।

सामूहिक शक्ति का निर्माण (Building Collective Strength) :

स्वयं सहायता समूह (SHGs) और सहकारी समितियाँ : ग्रामीण क्षेत्रों में SHGs 'संगठित हो' का एक उत्कृष्ट और प्रमाणित उदाहरण हैं (Ghani et al., 2014, p. 101)। ये

छोटे, समुदाय-आधारित समूह महिलाओं को नियमित रूप से बचत करने, आंतरिक रूप से छोटे ऋण प्रदान करने, और सामूहिक रूप से छोटे व्यवसाय शुरू करने के लिए एक मंच प्रदान करते हैं। यह मॉडल न केवल वित्तीय समावेशन को बढ़ावा देता है, बल्कि महिलाओं को वित्तीय स्वतंत्रता और सामूहिक शक्ति भी प्रदान करता है। आंध्र प्रदेश के एक SHG द्वारा मिर्ची का सफल निर्यात या दूसरे द्वारा हस्तशिल्प को ऑनलाइन बेचकर वैश्विक बाजार तक पहुँचना (Kumar, 2020, p. 145) यह दर्शाता है कि कैसे संगठन ग्रामीण महिला उद्यमियों के लिए नए क्षितिज खोल सकता है। इसी प्रकार, महिला-नेतृत्व वाली सहकारी समितियाँ, जैसे डेयरी, वस्त्र, या जैविक खेती के क्षेत्र में, सामूहिक उत्पादन, विपणन, और संसाधन प्रबंधन के माध्यम से महिला उद्यमियों को बड़े पैमाने पर सशक्त कर सकती हैं।

महिला उद्यमी नेटवर्क और संघ (Women Entrepreneur Networks & Associations) : FICCI FLO] CII इंडियन विमेन नेटवर्क और ऑल इंडिया वीमेन कॉन्फ्रेंरेंस (AIWC) जैसे राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संगठन (FICCI FLO, 2022, p. 82) महिला उद्यमियों के लिए महत्त्वपूर्ण मंच प्रदान करते हैं। ये नेटवर्क महिला उद्यमियों को एक-दूसरे से जुड़ने, अनुभव साझा करने, मेंटरशिप प्राप्त करने, सहयोगात्मक परियोजनाएँ शुरू करने और संभावित निवेशकों से मिलने का अवसर देते हैं। ये संगठन सामूहिक ज्ञान, सर्वोत्तम प्रथाओं और संसाधनों के आदान-प्रदान के केंद्र बन सकते हैं।

समावेशी बाजार पहुँच रणनीतियाँ (Inclusive Market Access Strategies) :

संगठित होने से महिला उद्यमियों को व्यापक और अधिक समावेशी बाजारों तक पहुँचने में मदद मिलती है, जो अकेले संभव नहीं होता।

डिजिटल बाजार और एग्रीगेटर (Digital Marketplaces & Aggregators) : आज के युग में, संगठन केवल भौतिक बैठकों तक सीमित नहीं है, बल्कि डिजिटल प्लेटफॉर्म पर भी विस्तारित हो गया है। ऑनलाइन समुदाय, फोरम और ई-कॉमर्स एग्रीगेटर्स महिला उद्यमियों को भौगोलिक बाधाओं को पार करते हुए एक व्यापक नेटवर्क बनाने की अनुमति देते हैं।

समर्पित महिला-केंद्रित प्लेटफॉर्म ऐसे प्लेटफॉर्म (यदि कोई हैं, या उनके निर्माण का प्रस्ताव करें) जो विशेष रूप से महिला उद्यमियों के उत्पादों और सेवाओं को बढ़ावा देते हैं।

मुख्यधारा ई-कॉमर्स एकीकरण : महिला-नेतृत्व वाले MSMEs को Amazon, Flipkart, और Meesho जैसे बड़े ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्म में एकीकृत करने की रणनीतियाँ (जैसे विशिष्ट विक्रेता कार्यक्रम, ऑनबोर्डिंग सहायता)। उत्तर प्रदेश की चंदा का उदाहरण, जिन्होंने मीशो ऐप पर अपनी हस्तकला बेचकर 300 गाँवों की महिलाओं को रोजगार प्रदान किया (O'Connell, 2021, p. 160), डिजिटल संगठन की शक्ति को दर्शाता है।

सोशल कॉमस : WhatsApp, Instagram, और Facebook जैसे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म का उपयोग करके सीधे ग्राहकों तक पहुँचना, ब्रांड जागरूकता बढ़ाना, और ग्राहक समुदायों का निर्माण करना।

आपूर्ति श्रृंखला एकीकरण और कॉर्पोरेट संबंध (Supply Chain Integration & Corporate Linkages) : संगठित महिला उद्यमी समूह बड़ी कंपनियों की आपूर्ति श्रृंखला का हिस्सा बन सकते हैं।

कॉर्पोरेट आपूर्तिकर्ता विविधता कार्यक्रम : बड़ी कंपनियाँ महिला-नेतृत्व वाले व्यवसायों से खरीद के लिए प्रतिबद्ध हो सकती हैं। टाटा स्टील द्वारा झारखंड की लोहा शिल्प महिला समूह के साथ करार (O'Connell, 2021, p. 122) यह दर्शाता है कि कैसे संगठित महिला उद्यमी बड़े व्यावसायिक अवसरों तक पहुँच प्राप्त कर सकती हैं, जिससे उनके व्यवसायों को स्थिरता मिलती है और वे औपचारिक अर्थव्यवस्था से जुड़ती हैं।

B2B बाजार : महिला-नेतृत्व वाले MSMEs और बड़े कॉर्पोरेट खरीदारों के बीच संबंधों को सुविधाजनक बनाने के लिए विशेष B2B (बिजनेस-टू-बिजनेस) बाजार प्लेटफॉर्म।

सरकारी खरीद नीतियाँ (Government Procurement Policies) : संगठित होकर, महिला उद्यमी समूह सरकारी खरीद नीतियों में प्राथमिकता और सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए सफलतापूर्वक वकालत कर सकते हैं, जिससे उन्हें सरकारी अनुबंधों तक पहुँचने में मदद मिलती है (National Commission for Women, 2019, p. 108)। इसमें महिला-नेतृत्व वाले व्यवसायों के लिए खरीद में वरीयता, और सरकारी आपूर्तिकर्ता के रूप में पंजीकरण की प्रक्रिया को सरल बनाना शामिल है।

निर्यात संवर्धन (Export Promotion) : संगठित होने से महिला-नेतृत्व वाले MSMEs को अंतर्राष्ट्रीय बाजारों तक पहुँचने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण और समर्थन मिल सकता है। इसमें निर्यात दस्तावेजों और लॉजिस्टिक्स को सरल बनाना, साथ ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मेलों और प्रदर्शनियों में सामूहिक भागीदारी को सुविधाजनक बनाना शामिल है।

इनक्यूबेटर्स और एक्सेलेरेटर (Incubators and Accelerators) : शहरी क्षेत्रों में, 'शीईओ' या अन्य महिला-

केंद्रित इन्क्यूबेटर और एक्सेलेरेटर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं (Brush et al., 2018, p. 91)। ये संगठन महिला स्टार्टअप्स को सीड फंडिंग, व्यावसायिक सलाह, कानूनी सहायता, और निवेशकों से जुड़ने के अवसर प्रदान करके एक सहायक पारिस्थितिकी तंत्र बनाते हैं जहाँ महिला उद्यमी अपने विचारों को वास्तविकता में बदल सकती हैं और तेजी से विकास कर सकती हैं। संक्षेप में, 'संगठित हो' का सिद्धांत महिला उद्यमियों को सामूहिक शक्ति, व्यापक नेटवर्किंग के अवसर और समावेशी बाजार तक पहुँच प्रदान करता है, जो उन्हें अकेले प्राप्त करना असंभव होता। यह उन्हें एक मजबूत व्यावसायिक पहचान बनाने और एक स्थायी, स्केलेबल तरीके से अपने उद्यमों को आगे बढ़ाने में सक्षम बनाता है।

7. निष्कर्ष : डॉ. अंबेडकर के दर्शन के माध्यम से एक सशक्त भविष्य का निर्माण

डॉ. भीमराव अंबेडकर का त्रिसूत्रीय दर्शन, 'शिक्षित करो, आंदोलित करो, संगठित हो' भारतीय महिला उद्यमियों के सशक्तिकरण के लिए एक शक्तिशाली, समग्र और कालातीत रोडमैप प्रदान करता है। यह लेख स्थापित करता है कि कैसे यह दर्शन MSMEs के संदर्भ में महिला उद्यमियों द्वारा सामना की जाने वाली विशिष्ट चुनौतियों विशेष रूप से कौशल विकास और समावेशी बाजार तक पहुँच के क्षेत्रों में को व्यवस्थित रूप से संबोधित करता है।

हमने देखा कि कैसे 'शिक्षित करो' का सिद्धांत केवल पारंपरिक शिक्षा से परे जाकर महिला उद्यमियों को आवश्यक वित्तीय, डिजिटल, प्रबंधकीय और नेतृत्व कौशल से लैस करता है, जिससे वे आज की प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था में सफल हो सकें। 'आंदोलित करो' का आह्वान उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों और संस्थागत पूर्वाग्रहों को चुनौती देने, अपने आत्म-सम्मान पर जोर देने और अपने अधिकारों के लिए नीतिगत स्तर पर वकालत करने की शक्ति देता है। अंततः, 'संगठित हो' का सिद्धांत महिला उद्यमियों को सामूहिक शक्ति प्रदान करता है, जिससे वे मजबूत नेटवर्क बना सकें, संसाधनों को साझा कर सकें, और समावेशी बाजारों तक पहुँच सकें, जो अकेले संभव नहीं होता।

एक महिला उद्यमी की सफलता का प्रभाव केवल उसके व्यक्तिगत व्यवसाय या परिवार तक सीमित नहीं रहता; यह एक व्यापक सामाजिक परिवर्तन को गति प्रदान करता है। एक सफल महिला उद्यमी अपने परिवार को शिक्षित करती है, अपने बच्चों को बेहतर भविष्य देती है, और समाज में सम्मान व प्रेरणा का स्रोत बनती है (Narayan, 2006, p. 133)। यह एक चक्रीय प्रक्रिया है जहाँ आर्थिक सशक्तिकरण से सामाजिक परिवर्तन आता है, और सामाजिक परिवर्तन से और अधिक सशक्तिकरण संभव होता है। यह डॉ. अंबेडकर के उस दूरदर्शी विचार को प्रतिध्वनित करता है कि महिलाओं की प्रगति ही किसी समुदाय की सच्ची प्रगति का मानदंड है (Ambedkar, 1936, p. 200]।

नीतिगत निहितार्थ और भविष्य की दिशाएँ :

डॉ. अंबेडकर के दर्शन को पूरी तरह से साकार करने के लिए, सरकार, निजी क्षेत्र, नागरिक समाज और स्वयं महिला उद्यमियों सहित सभी हितधारकों के बीच एक सहयोगात्मक और समन्वित प्रयास आवश्यक है

1. शिक्षा और कौशल विकास में सतत् निवेश : सरकार और निजी क्षेत्र को महिला-विशिष्ट कौशल विकास कार्यक्रमों में निवेश बढ़ाना चाहिए। इन कार्यक्रमों को वित्तीय साक्षरता, डिजिटल कौशल, ई-कॉमर्स संचालन, व्यवसाय प्रबंधन और नेतृत्व कौशल पर विशेष ध्यान देना चाहिए। PMKVY और SWAYAM जैसे प्लेटफॉर्म को महिला उद्यमियों की विविध आवश्यकताओं के अनुरूप और अधिक अनुकूलित किया जाना चाहिए।

2. संस्थागत और सामाजिक बाधाओं को दूर करना : बैंकों और वित्तीय संस्थानों को महिला उद्यमियों के लिए ऋण प्रक्रियाओं को सरल बनाना चाहिए और संपार्श्विक की आवश्यकताओं में लचीलापन लाना चाहिए (International Finance Corporation [IFC], 2014, p. 55)। लैंगिक पूर्वाग्रह को कम करने के लिए वित्तीय संस्थानों के कर्मचारियों को संवेदीकरण प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। सामाजिक स्तर पर, मीडिया, शिक्षा और सामुदायिक कार्यक्रमों के माध्यम से महिला उद्यमिता को बढ़ावा देने वाले रोल मॉडलों की कहानियों को व्यापक रूप से प्रचारित किया जाना चाहिए, जिससे रूढ़िवादिता को तोड़ा जा सके।

3. संगठनात्मक सहायता और नेटवर्किंग को बढ़ावा : महिला-केंद्रित स्वयं सहायता समूहों (SHGs), सहकारी समितियों, व्यावसायिक संघों (जैसे FICCI FLO) और इन्क्यूबेटरों को मजबूत करना चाहिए। सरकार को इन संगठनों को वित्तीय और तकनीकी सहायता प्रदान करनी चाहिए ताकि वे महिला उद्यमियों को नेटवर्किंग, मेंटरशिप और सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति प्रदान कर सकें। डिजिटल प्लेटफॉर्म के माध्यम से महिला उद्यमियों के लिए ऑनलाइन समुदायों और बाजारों तक पहुँच को सुगम बनाना भी महत्त्वपूर्ण है।

4. समावेशी बाजार पहुँच सुनिश्चित करना : महिला उद्यमियों के लिए बाजार तक पहुँच को बढ़ाने हेतु विशेष नीतियाँ बनाई जानी चाहिए। इसमें सरकारी खरीद में महिला-

नेतृत्व वाले MSMEs को प्राथमिकता देना, उनके लिए निर्यात प्रक्रियाओं को आसान बनाना (National Commission for Women, 2019, p. 108), और ई-कॉमर्स प्लेटफॉर्मों पर उनकी दृश्यता बढ़ाना शामिल है। ग्रामीण क्षेत्रों मंन डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर को मजबूत करना और लॉजिस्टिक्स तथा वितरण नेटवर्क तक पहुँच में सुधार करना भी आवश्यक है (NITI Aayog, 2018, p. 50]।

5. अनुसंधान और डेटा संग्रह : महिला उद्यमिता पर अधिक लिंग-विच्छेदित (gender-disaggregated) डेटा एकत्र करने की आवश्यकता है ताकि नीतिगत हस्तक्षेपों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन किया जा सके और भविष्य की रणनीतियों को सूचित किया जा सके। भविष्य के अध्ययन अंबेडकर के दर्शन को लागू करने में क्षेत्रीय विविधताओं, विशिष्ट सेक्टरों के प्रभाव, और नीतिगत हस्तक्षेपों के मात्रात्मक मूल्यांकन पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

यदि हम इन सिद्धांतों को प्रभावी ढंग से लागू कर पाते हैं, तो अंबेडकर का सपना साकार होगा न केवल एक समान और न्यायपूर्ण समाज का, बल्कि एक ऐसे भारत का जहाँ महिलाएँ न केवल अर्थव्यवस्था की धुरी बनेंगी, बल्कि सामाजिक न्याय और समानता के ध्वजवाहक भी होंगी, truly embodying Ambedkar's enduring legacy।

***PhD Scholar,**
Department of Commerce
Jai Prakash University, Chapra, Bihar
E-mail : sonirajak2717@gmail.com
****Assistant Professor,**
Shyam Lal College (Eve)
Delhi Uuniversity
E-mail : rakeshrajdu@gmail.com

सन्दर्भ सूची

- अंबेडकर, बी.आर. (1936). जाति का विनाश (Annihilation of Caste).
- ब्रश, सी., ग्रीन, पी. और हार्ट, एम. (2018). महिला उद्यमिता पर डायना प्रोजेक्ट (The Diana Project on Women Entrepreneurship).
- फील्ड, ई., जयचंद्रन, एस. और पांडे, आर. (2010). पारंपरिक संस्थाएँ और महिला उद्यमिता (Traditional Institutions and Female Entrepreneurship).
- फिक्की एफएलओ (FICCI FLO). (2022). महिला उद्यमियों का सशक्तिकरण.
- घानी, ई., केर, डब्ल्यू.आर. और ओश्कोनेल, एस. (2014). राजनीतिक आरक्षण और महिला उद्यमिता (Political Reservations and Women's Entrepreneurship).
- ग्लोबल एंटरप्रेन्योरशिप मॉनिटर (जीईएम). (2021). महिला उद्यमिता रिपोर्ट (Women's Entrepreneurship Report).
- अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम (आईएफसी). (2014). महिला-स्वामित्व वाले एसएमई : वित्त अंतर (Women-Owned SMEs: The Finance Gap).
- जैफरेलॉट, क्रिस्टोफ. (2005). डॉ. अंबेडकर और अस्पृश्यता (Dr. Ambedkar and Untouchability).
- कीर, धनंजय. (1954). डॉ. अंबेडकर : जीवन और मिशन (Dr- Ambedkar : Life and Mission).
- कुमार, रवि. (2020). ई-कॉमर्स : महिलाओं के लिए बाजार पहुँच (E-commerce: Market Access for Women).
- मेनन, सीता. (2020). डिजिटल साक्षरता और महिला उद्यमी (Digital Literacy and Women Entrepreneurs).
- एमएसएमई मंत्रालय. (2023). स्टैंड-अप इंडिया दिशानिर्देश (Stand-Up India Guidelines).
- नारायण, बद्री. (2006). महिला नायक और दलित मुखरता (Women Heroes and Dalit Assertion).
- राष्ट्रीय महिला आयोग. (2019). व्यवसाय में लैंगिक समानता (Gender Equality in Business).
- नीति आयोग. (2018). भारत में महिला उद्यमिता पर रिपोर्ट (Report on Women Entrepreneurship in India).
- ओश्कोनेल, शीला. (2021). आपूर्ति श्रृंखला एकीकरण (Supply Chain Integration).
- ओमवेट, गेल. द्ध2004ऋ. अंबेडकररू एक प्रबुद्ध भारत की ओर (Ambedkar: Towards an Enlightened India).
- रेगे, शर्मिला. (2019). मनु के पागलपन के खिलाफ
- रॉड्रिग्स, मारिया. (2002). अनुभवात्मक शिक्षा का महत्व (Importance of Experiential Learning).
- स्वयं (SWAYAM). (2020). ऑनलाइन शिक्षा रिपोर्ट (Online Education Report).

मानवीय संवेदना एवं जन-संघर्ष के कवि : सर्वेश्वर

कुणाल भारती

शोध सारांश : सर्वेश्वर 'नई कविता' दौर के महत्वपूर्ण कवियों में से एक है। उनकी कविताओं का मुख्य स्वर प्रतिरोध है। उनका यह प्रतिरोध मानवीय संवेदना एवं जन-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित होता है। उनकी कविताओं में आम आदमी की पीड़ा, दु:ख, तकलीफ, उलझन, उत्पीड़न, शोषण, दमन, वंचन, समस्या, विवशता आदि के साथ-साथ उन सभी समस्याओं से बाहर निकलने का समाधान भी नजर आता है। सर्वेश्वर अपनी कविताओं के माध्यम से सत्ता एवं व्यवस्था की छद्म नीति, नियमों एवं नीतियों को चुनौती देते हैं। एक कवि के रूप में सर्वेश्वर की कविताएँ वैचारिक बंधनों से मुक्त होकर मनुष्य की संवेदना को प्राथमिकता देती है। यही कारण है कि उनकी कविताएँ एक साथ समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद एवं धर्मवाद के छल-छद्म को नकारती है, उसका विरोध-प्रतिरोध करती है। सर्वेश्वर की कविताओं में आजादी के बाद का स्याह सच स्पष्ट नजर आता है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सर्वेश्वर की कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सांप्रदायिक यथार्थ अपनी अभिव्यक्ति में पूर्ण है। यह पूर्णता ही मानवीय संवेदना एवं उसके संघर्ष को मूल्यगत अर्थ प्रदान करता है।

बीज शब्द : संवेदना, संघर्ष, प्रतिरोध, नई कविता

संवेदना साहित्य की पहली अनिवार्य शर्त है। जहाँ साहित्य है, साथ होने का भाव है; वहां संवेदना है। परहित एवं पर-पीड़ा की भावना को संवेदना के माध्यम से ही व्यस्त किया जा सकता है। संवेदना ही वह माध्यम है जो मनुष्य के संघर्ष को सही एवं सार्थक दिशा प्रदान करता है।

सर्वेश्वर हिंदी के उन कवियों में से हैं, जिनकी कविताओं में आम जनता की संवेदना, उसका संघर्ष और मुक्ति की व्यापक आकांक्षा अभिव्यक्त हुई है। संवेदना की परिवर्तनकारी शक्ति को रेखांकित करते हुए सर्वेश्वर लिखते हैं - ''बाह्य परिस्थितियों को बदलने से ही काम नहीं चल सकता, आदमी को भीतर से ही बदलना पड़ेगा नया सवेरा आ रहा है, नयी रोशनी आवेगी, नयी जिन्दगी आवेगी, उसे कोई रोक नहीं सकता निश्चय ही। लेकिन उसका आधार इन्सानियत पर होगा, करुणा और संवेदना पर होगा।''[1] अत: जब भी कोई कवि या लेखक अपनी रचनाओं में संवेदना को व्यक्त कर रहे होते हैं, तब वह व्यक्ति के आंतरिक एवं बाह्य मन:स्थितियों को भी अभिव्यक्त रहे होते हैं। सर्वेश्वर की कविताएँ आमजन की उसी मानवीय संवेदना एवं संघर्ष की अभिव्यक्ति हैं। उनकी कविताओं में मानवीय-संवेदना एवं जन-संघर्ष के मूल्य एवं साहस सुरक्षित दिखाई पड़ते हैं। ''सर्वेश्वर का काव्य-संसार बहुत व्यापक है। इतना व्यापक संवेदन-क्षेत्र वह रचते हैं कि उनके एक कवि में अनेक कवि देखे जा सकते हैं और सभी सर्वेश्वर हैं।''[2] यही कारण है कि सर्वेश्वर जोर देकर कहते हैं कि ''मैं उस आदमी के साथ उसकी यातना में खड़ा हूँ। संवेदना के स्तर पर मैं ही वह आम आदमी हूँ जिसे लड़ाई का भी कोई रास्ता दिखाई नहीं देता है।''[3] आम आदमी अपनी संवेदना को सुरक्षित रखते हुए संघर्ष की जिन-जिन स्थितियों एवं परिस्थितियों से गुजरता है या उन्हें गुजरना पड़ता है, सर्वेश्वर उन सभी स्थितियों एवं परिस्थितियों की पड़ताल करते हैं। इस क्रम में उन्हें मानवीय संवेदना एवं जन-संघर्ष के उस दौर से भी गुजरना पड़ता है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में अभिव्यक्त मानवीय संवेदना एवं जन-संघर्ष सतही नहीं, सघन

एवं गहन महसूस होता है।

कविता का विषय एवं उसमें अंतर्निहित संवेदना को लेकर सर्वेश्वर अपने साथ-साथ, अपने समय के तमाम कवियों-लेखकों को संबोधित करते हुए कहते हैं - ''संसार का कोई भी विषय कविता का विषय है और कवि की दृष्टि इतनी व्यापक होनी चाहिए कि वह उसे उस कोण से भी देख सके जहाँ से वह संवेदना को छूता हो।''[4] और आगे वे लिखते हैं कि ''अभी तो मेरी पूँजी एक व्यापक संवेदना और ऊपरी आक्रोश है जो मेरे अन्तर की सतह को छील जाता है।''[5] इस तरह देखें तो सर्वेश्वर अपने परिवेशगत यथार्थ की सच्चाई, संघर्ष एवं चुनौतियों को स्वीकार करते हुए यथास्थितिवाद, आभिजात्यवाद एवं अधिनायकवाद के विरुद्ध एक समर्थ और सच्ची आवाज उठाते हैं। साथ ही वे अपनी कविताओं में सत्ता और व्यवस्था की मूल्यहीनता के खिलाफ सार्थक हस्तक्षेप करते नजर आते हैं। अज्ञेय द्वारा संपादित 'तीसरा सप्तक' में दिए अपने वक्तव्य में वे लिखते हैं -''जब चारों ओर लोग इस बात पर कमर बाँधे हों कि वे आप की बात नहीं समझेंगे, तब आप के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं : या तो चुप रहें अपनी बात न कहें, या फिर उसे इस ढंग से कहें कि सुनने वाले तिलमिला उठें, उनकी कलई उत्तर जाये।''[6] सर्वेश्वर ने दूसरा रास्ता अपनाया और उस दायित्व का पूरा निर्वाह भी किया। यही कारण है कि उनकी कविताओं में आम आदमी का दुख, दर्द, आशा, आस्था, आकांक्षा, उत्साह, अवसाद, असहमति और प्रेम अपनी संवेदना में पूरी सजीवता के साथ व्यक्त हुआ है। सर्वेश्वर अपने वक्तव्यों में स्पष्ट करते हैं कि संवेदना से लैस कवि की दृष्टि दुनिया के तमाम विषयों पर कविता रच सकती है। संवेदना ही केंद्रीय भाव है जो कविता में विषयों की सीमा को तोड़ता है और जटिल-से-जटिल विषयों पर लिखी कविता को सम्प्रेषणीय बनाता है। सर्वेश्वर का काव्य संसार संवेदना के धरातल पर अपनी जड़ें जमाता है और काव्य विषयों के वृहत्तर आयामों को समेटती हुई, नए रूपविधान की योजना भी करता है। विषय-वैविध्य एवं विषम रूपविधान की योजना के बावजूद भी उनकी कविताओं में सहज संप्रेषणीयता विद्यमान है। सहज संप्रेषणीयता सर्वेश्वर की कविता का खास गुण है और उस खास गुण के मूल में मौजूद है व्यापक मानवीय संवेदना।

सर्वेश्वर की पहली कविता एक गीत था : 'इस निराशा में गगन में कौन गीत सुना रहा था' जो पत्रिका 'आर्यमित्र' में छपी थी। अज्ञेय के संपर्क में आने के बाद उन्होंने 'प्रतीक' पत्रिका के लिए कविताएँ लिखीं। पेशे से वे पत्रकार थे। 'दिनमान' एवं अन्य महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं के संपादक रहे। अज्ञेय संपादित 'तीसरा सप्तक' में वे अंतिम कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। तीसरा सप्तक में परिचय एवं वक्तव्य के साथ कुल 18 कविताएँ संकलित हैं। इसी वर्ष सन् 1959 ई. में उनका पहला संग्रह 'काठ की घंटियाँ' प्रकाशित होता है। इसके साथ ही सर्वेश्वर की यह काव्य यात्रा जीवन-पर्यंत गतिशील रहा।

सर्वेश्वर आजादी एवं संविधान के लागू हो जाने के लगभग एक दशक के आसपास काव्य क्षेत्र में सक्रिय होते हैं। इस बीच आजादी का रोमानीपन धीमा होने लगा था। देश एवं समाज के सामने वास्तविक जीवन यथार्थ अभिव्यक्त होने के लिए छटपटा रहा था। सर्वेश्वर उस दायित्व को रेखांकित करते हुए, उस छटपटाहट की ओर मुखर होते है। 'मैंने कब कहा' शीर्षक कविता में अपने कवि कर्म की भूमिका को स्पष्ट करते हैं और लिखते हैं -

''मैं नया कवि हूँ-
इसी से जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है;
मैं नया कवि हूँ-
इसी से मानता हूँ
चश्मे के तले ही दृष्टि बहरी होती है,
इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ-
झूठी मुसकानें नहीं बेचता।''[7]

यहाँ कवि सत्य की ताकत और उसके परिवर्तनकारी प्रभाव को रेखांकित करते हैं। सर्वेश्वर जिस सत्य को बेपर्द करने के लिए प्रयासरत है, वह सत्य सहलाने वाला नहीं है, वह आरामदेह सत्य नहीं है; बल्कि वह सत्य विचलित करने वाला है, चोट करने वाला है। कवि खंडित, विभाजित एवं बिखरे मानवीय जीवन की जटिलताओं, समस्याओं, विद्रूपताओं, विसंगतियों एवं विडंबनाओं को समेट कर प्रतिरोध की धधकती लौ को जलाना चाहते हैं। इसलिए सत्य की यह चोट मर्म को सहलाने की बात नहीं करता, बल्कि चोट के घाव को कुरेदने की बात करता है ताकि वह दर्द आमजन के संघर्ष को अंतर्दृष्टि प्रदान कर सके। इस प्रकार सर्वेश्वर अपने कवि कर्म की जवाबदेही को स्पष्ट करते हैं। यह अंतर्दृष्टि ही जनता को विरोध एवं प्रतिरोध के मार्ग पर अग्रसर करेगा। जनता का विरोध एवं प्रतिरोध के रास्ते पर आगे बढ़ना ही कवि की मानवीय संवेदना एवं जन-संघर्ष की अभिव्यक्त का मूल उद्देश्य

रहा हैं।

सर्वेश्वर अपनी कविताओं से माध्यम से आम जनता को बोलने के लिए प्रेरित करते हैं। वे चाहते हैं कि लोग चुप न रहें। वह अपने मौलिक अधिकार के लिए लड़ें, बोलें। बोलने से अपनी जड़ता तो टूटती ही है, साथ ही परिवर्तन के रास्ते भी खुलते। अपनी कविता 'काठ की घंटियाँ' में वे लिखते हैं –

''दर्द जितना भी
फूट रहा हो, समेटकर,
मँजो,
ओ काठ की घंटियो,
मँजो।
बजो,
ओ काठ की घंटियो,
बजो।''[8]

यहाँ कवि कुंठित एवं जड़ित व्यक्ति और समाज से आह्वान करते हैं कि वे वैचारिक सजगता व प्रतिबद्धता के साथ अपने जीवन उद्देश्य की पहचान करें। संवेदना के स्तर पर अपनी निरंतरता को बचाए एवं बनाए रखें। क्योंकि संवेदना मानवता का आधार-स्तंभ है। यह कविता मनुष्य और उसके जीवन की सार्थकता को खोजने, पाने एवं उसे प्रमाणित करने की बेचैनी को बयाँ करती है। यहाँ दर्द निराशा नहीं, जिजीविषा बनकर सामने आता है। इस प्रकार सर्वेश्वर आम जनता की अंतर्वेदना के संघर्ष को संवेदना एवं शक्ति के रूप में स्थापित करते हैं।

सर्वेश्वर की कविताओं में ग्राम्य जीवन की सहजता पूरी आत्मीयता के साथ व्यक्त हुआ है। गाँव, गाँव का परिवेश, वहां की धूल, धूप, मिट्टी, सड़क, साँझ आदि कवि को खूब याद आते हैं। वे गाँव जाने वाली उस सड़क को भी याद करते हैं जिसके किनारे नीम, आम, इमली, महुआ, जामुन आदि की सुगंधियाँ वातावरण को सजीवता प्रदान करती थी। यह सजीवता उनकी कविता में पूरी संवेदना के साथ सहज ही अभिव्यक्त हुआ हैं।

''सुनो ! सुनो !
यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी
जो मेरे गाँव को जाती थी।
नीम की निबौलियाँ उछालती,
आम के टिकोरे झोरती,
महुआ, इमली और जामुन बीनती
जो तेरी इस पक्की सड़क पर घरघराती
मोटरों और ट्रकों को अँगूठा दिखाती थी''[9]

स्मृतियों का अपना रोमांच है और दुख भी। यहाँ गाँव के प्रति आस्था और शहरी अंधानुकरण के प्रति क्षोभ कवि की ग्राम्य संवेदना का परिचायक है। पक्की सड़क बन जाने से प्राकृतिक छटा जो धूमिल हुई, उसका टिस कवि को चुभता है। इस चुभन का यह कतई मतलब नहीं है कि कवि प्रगति विरोधी है। यह टिस उस संवेदना की उपज है जो उनके अंतर्मन को गति एवं शक्ति प्रदान करता था। और क्षोभ इसलिए कि अनावश्यक अंधानुकरण जीवन की स्वाभाविक-वृत्ति एवं उसकी सजहता को नष्ट किए जा रहा है। अपने परिवेश के प्रति कवि का लगाव उनकी मौलिक संवेदना की सर्जना है। स्वाभाविकता को बचाए, बनाए एवं संजोये रखने की आकांक्षा ही संवेदना है।

'कुआनो नदी' सर्वेश्वर की लंबी कविता है। यह कविता तीन चरणों में लिखा गया हैं –'कुआनो नदी', 'कुआनो नदी के पार' और 'कुआनो नदी- खतरे का निशान'। ''पहली कविता 'कुआनो नदी' में देश की गरीबी का चित्रण है। दूसरी कविता 'कुआनो नदी के पार' में देश में चारों ओर फैली हिंसा का और इस तीसरी कविता 'कुआनो नदी- खतरे का निशान' में उस उद्वेलन का जो सामाजिक परिर्वतन के लिए हिंसा का जवाब हिंसा ही देने के लिए आकुल हैं।''[10] कविता का यह क्रम क्रमशः ग्रामीण जनजीवन की त्रासद गतिविधियों, नगरीय विसंगति बोध व असंगतता एवं जन क्रांति की चेतन को व्यक्त करती है। नदी भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक चेतना की वह मंद धारा है जिसमें सब कुछ सहने पर भी विद्रोह की शक्ति नहीं आ सकी है। यहाँ नदी प्रतीक के रूप में उपस्थित है जिसमें प्रवाह तो है, लेकिन प्रतिरोध नहीं है। शोषण की स्वीकार्यता तो है, लेकिन आक्रोश एवं नकार का स्वर कुंद पड़ा है। आवेश की अग्नि तो है, लेकिन धैर्य एवं समझदारी का अभाव है। प्रतिरोध आक्रोश के आवेग को संपूर्णता में नहीं ढाल पाता है। आम आदमी का यह अपूर्ण आक्रोश उन्हें विशेष स्थिति की ओर ढकेल देता है। या यों कह लें कि उन्हें एक जड़ व्यवस्था में ढाल देता है जहाँ वे अपनी प्रतिरोधी शक्तियों को पूरी तरह न तो स्वीकार कर पाता है और न ही पूरी अस्वीकार। यह काव्य शृंखला एक तरह से आम जनता के संपूर्ण जीवन संघर्षों का संवेदनात्मक ब्योरा प्रस्तुत करता है। इस कविता में एक जगह सर्वेश्वर लिखते हैं –

''कुआनो नदी उतनी ही उथली है,

नाव उतनी ही छोटी कीचड़ में फँसी हुई,
मुर्दे उतने ही बेशुमार,
कहाँ हो, ओ क्रांति के सूत्रधार!'' [11]

दरअसल नदी का उथलापन वैचारिकता के अभाव का उथलापन है। यह कीचड़ इस देश की हजारों वर्षों की सड़ांध तथा गलित परंपरा से पैदा हुआ हैं। सहनशीलता सिखाने वाली परंपरा ने विद्रोह के नाम पर आम जनता को जकड़ रखा है। परंपरा को आधुनिक, गतिशील एवं प्रगतिशील बनाने के लिए सांस्कृतिक जकड़बंदी को खत्म करना होगा। सांस्कृतिक जकड़बंदी के शिकार लोग हैं – औरत, किसान, मजदूर, कामगार आदि के साथ-साथ आर्थिक-सामाजिक रूप से दबे-पिछड़े तबके। इन्हें जड़ रुढ़ियों के प्रति सजग करना होगा। इनके भीतर राजनीतिक चेतना का विकास करना होगा। सामाजिक-आर्थिक भागीदारी में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। यह जागरूकता ही क्रांति के सूत्रधार को जन्म देगी। इस काव्य शृंखला में सर्वेश्वर अपने बचपन से लेकर युवावस्था तक के जीवन अनुभव को समग्रता में व्यक्त किया है जो किसी भी आम व्यक्ति के जीवन की संवेदना और संघर्ष का स्वाभाविक हिस्सा बन जाता है।

सर्वेश्वर जनता के प्रति अपनी जिम्मेदारी महसूस करता है। यह जिम्मेदारी ही उन्हें कविता लिखने की प्रेरणा देता है। 'पथराव' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं –

''मैं जानता हूँ पथराव से कुछ नहीं होगा
न कविता से ही।
कुछ हो या न हो
हमें अपना होना प्रमाणित करना है।''[12]

आगे वे लिखते हैं – ''मैं यह जानता हूँ कि कविता से समाज नहीं बदला जा सकता। जिससे बदला जा सकता है वह क्षमता मुझमें नहीं है। फिर मैं क्या करूं? चुप रहूँ? उसे खुश करने का नाटक करूं, भड़ेती करूं? वह मेरे मान का नहीं। सच तो यह है कि मैं कविता लिखकर केवल अपना होना प्रमाणित करता हूँ। मैं यह मानता हूँ कि हम जिस समाज में हैं, जिस दुनिया में हैं वहां हमें अपना होना प्रमाणित करना है।''[13] इस तरह देखा जाय तो कविता अपनी संवेदना एवं संघर्ष को प्रमाणित करने का एक विशिष्ट माध्यम है। कवि इस माध्यम के उपयोग पर ज्यादा-से-ज्यादा बल देते हैं, ताकि वे आम जनता को शोषण के विरुद्ध सक्रिय कर सकें।

सर्वेश्वर की चिंता के केंद्र में आम आदमी है जो शोषित, पीड़ित, दमित, वंचित एवं उपेक्षित है। यह आम जन असंगठित है। सत्ता-व्यवस्था इनकी विभाजित शक्ति का लाभ उठाते हैं। वे इन्हें आपस में बाँटकर अपने शोषण तंत्र का हिस्सा बनाए रखना चाहते हैं। सत्ता और व्यवस्था द्वारा निर्मित तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच कवि सामूहिकता की मशाल जलाते हैं। यह मशाल मुक्ति पथ का अग्रगामी है। वैचारिक सजगता, सूझ-बुझ, समझदारी, साहस और प्रतिरोध की लौ का समुच्चय है। आम जन जो कि खेतिहर, कामगार, मजदूर, किसान, छात्र है। जिसकी ताकत आग है। कवि जनता को उस आग से परिचित करवाते हैं। कवि यह जानते हैं कि आवाम की एकजुटता ही उन्हें तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों, वर्चस्वशाली शक्तियों और जंगल के आदमखोर भेड़ियों से लड़ने की ताकत देगा। वे 'भेड़िया-2' शीर्षक कविता में आवाम से एकजुट होकर संघर्ष करने की अपील करते हैं। इस कविता में वे लिखते हैं –

''भेड़िया गुर्राता है
तुम मशाल जलाओ।
उस में और तुम में
यही बुनियादी फर्क है।
भेड़िया मशाल नहीं जला सकता।''[14]

भेड़िया यहाँ जनविरोधी सत्ता का प्रतीक है। जब-जब समाज और राजनीति में भेड़ियावाद की प्रवृत्ति बढ़ी हैं, तब-तब उससे लड़ने के लिए एकता और सहास की जरूरत महसूस की गयी है। इसलिए कवि अपनी कविता में आदमी और जानवर के बीच के बुनियादी फर्क को स्पष्ट करते हैं। और जनता से कहते हैं कि भेड़िया मशाल नहीं जला सकता है। वह एकजुट नहीं हो सकता है जबकि आम आदमी आदमखोर-निर्मम सत्ता से लड़ने के लिए एकजुट हो सकता है। जनशक्ति जब समूहशक्ति में तब्दील होकर, करोड़ों हाथों में मशाल लेकर एक-एक झाड़ी की ओर बढ़ेंगे तब सारे-के-सारे भेड़िये भाग खड़े होंगे। वे आपस में ही गुर्राएंगे और एक दूसरे को चीथ खाएंगे। यह सब तभी संभव है जब आम आदमी का संघर्ष और संवेदना एक हो। इसके लिए जरूरी है कि आम जनता अपने भीतर से दुम हिलाने की प्रवृत्ति को नष्ट करे। साथ ही टुकड़खोरी के सारे रास्ते बंद करे। सर्वेश्वर आमजन से कुत्ता-धर्म छोड़ने की अपील करते हुए कहते हैं –

''कुत्ता
आदत से टुकड़खोर है
तुम्हें टुकड़खोरी के रास्ते

बंद करने होंगे।''[15]

यह बेहद जरूरी है कि जनता के भीतर से उस भाव को खत्म किया जाए जहाँ वह सत्ता के द्वारा पुचकारे जाते ही आदतन दुम हिलाने लगते हैं। यह भाव तभी खत्म होगा जब वह अपने लोभवृत्ति का त्याग करेंगे। जिस दिन वह अपनी लोभवृत्ति को छोड़ देंगे, उस दिन वह सत्ता-व्यवस्था की किसी भी ताकत का सामना करने में सक्षम हो जाएगा, क्योंकि एक आम आदमी पैरों से रौंदी हुई उस धूल के समान है जिन्हें कोई खत्म नहीं कर सकता; बशर्ते की वह एक बार अपना रास्ता पहचान ले। अपनी शक्ति जान ले। संघर्ष के दौर से निकलने का ठान ले। 'धूल' शीर्षक कविता में सर्वेश्वर लिखते हैं -

''तुम धूल हो-
पैरों से रौंदी हुई धूल।
बेचैन हवा के साथ उठो,
आँधी बन
उनकी आँखों में पड़ो
जिनके पैरों के नीचे हो।''[16]

यहाँ कवि जनसमूह की शक्ति को दिशा-निर्देशित करते हैं। उन्हें अन्याय की लड़ाई में एकजुट होकर प्रतिरोध करने की सलाह देते हैं। कवि का मानना है कि स्थिति आसानी से बदली जा सकती है, केवल थोड़ी-सी हरकत जरूरी है। यह थोड़ी सी हरकत है आम आदमी की सामूहिकता, उनकी एकजुटता, उनका साहस, उनका संघर्ष; बोलने, सोचने, संदेह एवं सवाल करने का उनका हुनर और प्रतिरोध। जनसमूह की यह दिशा किसी भी प्रतिगामी शक्ति को बदलने में सक्षम है।

'काला तेंदुआ' शीर्षक कविता के माध्यम से सर्वेश्वर सत्ता के हिंसक एवं आदमखोर वृत्ति को उजागर करते हैं। सत्ता-व्यवस्था हमेशा जन-प्रतिरोध को खंडित करने की कोशिश करता है। इस प्रक्रिया में वे अमानवीयता की सारी हदों को पार करते हुए हिंसात्मक रुख अपना लेते हैं। समकालीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में भी इन पाशविक वृत्तियों का निर्मम रूप देखने को मिलता है। सर्वेश्वर लिखते हैं -

''चट्टानों पर झिंझोड़ रहा है
अपना शिकार
काला तेंदुआ
चट्टानें, चट्टानें नहीं रहीं
तेंदुओं में बदल गई हैं।
एक तेंदुआ
सारे जंगल को
काले तेंदुए में बदल रहा है।''[17]

यह काला तेंदुआ उसी आदमखोर भेड़िया की भाँति अपना वंश वृद्धि करता है और पूरे जंगल को अपने रंग में ढालने की कोशिश करता है। एक तेंदुआ, वह एक व्यक्ति हो सकता है जो पाशविक वृत्ति से संपोषित है। वह एक व्यक्ति सारे समाज और सामाजिक को जंगल और काला तेंदुआ में बदलने को हमेशा आतुर रहता है। राजनीति में व्यक्ति पूजा की परंपरा सत्ता का जनता के विरुद्ध षड्यंत्र है जो पूरी व्यवस्था को अपने जैसा बना रही है। समाज में आए-दिन घटने वाली जातीय हिंसा, धार्मिक उन्माद आदि इससे इतर नहीं है। सर्वेश्वर जनता को सत्ता-व्यवस्था की मनुष्य विरोधी पाखंडों से बचने की सलाह देते हैं।

सर्वेश्वर अपनी कविताओं में पथप्रदर्शक, प्रेरक, अपीलकर्ता, संबोधनकर्ता आदि भूमिका का भी निर्वाह करते नजर आते हैं। उनकी काव्य संवेदना के केंद्र में आम जनता की संवेदना, संघर्ष एवं प्रतिरोध है। इसलिए वे उक्त सभी भूमिका का निर्वाह करते हुए जनता में जागृति लाने की कोशिश करते हैं। वे जनता में राजनीति चेतना का विकास करना चाहते हैं। वे उन्हें क्रांतिकारी के रुप में देखना चाहते हैं। 'फसल' सीर्षक कविता में वे लिखते हैं -

''हम तो जमीन ही तैयार कर पायेंगे
क्रान्तिबीज बोने कुछ बिरले ही आयेंगे।
हरा-भरा वही करेंगे मेरे श्रम को
सिलसिला मिलेगा आगे मेरे क्रम को ।''[18]

कवि का जनता पर विश्वास ही उनकी कविता की आधार-भूमि है। सर्वेश्वर अपनी कविताओं के माध्यम से यह काम बखूबी करते हैं। उनकी हमेशा कोशिश रही है आम जनता की बंजर चेतना को सजग, सतर्क एवं सक्रिय बनाने की। विचारशून्य जनता के भीतर वैचारिक सजगता का बोध पैदा करना कवि की प्राथमिकता रही है। यही वजह है कि उन्हें जब जहाँ मौका मिलता है, अपनी कविता में जन-संवाद को व्यक्त करते हैं।

इस अभिजात्यवादी शासन व्यवस्था में आम जनता की स्थिति सबसे ज्यादा दयनीय है। उसका कोई निश्चित स्थान निर्धारित नहीं है। सत्ता उसका शोषण-दमन अपने अवसर के हिसाब करता है। ये जो आम लोग है, ये वही लोग है जो राजनीतिक दलों के प्रत्येक मूवमेंट को तैयार करता है। या यों कहें कि राजनीतिक दलों का हर आंदोलन उसी से बनता है।

प्रत्येक मोर्चों पर वह आगे खड़ा होता हैं, लेकिन जब अवसर लुटने की बारी आती है तो वह पीछे हो जाता है, उसे पीछे कर दिया जाता है। लेकिन जब गोली चलती है, पुलिसिया बल प्रयोग होता है, तब उसे मरने के लिए आगे कर दिया जाता है। सर्वेश्वर 'पिछड़ा आदमी' कविता में कहते हैं –

''जब सब बोलते थे
वह चुप रहता था,
जब सब चलते थे
वह पीछे हो जाता था,
जब सब खाने पर टूटते थे
वह अलग बैठा टूँगता रहता था,
जब सब निढाल हो सोते थे
वह शून्य में टकटकी लगाये रहता था,
लेकिन जब गोली चली
तब सबसे पहले वही मारा गया।''[19]

सर्वेश्वर आम आदमी के संघर्ष और लाचारी को एक साथ रेखांकित करते हुए, सत्ता की अवसरवादी चरित्र को बेपर्द करते हैं। सत्ता का जनसमुदाय की भावनाओं के साथ कोई सरोकार नहीं है। यह कविता उस भीड़ को संबोधित है जो बिना किसी सवाल, संदेह या सरोकार के राजनीतिक दलों या वर्चस्ववादी शक्तियों से जुड़ जाता है और बेमौत मारा जाता है। कवि चाहते हैं कि आम जनता बेवजह भीड़ का हिस्सा न बनें और अगर बने भी तो अपने उद्देश्य की पहचान के साथ, उसके औचित्य को समझ-बूझकर और अपने अस्तित्व की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए।

एक कहावत है 'भूखा आदमी क्या न करता'। हमारी सत्ता एवं उसकी नियामक व्यवस्था ने भूख को इतना व्यापक बना दिया कि आम आदमी सही-गलत का फर्क ही नहीं कर पा रहा है। यही वजह है कि समाजवादी, साम्यवादी, संप्रदायवादी, पूँजीवादी आदि के झांसों में आकर आम आदमी भूख से लगातार मारे जा रहे है। 'पोस्टमार्टम की रिपोर्ट' शीर्षक कविता में सर्वेश्वर यह स्थापित करते हैं कि भूखे आदमी को किसी दर्शन की जरूरत नहीं होता हैं, न ही वह किसी वैचारिक आधार के सहारे जिन्दा रह सकता है। इस कविता में वे लिखते हैं-

''गोली खाकर
एक के मुँह से निकला-
'राम'।
दूसरे के मुँह से निकला-
'माओ'।
लेकिन
तीसरे के मुँह से निकला-
'आलू'।
पोस्टमार्टम की रिपोर्ट है
कि पहले दो के पेट
भरे हुए थे।''[20]

यह तीसरा व्यक्ति आम जनता है। जिसकी पहली जरूरत रोटी है। प्रतिरोध के लिए रोटी का होना अनिवार्य है और इन्हें रोटी के लिए प्रतिरोध करना है। लेकिन उसके जीवन की त्रासदी यह है कि वह भूखे पेट संघर्ष नहीं कर सकता। और जहाँ वह भूख के लिए संघर्ष करता है, भूखे पेट मारा जाता है। साधनहीनता संघर्ष की परिणति हो सकता है, लेकिन भूख की नहीं। सर्वेश्वर जनता के संघर्ष, उसकी विवशता एवं लाचारी को निर्देक्षित करते हुए लिखते हैं –

''ज्यादा सोचना भय को निमन्त्रण देना है
और धीरे चलना अवसर चूक जाना।
मैं जानता हूँ तुम्हारे हाथों में
अभी कोई झण्डा नहीं है,
भूखे और असहाय आदमी को
किसी झण्डे की जरूरत भी नहीं होती।''[21]

अन्याय की लड़ाई में किसी का साथ नहीं छोड़ा जा सकता है; चाहे वह आदमी हो या एक मुल्क। सर्वेश्वर की यह चिंता उन्हें देशकाल से जोड़ती हैं। वे जनता के भीतर राजनीति बोध पैदा करते हैं। उन्हें वादमुक्त होकर, एकजुट होकर प्रतिरोध करने की सलाह देते हैं। वे लिखते हैं –

''मैं हिसाब लगा रहा था
देश में कितनी दियासलाइयाँ होंगी
अगर सबकी सारी की सारी तीलियाँ
एक साथ जल उठें
तो कितनी रोशनी होगी?''[22]

इससे बड़ा खतरनाक आदमी और कौन हो सकता है, जो सब को एक कर इतनी 'रोशनी' की कल्पना करे। सर्वेश्वर संगठन-शक्ति के प्रभाव से परिचित है। वे जानते हैं कि अँधेरे में संघर्षरत लहरें ही नहीं चमकतीं, निराशा से लड़ता आदमी भी रोशनी देता है। कवि का यह विश्वास हैं कि किसी एक भी चेतना में जब रंगों की बरसात शुरू होती है, तो एक दरिया – जैसे बह निकलता है। इस बहाव में इन्सान की नियति की

अनंत संभावनाएँ मौजूद होती है।

सर्वेश्वर की कविता वैचारिक यांत्रिकता के बंधन से मुक्त है। उनकी प्रतिबद्धता कोई खास पार्टी या विचारधारा नहीं हैं। वे उन सभी विचारधाराओं का खंडन करते हैं जो जनता के हाथों में रोटी के बदले बंदूक थमाती हैं। कवि ऐसी व्यवस्था एवं विचारधारा का विरोध करते हुए लिखते हैं –

''साम्यवाद या पूँजीवाद
मैं दोनों पर थूकता हूँ
और पूछता हूँ
जिसके पैर में तुम जूते नहीं दे सकते
उसके हाथ में तुम्हें
बन्दूक देने का क्या अधिकार है?''[23]

सर्वेश्वर की नजर में ऐसी विचारधारा जहाँ छद्म हो, वह केवल इंसानियत को सड़ाने-दफनाने का काम करती हैं। आम जनता के दिलो-दिमाग को भोथरा कर उसे जंगली घास और बदहवास कंटीला झाड़ में बदल देना चाहता है। सर्वेश्वर जनता को ऐसे लोगों एवं ऐसी विचारधाराओं से सावधान रहने की सलाह देते हैं। उनकी नजर में ये लकड़बग्घे से मिले हुए झूठे लोग हैं। ये चाहते है कि तुम शोर न मचाओ। न ही लाठी एवं लालटेन लेकर उस आहट और खुनकती हँसी का राज समझ बाहर निकल आओ। सर्वेश्वर जनता को बिना किसी बहकावे में आए सत्ता की चालाकियों के विरुद्ध प्रतिरोध करने के लिए कहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि कुछ लोग या वर्ग सभी जगह मौजूद है जो सत्ता से जुड़े हुए है और ऐसे लोग सत्ता के खिलाफ जनता के विरोध-प्रतिरोध को कमजोर करने का काम करते हैं। 'कभी मत करो माफ' शीर्षक कविता इस धारणा की स्थापना है कि 'आदमी की जान से बड़ा, इस दुनिया में कुछ भी नहीं है।' सर्वेश्वर लिखते हैं –

''इस दुनिया में
आदमी की जान से बड़ा
कुछ भी नहीं है
न ईश्वर
न ज्ञान
न चुनाव
न संविधान''[24]

ईश्वर, ज्ञान, चुनाव, संविधान ये सभी कुछ मनुष्य के जीवन और मानवता को बेहतर बनाने का साधन एवं माध्यम है। लेकिन जब इन्हीं के नामों पर इंसानियत का गला घोंटा जा रहा हो तो 'आदमी की जान' सबसे बड़ा हो जाता है। क्योंकि एक आदमी का गोलियों से चिथड़ा तन, एक बच्चे की हत्या और एक औरत की मौत किसी शासन का नहीं, बल्कि संपूर्ण राष्ट्र के पतन को रेखांकित करता है। कवि ऐसे विवेक को खारिज करते हैं जो लाशों के ढेर पर खड़ा होता है। वे उस शासन व्यवस्था को हत्यारों का धंधा मानते हैं जिसे सत्ता बंदूक की नली से चलना चाहती है। इसलिए कवि 'हत्यारे को कभी नहीं माफ' करने का जोरदार वकालत करते हैं। वे लिखते हैं कि–

''आखिरी बात
बिलकुल साफ
किसी हत्यारे को
कभी मत करो माफ
चाहे हो वह तुम्हारा यार
धर्म का ठेकेदार,
चाहे लोकतंत्र का
स्वनामधन्य पहरेदार।''[25]

कवि की दृष्टि में हत्यारा, केवल हत्यारा होता है। वह किसी का हिमायती नहीं होता है; न व्यक्ति का, न धर्म का, न राष्ट्र का, न संविधान का और न ही लोकतंत्र का। इसलिए यह सजगता जरूरी है कि आमजन हत्यारों की चालाकियों को समझें और उसका विरोध एवं प्रतिरोध करें।

समग्रता में देखें तो सर्वेश्वर की कविताओं में व्यक्त मानवीय संवेदना आमजन के संघर्ष का ही प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रतिनिधित्व जनता के उस प्रतिरोध की भी अभिव्यक्ति हैं जहाँ आम जनता अपने हक एवं अधिकारों के प्रति प्रतिबद्ध दिखाई देते हैं या फिर उस ओर उन्मुख होने की कोशिश कर रहा होता है। सर्वेश्वर अपनी कविताओं के माध्यम से आमजन की संवेदनाओं और उनके संघर्षों को दिशा-निर्देशित करते हैं। वे अपनी कविता में आम जन के साथ संवाद स्थापित करते हैं। वे उन्हें संबोधित करते हैं, सलाह देते हैं, उनके भीतर साहस भरते है; साथ ही उन्हें सत्ता एवं व्यवस्था की मनुष्य विरोधी, स्वार्थपूर्ण, अवसरवादी, मूल्यहीन चरित्र की चालाकियों को समझने एवं उसके प्रति सतर्क होने की दृष्टि प्रदान करते हैं। अत: सर्वेश्वर की कविताएँ सच्चे अर्थों में मानवीय संवेदना एवं जन-संघर्ष की प्रतिनिधि कविता है।

सीनियर रिसर्च फेलो
हिन्दी विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

सन्दर्भ सूची

1. जैन, वीरेंद्र, संपा. 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली : खण्ड तीन', नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, संस्करण :2004, पृष्ठ 425
2. सक्सेना, सर्वेश्वरदयाल, 'खूँटियों पर टँगे लोग', नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, सातवाँ संस्करण : 2022, ब्लर्व
3. जैन, वीरेन्द्र, संपा०. 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली2', नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, संस्करण : 2004, पृष्ठ 6
4. अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, संपा. 'तीसरा सप्तक', नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, बारहवाँ संस्करण : 2020, पृष्ठ 213
5. वही, पृष्ठ 214
6. वही, पृष्ठ 107
7. वही, पृष्ठ 222
8. जैन, वीरेंद्र, संपा. 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली : खण्ड एक', नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, संस्करण : 2004, पृष्ठ 154
9. वही, पृष्ठ 195
10. वही, पृष्ठ 5
11. जैन, वीरेंद्र, संपा. 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली : खण्ड दो', नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, संस्करण : 2004, पृष्ठ 28
12. वही, पृष्ठ 79
13. वही, पृष्ठ 6
14. वही, पृष्ठ 101
15. वही, पृष्ठ 113
16. वही, पृष्ठ 107
17. वही, पृष्ठ 124
18. वही, पृष्ठ 180
19. वही, पृष्ठ 198
20. वही, पृष्ठ 199
21. वही, पृष्ठ 201
22. वही, पृष्ठ 227
23. वही, पृष्ठ 285
24. वही, पृष्ठ 372
25. वही, पृष्ठ 374

जातिवाद और हिंदी सिनेमा

डॉ. चित्तरंजन कुमार

शोध सार :

आज के युग में जाति सबसे महत्वपूर्ण तत्व के रूप में उभरा है जो कि आज की राजनीतिक व्यवस्था को सबसे अधिक प्रभावित किया है। छुआछूत, जातिगत भेदभाव, बंधुआ मजदूरी इत्यादि इसी जाति व्यवस्था की देन है। 1990 में पिछड़ी जातियों को नौकारियों में आरक्षण मिलने और 1991 के आर्थिक सुधारों के बाद लोगों के पास पैसा आने लगा और सत्ता विशेषधिकार वर्ग से दलित और पिछड़ों के हाथों में आने लगा। इस लेख में फिल्म 'अंकुर', 'दामूल', 'मृत्युदंड', 'बैंडिट क्वीन', 'समर' और 'शूद्रा : द राईजिंग' जैसे फिल्मों के माध्यम से सिनेमा में जातिवाद के तत्वों को पहचानने की कोशिश की गयी है।

बीज शब्द :

जातिवाद, छुआछूत, राजनीतिक व्यवस्था, मण्डल कमीशन, पिछड़ा वर्ग, आरक्षण, अमानवीयता, असमानता, समाज, निचली जातियां।

मूल लेख :

बॉलीवुड सिनेमा के अब तक के इतिहास को देखने के लिए सॉबलटर्न दृष्टिकोण की जरूरत है। बॉलीवुड में आजादी के पहले का दशक बहुत हद तक आधुनिकता और समाजवादी चरित्र की रूपरेखा प्रस्तुत करती थी। ध्वनि और उच्च वर्गों के लोग गरीबों के प्रति और संवेदनशील रहे। अपने लक्षण में आत्मकेंद्रित रहे, लालची और जानवरों की तरह हिंसक भी थे। गरीब मशहूर मशहूरशहरी गरीब और गांव के आम लोग संवेदनशील और आदर्श के लिए खड़े होते दिखते हैं। राज कपूर 'आवारा' (1951) में एक साधारण और विनम्र शहरी गरीब दिखते हैं, वहीं देवानंद 'काला बाजार' (1960) में एक बेरोजगार और अच्छे युवक के रूप में दिखते हैं। दिलीप कुमार 'नया दौर' (1957) एक देसी नवयुवक है जो बुनियादी चीजों के लिए संघर्ष करता दिखता है। ये सभी फिल्में आम लोगों के लिए प्रेरणादायी प्रतीक के रूप में उभरी। जाति पर आधारित फिल्म 'गंगा जमुना' (1961) और 'सुजाता' (1959) में जातिवाद फिल्म के कथ्य के रूप में उभरी। इसके अलावा आम आदमी सिर्फ एक ऑब्जेक्ट के रूप में ही दिखाई देते हैं।

मशहूर फिल्मकार प्रकाश झा का कहना है कि "बिना संघर्ष के कोई कहानी नहीं बनती है।" (15 फरवरी 2024, टाइम्स आफ इंडिया, इंडिया टाइम्स.कॉम।) प्रकाश झा का कहना है कि लोग सोचते हैं कि मैं क्रांतिकारी फिल्में बनाता हूं लेकिन मैं ऐसा नहीं सोचता। मैं तो सिर्फ उसे कहानी को कहता हूं जो एक खास समय में विकसित होती है या अस्तित्व में आती है। अपनी पहली फिल्म 'दामुल' के बारे में वह कहते हैं कि 'दामुल' मेरी पहली फिल्म थी और जिन चीजों को मैं बचपन में देखा था उन्हें अपनी फिल्में फिल्माया है। आप कल्पना कर सकते हैं कि मैं इन चीजों को देखकर कितना दुखी हुआ होगा। इस फिल्म में मैंने छुआछूत, जाति भेद, बंधुआ मजदूरी तथा उन विकृतियों को दिखाया है। मेरे दादा ने दलितों को अपनी जमीन पर बसाया था जिसे हम लोग चमटोली कहा करते थे। उन दलितों को ब्राह्मणों द्वारा संरक्षित कुएँ से पानी तक पीने का अधिकार नहीं था और अगर गलती से कोई दलित कुएँ पर चढ़ जाता था तो लोग आज से इसका शुद्धिकरण कराकर ही इससे पानी भरते थे।

आज हम जिस समाज में जी रहे हैं उसकी पहचान किस रूप में करते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम दुनिया को किस नजरिए से देखते हैं। आज के युग में जाति एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में उभरा है जो कि आज की राजनीतिक व्यवस्था को सबसे अधिक प्रभावित किया है। अनेकों फिल्में ऐसी बनी हैं जिसमें जातीय संघर्ष दिखाई देता है। इन फिल्मों में 'अंकुर' (1974), 'दामुल' (1985), 'मृत्युदंड' (1997) 'बैंडिट क्वीन' (1996), 'समर' (1999) और 'शूद्रा : द राइजिंग' (2012) शामिल है।[1]

1990 के मंडल आंदोलन ने भारत में सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को बहुत हद तक बदल दिया है ।1990 में बीपी सिंह ने मंडल कमीशन के सिफारिश को लागू किया जिसके आधार पर अति पिछड़े वर्गों को नौकरियां और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण का लाभ मिला जिसका राजनीति में आमूल चूल परिवर्तन देखने को मिलता है। प्रकाश झा कहते हैं मंडल आंदोलन के बाद अति पिछड़ा वर्ग राजनीति में सट्टा पाई और 1991 में ही आर्थिक सुधारों के बाद लोगों के पास पैसा आने लगा और सत्ता विशेष अधिकार वर्ग से दलित और पिछड़ों के हाथों में आने लगा। इसने क्या-क्या नहीं परिवर्तन किया और यही परिवर्तन मैंने अपनी फिल्म 'मृत्युदंड' में दिखाया है। एक समय में एक बच्चा अपने आप के बारे में कहता है कि - 'मेरा बाप जमींदार है'' और वह इस पर गर्व करता है, लेकिन अगली पीढ़ी को यह कहते सुना गया है कि- ''मेरा बाप ठेकेदार है।'' इस प्रकार संतुलन जमींदार से ठेकेदार पर शिफ्ट कर गया।[2]

1. 'अंकुर' (1974) - यह श्याम बेनेगल की फिल्म है तथा मशहूर अभिनेत्री शबाना आजमी और अनंतनाग की भी पहली फिल्म है। यह हैदराबाद की घटना पर आधारित है। यह फिल्म दलित चेतना पर आधारित है। लक्ष्मी (शबाना आजमी) एक गांव में अपने पति किस्तय्या (साधु मेंहर) जो एक बहरा, गूंगा और शराबी है के साथ रहती है। फिल्म की शुरुआत गांव के त्यौहार में प्रार्थना के समय लक्ष्मी संतान के लिए प्रार्थना करती है। सूर्या अनंतनाग गांव के जमींदार का बेटा है जिसने अभी-अभी हैदराबाद से अपनी पढ़ाई करके लौटा है। सूर्या का पिता (खादर अली बेग) के पास कौशल्या नाम की महिला है जिसे वह गांव की सबसे अच्छी जमीन देने का वादा करता है। उसे एक अवैध संतान भी है जिसका नाम प्रताप है। जमींदार अपने विद्या पुत्र को बाल विवाह के लिए बाध्य करता है। सूर्या सारू (प्रिया तालुकदार) के जवान होने का इंतजार करता है साथ ही वह शारीरिक सुख को लेकर बेचैनी भी महसूस करने लगता है। उसे गांव का पुराना घर रहने के लिए दिया जाता है जहां, लक्ष्मी और उसके पति किस्तय्या को उनके नौकर के रूप में सेवा करने को रखा जाता है।

सूर्या को लक्ष्मी आकर्षक लगने लगती है। लक्ष्मी सूर्य के लिए खाना बनाती है जो इस गांव के साधु को अच्छा नहीं लगता है। एक दिन किस्तय्या बैलगाड़ी से कुछ सामान की खरीदारी करने गया। अगले दिन किस्तय्या की अनुपस्थिति में लक्ष्मी को फांसना चाह रहा था। इस बात को लेकर पूरे गांव में अफवाहों का बाजार गर्म हो गया। एक दिन किस्तय्या शराब की चोरी करते हुए पकड़ा गया, जिससे उसे काफी शर्मिंदगी महसूस हुई। उसके बाद उसने वह गांव छोड़ दिया। उसकी अनुपस्थिति में सूर्या और लक्ष्मी एक साथ सोए। कुछ दिनों के बाद सारू गांव आ गई। सारू लक्ष्मी की उपस्थिति को उचित नहीं मानती थी जिसका कारण एक तो लक्ष्मी का दलित होना था और दूसरा कि वह गांव वालों के अफवाह से भी वाकिफ थी।

काफी दिनों बाद किस्तय्या गांव वापस लौटा। वह शराब की लत से मुक्त हो गया था और साथ ही कुछ पैसे भी बना लिए थे। लक्ष्मी खुश थी लेकिन एक अपराधबोध उसके मन में था, क्योंकि उसने अपने पति को धोखा दिया था। अपने गर्भवती होने के बाद वह गांव की देवी को आभार प्रकट किया। किस्तय्या सूर्या से बदला लेने की आग में झुलस रहा था। एक दिन सूर्या और उसके तीन आदमी किस्तय्या को जानवरों को बांधने वाली रस्सी से बांधकर निर्दयी तरीके से पिटवाना शुरू किया। यह देखकर लक्ष्मी दौड़ी हुई आई और अपने पति की रक्षा की। वह सूर्य को श्राप देने लगी और अपने पति के साथ घर लौट आई। फिल्म के अंतिम दृश्य में एक बच्चा सूर्य के घर के शीशे की खिड़की पर पत्थर मारता हुआ दिखाई देता है। यही दलितों में जमींदारों के प्रति आक्रोश का अंकुर है।

यह फिल्म भारत की गांधी जाति व्यवस्था के प्रति एक दृष्टिकोण प्रदान करती है। गांव वाले लक्ष्मी को सूर्या के नौकर के रूप में देखते हैं। दलित होने के बावजूद वह सूर्या के लिए खाना पकाती है, जो परंपरा का निषेध करती है। इसलिए जब सूर्या लक्ष्मी को खाना पकाने के लिए कहता है तो गांव

वाले इसे सही नहीं मानते। जब सारु सूर्या के घर आती है तो वह उन हर चीजों को नहीं छूती है जिसे लक्ष्मी ने छुआ है।

2. बैंडिट क्वीन – एक लीजेंड, एक मीथ, एक डाकू फूलन देवी अपने आप में सब कुछ है। राख से निकलकर फूलन देवी के प्रतीक के रूप में उभरी जिसे सरकार के नाक में दम कर दिया था। वह हमें यह सोचने पर मजबूर कर देती है कि कहीं वह काली का अवतार तो नहीं है। फूलन की जिंदगी निचली जातियों पर होने वाली का संवेदनशील उदाहरण है।[3]

उच्च जाति के ठाकुरों द्वारा किए गए अमानवीय शोषण जिसका, सामना उसने अल्पायु में ही किया। इसी के फलस्वरूप वह एक दस्यू सुंदरी बनी। उसने अपना न्याय खुद किया और अपने नियति खुद बनाई जैसा, पहले किसी भी दलित महिला ने नहीं किया।

फूलन देवी की कहानी विभिन्न तरीके से दस्तावेज के रूप ग्रहण किया है। उनकी शेखर कपूर की 'बैंडिट क्वीन' इसमें सबसे नवीनतम है। यह फिल्म माला सेन की फूलन देवी की जीवनी जो इसी नाम से है, पर आधारित है। यह फिल्म एक औरत से हो रही बलात्कार की सीक्वल है जो ठाकुरों की अमन भी है हरकतों का बयां करती है। फूलन की शादी 11 वर्ष की उम्र में ही 33 साल के पुरुष से एक साइकिल और एक गाय के बदले में कर दी जाती है। इस प्रकार फूलन की कभी ना खत्म होने वाली शोषण जहां एक ओर वह अपने पति की कामुकता की वजह से अपने पिता के पास जाने को मजबूर होती है। इसके बाद वह खेतों में मजदूर के रूप में काम करने लगती है। वहा गांव के मुखिया का बेटा उसके साथ जबरदस्ती करना चाहता है जिससे वह इनकार कर देती है। लेकिन गांव में कोई भी उसकी बातों पर विश्वास नहीं करता है और उसे गांव से निकाल दिया जाता है। जब वह वापस आती है तो पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर ली जाती है और फिर पुलिस द्वारा उसका बलात्कार किया जाता है। यह गंदी चीजें तब तक उसके साथ चलती रहती हैं जब तक वह विक्रम मल्लाह (निर्मल पांडे) जो एक दुर्दांत डाकू है की प्रेमिका ना बन जाती है। मल्लाह अपना गैंग खुद बनाता है और फूलन जल्द ही दस्यू की दुनिया में प्रवेश करती है। जब मल्लाह मारा जाता है तो फिर फूलन उच्च जाति के ठाकुरों के द्वारा बलात्कार का विषय बन जाती है।

फिल्म का आधा भाग ठाकुरों के नाटकीय हत्या के रूप में दिखाया जाता है। इसे प्रसिद्ध बेहमई नरसंहार के नाम से भी जाना जाता है। वह मल्लाह के इस कथन को याद करती हुई कहती है कि –"एक को मारोगे तो फांसी होगी और 20 को मारोगे तो नाम होगा।'' वह 22 ठाकुरों की हत्या दिनदहाड़े कर देती है जो कि पूरे पुलिस वालों को हतप्रभ कर देती है। यह फिल्म दलितों पर होने वाले अत्याचार के प्रतिशोध की कहानी है।

3. शूद्रा : द राइजिंग – बहुत सारे फिल्मकार हैं, जो मसाला फिल्मों से अपने को हटाकर समाज के ज्वलंत मुद्दों पर फिल्में बनाई हैं। इसी क्रम में संजीव जायसवाल की 'शूद्रा : द राइजिंग' है। जाति व्यवस्था की बीमारी पर यह फिल्म संदेश देती है कि जातिवाद समाज के लिए जहर है, तथा भेदभाव को बढ़ाने में उत्प्रेरक का काम करती है। साथ ही समाज में गंदगी और असमानता फैलाती है। फिल्मों का एक उद्देश्य यह भी है कि प्राचीन काल की अतिवादी चीजों से आधुनिक समय को अवगत कराना जो कि यह आज भी जहर की तरह समाज में बह रही है।

यह फिल्म दिल को आहत करने वाली है। एक कठोर नियम और कानून को एक समूह के लोगों पर थोपी गई है। इस अमानवीयता के विरुद्ध लड़ने वाले योद्धा जैसे भीमराव अंबेडकर, नेल्सन मंडेला, मार्टिन लूथर किंग, ज्योतिबा फुले शिवाजी महाराज और अन्य गुमनाम किए गए नायकों की कहानी है, जो कि उस समय से लेकर आज तक न्याय की लड़ाई लड़ी। न्याय समानता, इज्जत और आजादी की लड़ाई दबी कुचली जातियों के लिए है। संजीव जायसवाल कहते हैं कि उनका उद्देश्य नई पीढ़ी को जातिवाद की विभीषिका से जागरूक करना है।

4. दामुल (1985) – इस फिल्म के कहानीकार शैवाल है। यह गया जिले के निवासी की कहानी है। अन्नू कपूर, सरला मजूमदार, मनोहर सिंह, दीप्ति नवल एवं रंजन कामत इसके मुख्य कलाकार हैं। यह बंधुआ मजदूरी पर आधारित फिल्म है, जिसमें बंधुआ मजदूर अपने जमीनदार मालिक के लिए चोरी करने को बाध्य है और आजीवन उसका गुलाम है। इस फिल्म के संदर्भ में पी. शुक्ला कहते हैं कि दामुल फिल्म में जातिवाद निचली जातियों के विद्रोह के साथ ही बिहार से पंजाब इत्यादि जगहों में मजदूरों के पलायन को दिखाया गया है। इस फिल्म को को भारतीय सिनेमा में यथार्थवादी एवं कलात्मक के लिए विशेष स्थान प्राप्त है।[4]

जवरीमल परख ने भी इस फिल्म को यथार्थवादी फिल्मों में शामिल किया है जिसमें, जन प्रतिरोध की चेतना दिखाई देती है।[5]

5. आरक्षण (12 अगस्त 2011)- प्रकाश झा की यह फिल्म जातिवाद के विरुद्ध निचली जातियों के राजनीतिक अधिकार को लेकर बनी है। वर्ष 2008 में दीपक कुमार (सैफ अली खान) एक अच्छे स्कूल में नौकरी के लिए साक्षात्कार के लिए जाता है। लेकिन निचली जाति के होने के कारण उसे नौकरी नहीं मिलती है। दीपक इसकी जानकारी अपने मार्गदर्शक डॉक्टर प्रभाकर आनंद (अमिताभ बच्चन) को देता है। डॉक्टर प्रभाकर आनंद जो एसटीएम कॉलेज के प्रधानाचार्य है, दीपक को अपने यहां नौकरी करने का प्रस्ताव देते हैं। लेकिन दूसरी तरफ राज्य मंत्री बाबूराम अपने नालायक भतीजे को रखने की बात करता है जिसे, प्रभाकर आनंद खारिज कर देते हैं। इसीलिए मंत्री अपने आदमी मिथिलेश सिंह (मनोज बाजपेई) को वहां रखवाने को ठान लेता है। मिथिलेश सिंह लालची और धूर्त किस्म का इंसान है। वह सिर्फ अपने आप को और अधिक धनी बनाने की सोचता रहता है। मंत्री की व्यापक महत्वाकांक्षी योजना एक बड़ी कंपनी बनाना था जो कई अलग-अलग क्षेत्रों से संबंधित था। यह भी योजना थी कि मिथिलेश बाहर से कोचिंग व्यवसाय इसको बढ़ाने के लिए करें।

इसी दौरान सर्वोच्च न्यायालय का बेहद महत्वपूर्ण फैसला आता है जो अन्य पिछड़े वर्गों के लिए उच्च शिक्षण संस्थानों में आरक्षण देने से संबंधित था। इस फैसले के बाद दो गुटों में झड़प हो जाती है। सुशांत (प्रतीक बब्बर) जो ऊंची जाति से संबंधित था दीपक से उलझ जाता है। तभी डॉक्टर प्रभाकर आनंद वहां आकर दोनों को डांट फटकार करते हैं। लेकिन, दीपक डॉक्टर प्रभाकर से कुतर्क करने लगता है। पूर्वी (दीपिका पादुकोण) जो प्रभाकर आनंद की पुत्री है वह दीपक को अपने पिता से माफी मांगने को कहती है जिसे, दीपक इंकार कर देता है और दोनों में अलगाव हो जाता है।

पिछड़े वर्ग के लोग आरक्षण की नीति का स्वागत करते थे क्योंकि इससे उन्हें शिक्षा में ज्यादा अवसर मिलते थे तो वहीं दूसरी तरफ ऊंची जाति के लोग आरक्षण का विरोध करते थे क्योंकि वे समान अवसर की चाह रखते थे। कॉलेज प्रशासन भयभीत था कि विद्यालय स्तर पर आरक्षण विद्यार्थियों के बीच मतभेद पैदा कर देगा। एक पत्रकार को दिए गए साक्षात्कार में जब प्रभाकर आनंद ने अपना व्यक्तिगत मत दिया कि बिना राजनीति से प्रेरित आरक्षण कुछ हद तक जरूरी है। अगले दिन अखबारों में खबर आती है कि डॉक्टर प्रभाकर आरक्षण के समर्थक है। इससे एसटीएम कॉलेज के बोर्ड नाराज हुए और डॉक्टर प्रभाकर को चेतावनी दी गई और साथ ही मिथिलेश सिंह को उनकी जगह प्रधानाचार्य बना दिया गया। डॉक्टर प्रभाकर आनंद में कॉलेज से इस्तीफा दे दिया और बाद में डॉक्टर प्रभाकर अपने मित्र शंभू जो कि ग्वाला जाति का था उसकी मदद से स्कूल खोला। प्रभाकर आनंद इस स्कूल में पिछड़ी और निचली जातियों के जरूरतमंद बच्चों को शिक्षा देने लगे। इस फिल्म में निचली जातियों पर प्रकाश झा सकारात्मक दृष्टिकोण रखते हुए दिखाई देते हैं।

समग्रत: कह सकते हैं कि हिंदी सिनेमा में भले कम ही फिल्में निचली जातियों की समस्याओं पर बनाई गई है फिर भी कुछ फिल्मों के संदर्भ में कह सकते हैं कि इनमें निर्देशक ने दलित और पिछड़ों के पक्ष में अपना मत दिया है।

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दयाल सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : chittaranjan.kumar2009@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. दलित रिप्रेजेंटेशन इन बॉलीवुड, हरीश वानखेडे, मेनस्ट्रीम वॉल्यूम-1, मई 4 -2013 इंटरनेट वर्जन।
2. प्रकाश झा का इंटरव्यू, ANI-फरवरी-15, 2024, टाइम्स ऑफ इंडिया, इंडिया टाइम्स.
3. स्मृति कश्यप : फुल हीड. कॉम, बैंडिट क्वीन रिव्यू, इंटरनेट वर्जन
4. पी.शुक्ला, आई टी बी इंडिया ब्यूरो, प्रकाश झाज फिल्म दामुल रिव्यू, इंटरनेट वर्जन
5. हिंदी सिनेमा का समाज शास्त्र, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ 139

महेंद्र सिंह

साम्राज्य के विरुद्ध शब्द-शंखनाद (उपनिवेशवाद विरोधी हिंदी साहित्य और ब्रिटिश सत्ता के लिए वैचारिक संकट)

शोध-सार

प्रस्तुत शोध-लेख औपनिवेशिक भारत में हिंदी साहित्य और स्वाधीनता संग्राम के अंतर्संबंधों का विस्तृत विश्लेषण करता है। यह लेख इस तथ्य को रेखांकित करता है कि साहित्य ने किस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की 'नैतिक वैधता' को ध्वस्त किया। बंकिम चंद्र, प्रेमचंद, महादेवी वर्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान की कृतियों का गहन पाठ्य-विश्लेषण करते हुए यह शोध दर्शाता है कि शब्द किस प्रकार बारूद से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए।

बीज शब्द

उपनिवेशवाद, स्वाधीनता संग्राम, सांस्कृतिक चेतना, प्रशासन, राजद्रोह, मौखिक-साहित्यिक संगम, सामूहिक वाचन, राष्ट्रवाद, संगठित लूट, 'ड्रेन ऑफ वेल्थ', प्रासंगिकता, प्रतिरोध।

मूल लेख

बीसवीं सदी के शुरुआती 50 साल भारतीय इतिहास में एक साथ गुलामी, आजादी की लड़ाई और सांस्कृतिक चेतना के जागृत होने का समय थे। उस दौर में भारत पूरी तरह ब्रिटिश हुकूमत की गिरफ्त में था और हमारा समाज, राजनीति तथा संस्कृति उपनिवेशवाद के बुरे प्रभावों को झेल रही थी। लेकिन इसी समय लोगों में आजादी पाने की तड़प भी बढ़ रही थी, जिसे तत्कालीन साहित्य सही दिशा दे रहा था। वास्तव में, उपनिवेशवाद वह प्रक्रिया है जिसमें कोई ताकतवर देश किसी दूसरे देश को राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से अपना गुलाम बना लेता है। इसका उद्देश्य सिर्फ जमीन हथियाना नहीं, बल्कि उस देश के संसाधनों को लूटना और अपनी संस्कृति को उन पर थोपना होता है। यह एक ऐसा तंत्र है जो गुलाम देश के लोगों को मानसिक रूप से हीन और दूसरों पर निर्भर बना देता है।

भारत में उपनिवेशवाद यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों, खासकर ईस्ट इंडिया कंपनी के आने से शुरू हुआ। भारत की आर्थिक संपन्नता ने उन्हें लालच दिया। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद कंपनी ने राजनैतिक और सैन्य विस्तार शुरू किया, जो 1858 में औपचारिक ब्रिटिश राज की स्थापना तक पहुँच गया। इस तरह, जो लोग व्यापार करने आए थे, वे धीरे-धीरे हमारे शासक बन बैठे और हमारी संस्कृति में भी दखल देने लगे। 19वीं सदी के अंत में ब्रिटिश प्रशासन ने भारतीय भाषाओं को नियंत्रित करने के लिए 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' (1878) और 'प्रेस एक्ट' (1910) जैसे कठोर कानून लागू किए। इन कानूनों का उद्देश्य भारतीय भाषाओं में पनप रहे 'राजद्रोह' को कुचलना था। यद्यपि भारत में साक्षरता के आँकड़े बेहद कमजोर थे तथापि लोगों के पास उपनिवेशवादी विरोधी साहित्य की पहुँच सुलभ थी। वर्ष 1901 से 1931 की साक्षरता

वर्ष	साक्षरता (%)	सामाजिक प्रभाव
1901	5.4	पारंपरिक मौखिक संस्कृति का प्रभुत्व
1911	5.9	स्वदेशी आंदोलन का साहित्यिक प्रसार
1921	7.2	असहयोग आंदोलन और भाषाई चेतना
1931	9.5	सविनय अवज्ञा और प्रेस की सक्रियता

(स्रोत : जनगणना रिपोर्ट 2011)[1]

दर का सांख्यिकीय विश्लेषण करें तो देश की साक्षरता

दर स्वदेशी आंदोलनों और साहित्यकारों के प्रयास से बढ़ने लगी थी। यह यक्ष-प्रश्न यहाँ पर अवश्य उपस्थित है कि जब साक्षरता दर ही 6 प्रतिशत के आस पास है तो प्रेमचंद के 'सोजे वतन'[2], गांधीजी की पुस्तक 'हिंद स्वराज'[3] तथा अन्य साहित्यकारों की रचनायें जब्त करने का तुक क्या है? उत्तर आसान है, यद्यपि साक्षरता दर अत्यंत न्यून थी, किंतु साहित्य का प्रभाव 'सामूहिक वाचन' के कारण व्यापक था। एक व्यक्ति समाचार पत्र पढ़ता था और पूरा गाँव उसे सुनता था। इसी 'मौखिक-साहित्यिक संगम' ने ब्रिटिश हुकूमत के लिए वास्तविक खतरा पैदा किया। 1857 के बाद ब्रिटिश शासन ने हिंदी प्रेस पर कड़ी नजर रखी। वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट (1878) ने स्थानीय भाषाओं के पत्रकारों पर मुकदमों का प्रावधान रखा।[4] प्रेस एक्ट (1910) के तहत संपादकों को भारी जमानत देनी थी। अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा मिला (मैकेलेय नीतियाँ), इसलिए हिंदी में लिखने वालों की चुनौतियाँ बढ़ीं। जनता की जागरूकता जैसे-जैसे बढ़ी, सुधारकों, साहित्यिकों और नेताओं ने उपनिवेशवाद विरोधी साहित्य लिखने की ओर विशेष ध्यान दिया। प्रिंट-संस्कृति की दृष्टि से देखा जाए तो 19वीं-20वीं सदी में हिंदी में साप्ताहिक पत्रिकाओं की बाढ़ आ गई। 'हिन्दी प्रदीप (1877)[5]', 'हिंदोस्थान (1883)[6]', 'ब्राह्मण (1883)[7]','सरस्वती (1900)[8]' आदि निकलें। ये पत्र स्थानीय मुद्दों के साथ राष्ट्रीय विचार भी प्रसारित करते थे। अंग्रेजी प्रसार संस्था (CPI) के दस्तावेजों में भी हिंदी प्रकाशन की मात्रा बढ़ने की सूचना मिलती है। 1880-1930 की अवधि में देवनागरी लिपि को राष्ट्रीय भाषा का दर्जा मिला[9], जिससे हिंदी ने राजनीतिक-सांस्कृतिक वाहक बनना शुरू किया।

औपनिवेशिक-विरोधी कृतियों में कई संगीन विषय देखे गए : पहला, **राष्ट्रवाद** – 'माँ भारती' के प्रति भक्ति, स्वतंत्रता संग्राम की महिमा। वन्दे मातरम् में उद्घोष का भाव है। बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर और गुप्त समेत तमाम हिन्दी कवियों को इस आलोक में देखा जा सकता है। दूसरा, **सांस्कृतिक पहचान** – हिंदी लेखकों ने भारतीय संस्कृति, धर्म और परंपराओं का पुनरुत्थान किया, तथा अंग्रेजी 'सभ्यता' को चुनौती दी। तीसरा, **रूपक** – देश को माता के रूप में, वन-पशु-फूलों के माध्यम से चित्रित किया गया (महादेवी की नीलकंठ में भारत-मोर)। चौथा, **लिंग और महिला विमर्श** – महिलाएं रचनाओं में सक्रिय, मातृभूमि का प्रतीक और नेतृत्व करती दिखाई दीं (चौहान ने झाँसी की रानी को प्रमुख नायक बनाया, अन्य कवयित्रियाँ मातृरूप भारत व शोषित नारियों पर लिखा करती थीं)। पाँचवाँ, **जाति एवं सामाजिक विभाजन** – प्रेमचन्द और कुछ अन्य लेखकों ने ग्रामीण जातिगत असमानता को रेखांकित किया। आम तौर पर उपनिवेश-विरोधी साहित्य ने जाति की दीवार तोड़ने का संदेश दिया। छठा, **ग्रामीण-शहरी विभाजन** – ग्रामीण भारत को स्वाभाविक राष्ट्र समझा गया और नगरीय भ्रष्टाचार को खारिज किया गया।

बंकिम ने आनंद मठ[10] के माध्यम से भारत को एक 'भौगोलिक पिंड' से हटाकर 'जीवंत माता' के रूप में स्थापित किया। ''सुजलां, सुफलां, मलयजशीतलाम्'' जैसी पंक्तियाँ भारत की प्राकृतिक संपन्नता का वर्णन करती हैं, किंतु इसके तुरंत बाद ''सप्तकोटि-कंठ-कलकल-निनाद-कराले'' (सात करोड़ कंठों की हुंकार) का आह्वान सीधे तौर पर जनशक्ति को ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध खड़ा करता है। ब्रिटिश सरकार ने इसे 'धार्मिक उन्माद' और 'विद्रोह' के रूप में देखा क्योंकि यह गीत 'देशभक्ति को धर्म' बना रहा था। जब कोई व्यक्ति अपनी मातृभूमि को 'देवी' मान लेता है, तो वह उसके लिए प्राण देने से नहीं हिचकता यही वह बिंदु था जिससे अंग्रेज सर्वाधिक भयभीत थे। प्रेमचंद के सोजे वतन संग्रह में देशप्रेम और राष्ट्रवाद पर लिखी कहानियों का विश्लेषण इतना सटीक था कि ब्रिटिश खुफिया विभाग ने प्रेमचंद की रचनाओं को 'क्रांतिकारी विचारों का पोषक' घोषित किया और इन पर राजद्रोह लगा दिया। इन्हें अपनी पूरी खेप जलानी पड़ी और यहाँ तक कि दयानारायण निगम के कहने पर खुद का नाम नवाबराय से प्रेमचंद करना पड़ा। प्रेमचंद का गोदान (1936)[11] भारतीय किसान की नियति का महाकाव्य है। उपन्यास का नायक 'होरी' केवल एक व्यक्ति नहीं, बल्कि औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों का शिकार 'समग्र भारत' है। प्रेमचंद ने दिखाया कि कैसे ब्रिटिश राजस्व प्रणाली, जमींदारी प्रथा और महाजनी सभ्यता मिलकर एक किसान का 'गोदान' (उसकी अंतिम पूंजी का अंत) कर देते हैं। होरी की मृत्यु दरअसल ब्रिटिश शासन की उस **कर-नीति** की परिणति है जो रक्त चूसने वाली थी। प्रेमचंद ने 'लगान' और 'कर्ज' के माध्यम से यह सिद्ध किया कि ब्रिटिश राज 'कानून का शासन' नहीं, बल्कि 'संगठित लूट' है। सुभद्रा कुमारी चौहान की रचनाएं राष्ट्रवाद, देशप्रेम और स्त्री-चेतना का विप्लव हैं। 'झाँसी की रानी' कविता 1938 में प्रकाशित हुई, किंतु इसका प्रभाव

कालजयी रहा। चौहान ने रानी लक्ष्मीबाई को 'मर्दानी' कहकर संबोधित किया। यहाँ 'मर्दानी' शब्द केवल पुरुषत्व का प्रतीक नहीं है, बल्कि यह उन विक्टोरियन धारणाओं पर प्रहार है जो महिलाओं को केवल घरेलू और कोमल मानती थीं। 'बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी' जैसी पंक्तियाँ इतिहास को 'लोक-स्मृति' से जोड़ती हैं। यह कविता सीधे तौर पर डलहौजी की 'राज्य हड़प नीति' (Doctrine of Lapse) को चुनौती देती है। जब जनता यह सुनती थी कि -''छिनी राजधानी दिल्ली की, लखनऊ छीना बातों-बात/ कैद पेशवा था बिठुर में, हुआ नागपुर का भी घात/उदैपुर, तंजौर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात?/जबकि सिंध, पंजाब ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात।''[12] तो उनमें खोए हुए भूगोल को वापस पाने की तड़प पैदा होती थी। यह कविता ब्रिटिश शासन की 'अजेयता' के भ्रम को तोड़ती थी। महादेवी वर्मा ने रूपकात्मक प्रतिरोध का माध्यम चुना था। उन्होंने अपनी सूक्ष्म लेखनी से 'नीलकंठ'[13] (मोर) के माध्यम से गहरे राजनीतिक संकेत दिए। 'नीलकंठ' भारत का प्रतीक था। मोर के पंखों का उखाड़ा जाना और उसका अपनी आभा खो देना, भारत के संसाधनों के 'ड्रेन ऑफ वेल्थ' (धन का निष्कासन) का रूपक है। महादेवी का छायावादी स्वर यहाँ 'राजनीतिक यथार्थवाद' में बदल जाता है। मोर का 'विषाद' और उसकी 'मूक पीड़ा' उस समय के भारतीय समाज की स्थिति थी जो ब्रिटिश बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। यह रूपक इतना गहरा था कि सेंसरशिप की आँखों से बचते हुए भी यह जनता के दिलों में अंग्रेजों के प्रति आक्रोश भर देता था।

केवल साहित्य ही नहीं तत्कालीन पत्रिकाओं ने व्यंग्य-कटाक्ष और कार्टून का सहारा लेकर भी औपनिवेशिक प्रतिरोध दर्ज करवाया। औपनिवेशिक काल में व्यंग्य एक 'अदृश्य हथियार' था। भारतेन्दु का अंधेर-नगरी[14] नाटक इसका अप्रतिम उदाहरण है। बलिदान अंक निकालने वाली अविस्मरणीय पत्रिका हिन्दू पंच के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। द ब्रिटिश लायन और इंडियन शीप शीर्षक एक प्रसिद्ध कार्टून में 'ब्रिटिश शेर' को भारतीय 'भेड़ों' का ऊन उतारते हुए दिखाया गया था। इसके नीचे व्यंग्यात्मक लेख था कि 'सभ्यता का प्रसार करने वाले शेर को ऊन की सख्त जरूरत है।' यह हिन्दू पंच द्वारा सीधे तौर पर ब्रिटिश व्यापारिक नीतियों पर प्रहार था।[15] पत्रिकाओं में अंग्रेजों को अक्सर 'जॉन बुल' (एक मोटा, घमंडी पात्र) के रूप में दिखाया जाता था, जो भारतीय दुबले-पतले किसानों के ऊपर बैठा हुआ है। लेखों में व्यंग्य किया जाता था कि 'जॉन बुल का पेट जितना भरता है, भारत उतना ही हल्का (गरीब) होता जाता है।''[16] इस तरह के व्यंग्यात्मक चित्रों ने जनता को जगाने का काम किया। लेकिन साथ ही साथ हिंदुस्तानियों को इसकी कीमत भी चुकानी पड़ी। उपनिवेशी सरकार ने इन साहित्यिक कार्यों को सीधे खतरा माना। वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट, 1878 के तहत कई हिंदी और उर्दू प्रकाशनों को पहले ही पाबंदी झेलनी पड़ी। आगे प्रेस एक्ट, 1910 ने प्रतिबंधों को और कड़ा किया। इन्हीं कानूनों के तहत गांधीजी की 'हिंद स्वराज' पर रोक लगाई गई। स्वतंत्रता सेनानियों की आत्मकथाओं प्रवासी की कहानी[17], मेरी आत्मकहानी[18], आपबीती[19] आदि तथा जीवनियों बापू[20], चंद्रशेखर आजाद[21] आदि में जेल के दिनों और शोषण का वर्णन है, जो ब्रिटिश दमन की गवाही देते हैं। कुल मिलाकर, इन साहित्यिक कृतियों ने ब्रिटिश शासन को सतर्क कर दिया और उनकी नीतियों को प्रभावित किया।

निष्कर्षत: बीसवीं सदी के पूर्वार्ध का साहित्य महज एक रचनात्मक प्रयास भर नहीं, अपितु औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध एक सुचिंतित बौद्धिक हस्तक्षेप था। यह साहित्य प्रत्यक्ष प्रतिरोध की परिधि से आगे बढ़कर भारतीय समाज में एक व्यापक वैचारिक क्रांति का सूत्रपात कर रहा था।हिंदी साहित्य में व्यक्त स्वर केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति न होकर, हमारे राष्ट्रीय आत्म-संघर्ष की एक दस्तावेजी पहचान हैं। जनसामान्य को जागरूक करने, उन्हें तार्किक बनाने और सत्ता की औपनिवेशिक नीतियों की विसंगतियों पर प्रश्नचिह्न खड़े करने की यह साहित्यिक विधा आज भी अपनी प्रासंगिकता अक्षुण्ण रखे हुए है। यह साहित्य भारतीय अस्मिता, स्वराज और सामाजिक न्याय के उन शाश्वत मूल्यों का संवाहक है, जिनके लिए इस राष्ट्र ने दीर्घकाल तक संघर्ष किया है।

शोधार्थी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
255, पेरियार छात्रावास, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. Census 2011: Literacy Rate and Sex Ratio in India Since 1901 to 2011
2. सोजे-वतन, मुंशी प्रेमचंद, 1908

3. हिन्दी स्वराज्य, महात्मा गांधी, नवजीवन प्रकाशन, 1923
4. Freedom of the press in British India & Wikipedia https://en-wikipedia-org/wiki/Freedom_of_the_press_in_British_India#:~:teÛt¾]11
5 हिन्दी प्रदीप, संपा बालकृष्ण भट्ट, प्रयाग, 1877
6. हिन्दोस्थान, संपा. राजा रामपाल सिंह, इंग्लैंड, 1883
7. ब्राह्मण, संपा. प्रताप नारायण मिश्र, कानपुर, 1883
8. सरस्वती, संपा. चिन्तामणि घोष, काशी, 1900
9. उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की रिपोर्ट, 2010, jaagranjosh.com
10. आनंद मठ, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, रामानुजन विश्वविद्यालय प्रेस, भारत, 1882
11. गोदान, मुंशी प्रेमचंद, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1936
12. मुकुल (कविता संग्रह), सुभद्रा कुमारी चौहान, ओंकार प्रेस, इलाहाबाद, 1930
13. मेरा परिवार, महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972
14. अंधेर-नगरी, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, 1881
15. हिन्दू पंच, संपा. ईश्वरीदत्त शर्मा, कलकत्ता, 1926
16. महार्षि, वी. (2022). Punchlines and Power Plays: Tracing the Roots of Indian Satire-
17. प्रवासी की कहानी, भवानी दयाल सन्यासी, 1939
18. मेरी आत्म कहानी, श्याम सुंदर दास, 1941
19. आपबीती, भाई परमानन्द, 1921
20. बापू, घनश्याम दास बिरला, 1940
21. चंद्रशेखर आजाद, मन्मथनाथ गुप्त, 1938

शोध-पत्र

विजयदेव नारायण साही के आलोचकीय वितान में जायसी का मूल्यांकन

डॉ. आबिद हुसैन

सारांश : हिंदी साहित्य के वितान में विजयदेव नारायण साही की एक मुकम्मल पहचान है। इसके पीछे की वजह यह है कि उन्होंने हिंदी साहित्य में एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाहन किया। मसलन कि एक तरफ वे कविता की भूमि पर एक सफल कवि की रूप में तो दूसरी ओर आलोचना के धरातल पर एक गम्भीर आलोचक का दायित्व निभाया। इसी दायित्व निर्वहन में उन्होंने मलिक मोहम्मद जायसी और उनके काव्य का पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास किया। अमूमन सभी हिंदी साहित्य अध्येता को इस बात का इल्म है कि जायसी को हिंदी साहित्य के मुख्य केंद्र में लाने का कार्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया। उन्होंने जायसी को तुलसी, सूर के समकक्ष खड़ा कर 'त्रिवेणी' में जगह दिया। उनका विस्तृत मूल्यांकन किया। किंतु आचार्य शुक्ल ने जायसी को जिस तरह से देखा-परखा। जायसी के संदर्भ में उन्होंने जो निर्णय प्रस्तुत किये उसे ही बहुत आगे तक बार-बार दुहराया गया। जिस कारण जायसी और उनके काव्य के प्रति एक बद्ध संस्कार निर्मित हुआ। जिसमें जायसी एक 'सूफी कवि' के रूप में प्रतिष्ठित रहे। साथ ही उनका महत्वपूर्ण काव्य 'पद्मावत' सूफीवाद पर आधारित काव्य होने का दर्जा प्राप्त करता रहा। इस बद्ध संस्कार के विपरीत साही ने जायसी के संदर्भ में नयी बहस जन्म दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से माना की जायसी 'सूफी कवि' नहीं हैं बल्कि वह एक 'विशुद्ध कवि' हैं साथ ही पद्मावत 'सूफीवाद पर आधारित काव्य' नहीं है बल्कि वह 'जिंदगी का काव्य' है। इतनी ही नहीं है आगे यह भी कहते हैं कि जायसी का प्रस्थान बिंदु ईश्वर नहीं है। उनकी चिंता का मुख्य ध्येय मनुष्य है। इसलिए साही की आलोचकीय वितान में पद्मावत एक त्रासदी ग्रंथ ठहरती है। साही अपने अध्ययन में जायसी संबंधी कई नवीन घोषणाएँ एवं मान्यताएँ स्थापित किये। जिसे काफी हद तक आलोचना परंपरा में स्वीकार भी किया गया। तब यह जरूरी है कि उन बिन्दुओं को समझने का प्रयास किया जाए जो साही को जायसी के नजदीक लाने के लिए कारगर हुई हैं। अध्येता की जिज्ञासा इस बात को भी समझने की भी है कि एक मध्यकालीन कवि को नवीन अर्थ ध्वनियाँ देने के लिए साही के प्रयत्नों की छानबीन की जाए। ताकि आलोचकीय वितान में साही के जायसी संबंधी मूल्यांकन को परखा जा सके।

बीज शब्द : मध्यकाल, भक्तिकाल, काव्य, जायसी, सूफी, पद्मावत, प्रेम, युद्ध, नयी कविता, साही, त्रासदी, समकालीनता, विचारधारा, बौद्धिक सघनता।

आलेख : हिंदी आलोचना परंपरा में विजयदेव नारायण साही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह अज्ञात नहीं है कि साही 'तीसरे सप्तक' के महत्वपूर्ण कवि रहे। साथ ही 'नई कविता' के सिद्धांतकार भी रहे। 'प्रलेस' के बरक्स 'परिमल' को पुरजोर तरीके से खड़ा करे जाने में उनका योगदान प्रमुख माना जाता है। अपने समय के सभी घटनाओं पर उनकी पैनी नजर रहती थी। उन घटनाओं पर वे बहस-मुबाहित किया करते थे। हरिमोहन शर्मा उनके विषय में लिखते हैं कि ''क्रमशः साही साहित्य के विश्लेषणकर्ता, चिंतक तथा बहस-मुबाहिसों में रूचि लेने वाले आलोचक भाषणकर्ता के रूप में ख्यात हो गये। उस दौर की शायद ही कोई ऐसी बहस हो जिसमें साही ने प्रमुखता से भागीदारी न की हो।''[1] यह कहना गैरजरूरी नहीं है कि उन्होंने हिंदी आलोचना में मात्र दो निबंध के आधार पर

अपनी पहचना मुकरर की। इस संबंध में निर्मला जैन के कथन को देंखे। वे कहती हैं कि ''आलोचना में उन्होंने दो निबंधों से ही अपनी पहचान बना ली, ये निबंध थे-'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' और 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' किंतु विचारों की मौलिकता और चिंतन की गहराई के कारण इन्हीं निबंधों का आज भी विशेष महत्त्व है।''[2]

साही के विषय में विद्वानों का मानना है कि वह बहसधर्मी आलोचक हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि साही बहस के माध्यम से आलोचना के मूल्य निर्मिति के पक्षकार रहे हैं। साही जिस बहसधर्मिता के आलोचक के रूप में विख्यात हुए उसके संबंध में सत्यप्रकाश मिश्र लिखते हैं कि ''साही जिस बहस में हिस्सा लेते थे उसकी तह तक गये बगैर मानते नहीं थे। जो लिखते थे, उसी में रम जाते थे और लिखते समय एक सिद्धांत विकसित करके उसी के प्रकाश में लिखते थे। जायसी इस प्रकार की बहुत ही प्रसिद्ध कृति है।''[3] यह सच है कि साही ने जायसी का पूरी गहनता के साथ मूल्यांकन ही नहीं किया; बल्कि कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्य के पाठक को एक ऐसी नयी दृष्टि भी दी जिसके आलोक में जायसी किसी भी संप्रदाय से मुक्त विशुद्ध कवि के रूप में दिखाई देते हैं। यह कहने में किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ती नहीं होगी कि छठवें दशक में जिस ताप और ऊर्जा के साथ साही ने आलोचना की शुरुआत की थी उसकी चरम फलश्रुति जायसी का मूल्यांकन है। साही अपने अंतिम दिनों में जायसीमय हो गए थे। जायसी के रूपक का आधार लेकर उन्होंने स्वयं लिखा है कि ''बार-बार दूर वनखण्ड से आकर मैं इस जायसी-रूपी कमल की बास लेता हूँ। हर बार एक नयी सुगंध मिलती है।''[4] साही की 'जायसी' पुस्तक मूलत: 17-18-19 मार्च सन् 1982 को 'हिंदुस्तानी एकेडमी' में दिये हुए भाषण और तब तक लिखे हुए निबंधों का योग है। जिसे उनके मरणोपरान्त (1983) हिंदुस्तानी एकेडमी ने प्रकाशित किया। साही की इस पुस्तक की विशेषता को रेखांकित करते हुए विजयमोहन सिंह लिखते हैं कि '''जायसी' पुस्तक की सबसे बड़ी महत्ता इस बात में है कि उसमें हिंदी में पहली बार 'क्लासिकी काव्य' का नये आलोक में आकलन करके उसकी प्रासंगिकता प्रमाणित की गयी। यह 'क्लासिकी काव्य' को देखने कि सर्वथा नयी दृष्टि थी जिसने काव्य मात्र की असली भूमिका और महत्ता को स्थापित किया। यह दृष्टि चौंकाने वाली थी; चौंकाने वाली इस अर्थ में कि साही जी ने प्राचीन धार्मिक, आध्यात्मिक तथा अलौकिकता से आप्लवित काव्यों (यहाँ एक काव्य विशेष 'पद्मावत') के ऊपर से सारे मुलम्मे उतारकर उनके भीतर से एक वास्तविक काव्य और विशुद्ध रचना का जिस तरह उद्घाटन किया है वह एक ऐसी समीक्षा दृष्टि से दीप्त है कि हम महज एक काव्य नहीं, पूरी क्लासिकी परंपरा के काव्यों को एक नये आलोक में पहचान और परख सकते हैं। पहली बार किसी हिंदी समीक्षक ने किसी क्लासिकी काव्य की प्रासंगिकता को इस तरह प्रमाणित किया है। टी.एस. इलियट इसी को 'परंपरा की समकालीनता' अथवा 'अतीत की वर्तमानता' कहता है।''[5]

साही की सहृदयता का उत्कृष्ट रूप जायसी के विश्लेषण में दिखाई देता है। जायसी की काव्य-प्रतिभा को पहचान कर उनके काव्य का ऐतिहासिक विश्लेषण करके उनको महत्त्वपूर्ण कवियों में स्थापित करने का काम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया। लेकिन उनके बाद जायसी का एक कवि के रूप में संवेदनशील विश्लेषण साही ने प्रस्तुत किया। साही जायसी को हिंदी का पहला विधिवत कवि मानते हैं। जबकि उनको कबीरदास में प्रयास के केवल चिह्न ही दिखाई देते हैं। अर्थात् उन्होंने कबीर की तुलना में जायसी की काव्यप्रतिभा को अधिक सहज माना। जायसी के विश्लेषण में साही ने कई ऐसी स्थापनाएँ की हैं, जो प्राचीन काव्य समीक्षा के प्रतिमानों को उलटफेर करती दिखाई देती हैं। इस संबंध में विजय मोहन सिंह लिखते हैं कि ''प्राचीन कवियों के पुनर्विश्लेषण की यह प्रक्रिया शुक्ल जी से शुरू हो जाती है। अत: इसे भी हमें उसी क्रम में देखना होगा। शुक्ल जी ने जिस तरह 'देव-बिहारी' संबंधी बातूनी बहसों के धुँधलके से हिंदी समीक्षा को निकालकर जायसी, सूर तथा तुलसी के काव्यों की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की थी और उन्हें संत, महात्मा और लौकिक महापुरुषों की कोटि से अलग कर कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया था। प्रमाणित किया था कि वास्तविक कविता सूर, तुलसी और जायसी में, देव, बिहारी और केशवनाथ आदि से न केवल अधिक है बल्कि सच्चा कवित्व उन्हीं में है, बाकी में वाग्विलास और वाक् वैचित्र्य ही अधिक है। समीक्षा की इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए विजयदेव नारायण साही ने जायसी के पद्मावत के संदर्भ में अनेक ऐसी क्रांतिकारी स्थापनाएँ कर डाली हैं जो न केवल शुक्ल जी से बहुत आगे ही नहीं निकल जाती बल्कि प्राचीन काव्यों के समीक्षा संबंधी निकषों में भारी उलटफेर भी कर डालती हैं।''[6]

वैसे देखा जाये तो कबीर के विषय में साही की जो धारणा है वह आचार्य शुक्ल से बहुत भिन्न नहीं दिखाई देती। जिसको इंगित करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''शायद कबीरदास कवि नहीं थे। संत ही अधिक थे।''[7] इस तरह आचार्य शुक्ल भी कबीर को संत ही कहना अधिक पसंद करते थे। लेकिन जायसी के संबंध में साही आचार्य शुक्ल के विपरीत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ''जायसी मूलत: 'कवि' हैं, अपनी सृजनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से और बारम्बार अपने दावे के अनुसार भी। उसी तरह, जिस प्रकार कालिदास कवि हैं, जायसी के पूर्ववर्ती अमीर खुसरो कवि हैं या फारसी के निजामी कवि हैं।''[8]

प्रतिबद्धता के बावजूद भी साही वैचारिक आतंक को नकारते हैं। उनकी धारणा है कि कबीर के काव्य में विचारधारा है जबकि जायसी के काव्य में संवेदना का सृजन है। चूँकि साही कवि भी थे। इसलिए जायसी के मूल्यांकन में उन्होंने उनकी सृजनशीलता का विश्लेषण करते हुए यह सिद्ध किया कि जायसी ने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से ''अपने आसपास बिखरी हुई लोक कथाओं, दन्त कथाओं, धार्मिक, आध्यात्मिक कुछ हद तक ऐतिहासिक कथाओं को समेट कर एक विराट काव्य ग्रंथ का रूप दिया है।''[9] साही कि दृष्टि में बड़ा कवि वही होता है जो बने बनाये महानायकों को अपने काव्य का केंद्र नहीं, बल्कि अपने काव्य के द्वारा सामान्य व्यक्तियों को भी महानायक बना देता है। और यही काम जायसी ने अपनी सृजनशील क्षमता से किया। 'पद्मावत' के विषय में साही लिखते हैं कि 'पद्मावत' के केंद्र में है जायसी की अद्भुत रचनात्मक प्रतिभा और उसके द्वारा निर्मित एक अपूर्व 'काव्य-लोक'। यह 'लोक' सिंहल, चित्तौड़ या दिल्ली नहीं है और न उसके नायक-नायिका में रत्नसेन, अल्लाउद्दीन, पद्मिनी, नागमती आदि। वे सब जिस चमत्कारित क्षमता से उदीप्त होकर एकसूत्र में बंध जाते हैं- वह है जायसी की सृजनात्मकता। उनको इसी सृजनात्मक क्षमता के कारण जायसी अपने समकालीनों में सबसे सशक्त कवि के रूप में दिखाई देते हैं। जायसी के मूल्यांकन में साही की काव्य-दृष्टि ही उनके आलोचना के प्रतिमान बने। साही ने आलोचक की तरह कोई बड़ा दावा नहीं किया। वे इस बात को बखूबी समझते थे कि आलोचना किसी साहित्यिक कृति की संवेदना को जबरदस्ती खींचकर पाठक तक पहुँचाने का काम नहीं कर सकती। वह अधिक से अधिक, उसे विविध प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त कर एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड़ सकती है। उन्हीं के शब्दों में कहा जाए तो रेडियो की सूई को उचित लहर-मान पर लाकर लगा भर देना, आलोचना का काम है। यह कहना गलत नहीं होगा कि जायसी के विश्लेषण में उन्होंने यही कार्य किया।

साही मानते हैं कि जायसी के मूल्यांकन में पूर्वाग्रहों का स्थान ज्यादा रहा है। यानी कि उनको एक बद्ध संस्कार से ही मूल्यांकित किया गया है। यह संस्कार शुक्ल जी के जायसी संबंधी आलोचना से निर्मित हो गया था। ''कवि और मनुष्य के रूप में जायसी की तलाश करने का मूल उद्देश्य यह रहा है कि जायसी को सूफी मानने की जो बद्धमूल धारणा हिंदी शोध और आलोचना में बन गयी है, उसकी छानबीन की जाय।... यह धारणा हिंदी साहित्य में इतनी गहरी प्रविष्ट हो गयी है और इसे इतना विद्वानों और जायसी-विशेषज्ञों का समर्थन प्राप्त है कि तसव्वुफ से अलग हटकर जायसी पर विचार करना असंभव हो गया है।''[10] इसके साथ ही आगे वे कहते हैं कि ''तसव्वुफ, बल्कि सूफी संप्रदाय के चौखटे में जायसी को कसने की शुरुआत ग्रियर्सन ने की...ग्रियर्सन की मान्यताओं पर आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रतिष्ठित मुहर लगायी।''[11] इसलिए साही जायसी की उधेड़बुन करते हैं। वे लिखते हैं कि ''जायसी के व्यक्तित्व और उनकी कृति पद्मावत के चारों ओर सूफीवाद का इतना मलबा इकठ्ठा हो गया है कि कवि और उसकी कविता का साक्षात्कार करने के लिए सूफीवाद की इस लगभग बद्धमूल धारणा की कुछ विस्तार से उधेड़बुन करना जरूरी है।''[12] अपनी दृढ़ आलोचकीय विवेक के आधार पर वे सूफीवाद के चौखटे में बंद जायसी को आजाद कराने का सफल प्रयत्न करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जायसी सूफी सिद्ध फकीर नहीं हैं और न ही पद्मावत सूफी ग्रंथ है, बल्कि 'जायसी हिंदी के पहले विधिवत कवि हैं', आत्मसजग कवि हैं और कवि होने का जिसका अपना प्रबल दावा भी है।

'पद्मावत' कृति के विश्लेषण के पूर्व साही जायसी के व्यक्तित्व की उधेड़बुन करते हैं और अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की राय को उधेड़ कर रख देते हैं। उनको सूफी के प्रभामंडल से निकालने की कोशिश करते हैं उनकी दृष्टि में जायसी का व्यक्तित्व और स्वभाव एक बौद्धिक कवि के ढंग का है, सूफी संत या बाबा का नहीं। इसके लिए सबसे पहले वे पद्मावत के उन अंशों को आधार बनाते हैं जिसमें कवि होने के दावे का उल्लेख मिलता है। यथा,

''मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसू।
जेइ मुख देखा तेइ हँसा सुना तो आये आँसू॥''[13]
''एक नैन कबि मुहमद गुनी।
सोई बिमोहा जेहि कबि सुनी॥''[14]

इन पंक्तियों में साही ने जायसी के कवि रूप को लक्षित किया, कोई बाबा या संत के रूप में नहीं। साही के लिए जायसी एक संवेदनशील कवि के साथ-साथ एक 'अलीक विचारक' भी हैं। ''जायसी एक आत्म-सजग, आत्म-विश्वास और अत्यंत संवेदनशील कवि थे। एक सशक्त किंतु अलीक विचारक भी थे। उनकी अनुभूति में वह गहरी तीव्रता भी है जो सृजनशीलता को मनुष्य के प्राणतत्त्व से जोड़ती है। इसकी संभावना बहुत ही कम है कि वे साधु बाबा या सूफी या फकीर भी रहे हों, बल्कि जो भी संकेत मिलते हैं, वे इस संभावना के विरुद्ध जाते हैं। यह भी संभव है कि जायसी न केवल किसी मठ से नहीं जुड़े बल्कि किसी दरबार से भी नहीं जुड़े। इसके कारण उन्हें उपेक्षा और सम्भवत: गगलतफहमी का भी शिकार होना पड़ा।''[15] वे मानते हैं कि जायसी के काव्य कृति के चारों ओर से सम्प्रदायिक घेरा बंदी कर दिया गया है। अगर इस आधार पर भी उन्हें हम सूफी मानते हैं तो वे कुजात सूफी ही रहे होंगे। ''बहरहाल, इतना तो कहा ही जा सकता है कि जायसी यदि सूफी थे भी, तो न सरकारी सूफी थे, न मठी। अगर डॉ. लोहिया के शब्दों का इस्तेमाल करें तो कुजात सूफी रहे हों, तो हों।''[16] जिस प्रकार से साही ने जायसी को सूफी मतवाद के चौखटे से मुक्त कराने में अपने आलोचकीय विवेक का परिचय दिया है उसके विषय में विजयमोहन सिंह लिखते हैं कि ''सबसे पहले उन्होंने इस धारणा या स्थापना को छिन्न-भिन्न किया है कि जायसी मूलत: सूफी संत थे और पद्मावत सूफी सम्प्रदाय से प्रभावित काव्य है। साही इस साम्प्रदायिकता की जड़ ही खोद डालते हैं क्योंकि एक तो उनकी मान्यता है कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता 'मूलत:' काव्य और रचना विरोधी होती है और दूसरे यह कि जायसी किसी भी 'सम्प्रदाय विशेष' के कवि नहीं थे। इस सारे मायाजाल से जायसी तथा पद्मावत को मुक्त शुद्ध कवित्व का उद्घाटन ही साही जी का उद्देश्य है। इस क्रम में उन्होंने जो प्रमाण, तथ्य तथा तर्क दिए हैं वे शोधार्थियों के लिए तो उपादेय हैं ही, कविता या रचना की निहित स्वार्थों द्वारा किस प्रकार जकड़बंदी की जाती है और उसे उस मकड़जाल से मुक्त करना कितना जरूरी है यह भी इस विश्लेषण से पता चलता है।''[17]

साही साहित्य को किसी भी विचारधारा से मुक्त रूप में देखने के पक्षपाती हैं। उनकी मूल प्रतिज्ञा श्साहित्यश् के प्रति थी, किसी विचारधारा के प्रति नहीं। इसलिए वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ''हमारी प्रतिबद्धता तसव्वुफ के प्रति नहीं है, हमारी प्रतिबद्धता जायसी की कविता के प्रति है।''[18] साही की इस प्रतिबद्धता की खोज करते हुए रामबक्ष लिखते हैं कि ''साही की यह चिंता श्नयी समीक्षाश् से आयी है। उनके अनुसार कवि अपनी 'कविता' के कारण विचारणीय होता है, 'कवियेत्तर' कारणों से नहीं। कविता में 'कविता' महत्त्वपूर्ण होती है, कविता में विचार दर्शन या अन्य कोई चीज नहीं। यदि किसी कवि के पास कोई 'दर्शन' है तो भी वह कवि उस 'दर्शन' के कारण मूल्यवान नहीं है, वरन् अपनी 'कविता' के कारण ही मूल्यवान या निरर्थक है।''[19] विजयदेव नारायण साही ने जायसी के कवि-व्यक्तित्व का जो चित्र खींचा, वह 'नयी समीक्षा' द्वारा प्रस्तुत कवि-व्यक्तित्व का चित्र है। उन्होंने जायसी को समकालीन दृष्टि से विवेचित किया है- ''जायसी ने लिखा चाहे सोलहवीं शताब्दी में हो, लेकिन उन्हें वस्तुत: आविष्कृत इस बीसवीं शताब्दी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया। इस अर्थ में बीसवीं शताब्दी के ही कवि हैं लेकिन उनकी सृजनशीलता एक गहरे अर्थ में आधुनिक है।''[20] साही मानते हैं कि जिस परिवेश एवं परिस्थिति में जायसी रचना कर रहे थे उस समय उनके लिए यह कठिन चुनौती थी कि कैसे समाज के तमाम वर्गों के बीच सामंजस्य पैदा किया जाए। इसी चुनौती को कबीरदास ने अपने तरीके से स्वीकार किया था। व्यवस्था के विरोध में कबीर का प्रतिरोध ज्यादा प्रबल था, इसमें कोई संदेह नहीं है। ''कबीरदास के लिए इस घात-प्रतिघात के परिणाम बर्दाश्त के बाहर हैं। वे जल्दी-से-जल्दी एक हल और, संभव हो तो, एक नया संगठन खड़ा करना चाहते हैं जो मुल्लाओं और ब्राह्मणों से अलग लोगों को रास्ता दिखा सके।''[21] परंतु साही के अनुसार, ''जायसी कबीरदास की परिणति भी देख चुके थे। सारी तेजी और सारा प्रतिरोध उस विशिष्ट समाज में एक नये पंथ को जन्म देकर शेष समाज की धारा से कट जाने के जोखिम में पड़ गया था।''[22] लिहाजा जायसी के लिए आवश्यक भी था कि ऐसे किसी भी मतवाद की स्थापना से बचें ताकि समाज के विभिन्न वर्णों के बीच सामंजस्य की स्थिति बनी रहे। उसी प्रक्रिया में जायसी अपने समय की सांस्कृतिक टकराहट के गूँज-अनुगूँज के बीच मनुष्य के बीच में मनुष्य की अस्मिता की तलाश करते हैं। ''जायसी का

प्रस्थान-बिंदु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिंता का मुख्य ध्येय मनुष्य है- मनुष्य जैसा कि वह सामान्य जिंदगी जी में उठता-बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध में वीरता और कायरता दिखाता है, राज्य स्थापित करता है, छल-कपट, बेईमानी और कमीनापन करता है, सम्प्रदाय स्थापित करता है, बटोर करने के लिए नारे लगाता है और इस सबके बाद अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है। अपनी मूल प्रकृति में पद्मावत एक त्रासदी है...शायद हिंदुस्तान या संभवत: एशिया की धरती पर लिखा हुआ एकमात्र ग्रंथ है।''[23]

यहाँ यह बात भी ध्यातव्य है कि जायसी के इस मनुष्य के लिए संप्रदायगत संबंध आवश्यक नहीं है। यह अकारण नहीं है कि जायसी ने अपनी रचनात्मकता के केंद्र में रत्नसेन, पद्मावती, नागमती जैसे चरित्र को प्रस्तुत किया। वर्तमान समय में यह भले ही सामान्य सा तथ्य लगे लेकिन उस समय जब हर धर्म तथा संप्रदाय के अपने-अपने मठ आदि थे तब जायसी ने हिंदू-चरित्र को महानायक के रूप में बिरादरी से बाहर हो जाने के खतरे के बावजूद प्रस्तुत किया। जबकि वे किसी पारलौकिक या मिथकीय सत्ता के माध्यम से भी अपने उद्देश्य को पूरा कर सकते थे लेकिन उन्होंने वर्तमान के धरातल पर काल के अनेक आयामों को एक किया है। साही के अनुसार, ''जायसी के माध्यम से हिंदी साहित्य ने न सिर्फ अपने युग की, बल्कि युगों के भीतर की कड़कड़ी हुई मानवीय विषाद की तस्वीर देखी जिसमें निश्वलंक आदर्श हैं और बहुत ही कड़वे यथार्थ भी हैं, झिलमिलाती यूटोपिया भी है और रिश्वतखोरी पर चलते हुए कारागार भी हैं, सत और साका भी है और छल से भरा हुआ विध्वंसकारी राजहठ भी है।''[24]

जिस दृष्टिकोण को आधार बनाकर साही जायसी की व्याख्या करते हैं उसको स्पष्ट करते हुए अनिल त्रिपाठी ने लिखा है कि ''साही मानते हैं कि 'बारम्बार बदलते परिवेश में मनुष्य को परिभाषित करना साहित्य की जिम्मेदारी है'। जायसी भी अपने समय के मनुष्य को परिभाषित कर रहे थे जिसमें आदर्श, यथार्थ एवं झिलमिलाती यूटोपिया थी और साही जायसी के मनुष्य की एक नयी व्याख्या। अक्सर ऐसा होता है जब कोई आलोचक अपने समसामयिक प्रश्नों एवं उसकी जटिलताओं में अपने विवेक के लिए एक नया आधार बनाता है तो वह उस आधार को समकालीन समय एवं इतिहास पर लागू करता है। वह इस आधार को वर्तमान और अतीत की कसौटी पर कसता है। साही अपने समकालीन चिंतन के केंद्र में मनुष्य को परिभाषित करने वाले आधारों को जायसी के चरित्र पर घटित करते हैं। उसी क्रम में नयी कविता का साधारण मनुष्य एवं जायसी की कविता का मनुष्य एकमेव हो जाता है, जिसके अपने आदर्श, यथार्थ एवं यूटोपिया हैं और अंत में ये सारे आदर्श, यथार्थ एवं यूटोपिया यथार्थ के धरातल पर ट्रैजिक विजन की ही सृष्टि करते हैं।''[25] चित्तौड़गढ़ विजय करने के बाद अल्लाउद्दीन उत्साहित और उत्कंठा से भरा हुआ जब पद्मावती को प्राप्त करने जाता है तो उसे वहाँ केवल मिलती है एक मुट्ठी चिता की राख अर्थात् जिसमें सब कुछ भस्म हो चुका है। हत् भाग्य और हताश सुलतान चिता से एक मुट्ठी राख उठाता है और उसे हवा में उड़ा देता है-

''छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाई पिरथिमी झूठी।''[26]

इस एक मुट्ठी राख को हवा में उड़ाकर उसे प्रतीत होता है कि 'सारी पृथ्वी झूठी है।' ''मनुष्य के जीवन की इससे बड़ी त्रासदी और क्या हो सकती है! 'पद्मावत' इसी 'मायालोक' के निस्सारता की गाथा है जिसका मूलधन केवल एक मुट्ठी धूल है। इस विराट 'विषाद गाथा' को विजयदेवनारायण साही ने अपनी जिस अनोखी समीक्षा दृष्टि से उद्घाटित कर हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह आधुनिक हिंदी समीक्षा में अन्यतम उदाहरण है।''[27]

साही अपने समय के विचारधारा बनाम अनुभूति के सवाल को जायसी के यहाँ 'सूफीवाद' और 'बौद्धिक सघनता' के रूप में रखते हैं, ''साहित्य में किसी विचारधारा या दार्शनिक सिद्धांत का वहन करना एक बात है और अपने युग की सम्पूर्ण चिंतनशीलता में उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात करना दूसरी बात है। यही आत्मस्थ चिंतनशीलता गंभीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है।''[28] 'बौद्धिक सघनता' साही के लिए कविता की कसौटी है इसलिए उन्होंने 'जायसी' पुस्तक में 'बौद्धिक सघनता' का बार-बार प्रयोग किया है। वे संभवत: उसे रचना और समीक्षा के लिए अनिवार्य मानते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यह पदबंध 'बौद्धिक सघनता' साही की समीक्षा-दृष्टि की रीढ़ है। 'बौद्धिक सघनता' एवं 'विचारधारा की प्रतिबद्धता' में वे अंतर मानते हैं इसलिए पद्मावत के कई अंशों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों में अंतर को स्पष्ट करने के लिए वे पद्मावत में वर्णित 'तोते' और 'पिंजरे' का उदहारण लेते हैं और बताते हैं कि साम्प्रदायिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आसानी से 'पिंजरे

को शरीर' और 'तोते' को आत्मा का प्रतीक माना जा सकता (माना भी गया) है। किंतु वे इस प्रसंग के 'वाच्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' दोनों के संश्लिष्ट अर्थ को महत्त्व देते हुए कहते हैं कि इससे अर्थ में तीव्रता, वैचारिक तरंगानुकूलता और भावों का समायोजन हो जाता है और इससे एक अर्थ का विस्तार करती हुई झंकार उत्पन्न होती है जिसे 'बौद्धिक सघनता' कहा जा सकता है। इसी व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए वे आगे कहते हैं कि 'पिंजरे' से 'तोते' के उड़ जाने बाद पद्मावती तथा सखियों के बीच का जो कथोपकथन है उसके संकेत, प्रतिध्वनियाँ और उससे उत्पन्न सर्जनात्मक तरंगे जो संकुल प्रभाव उत्पन्न करती हैं। यह केवल चित्रात्मक या भावात्मक ना होकर उसका सम्मिलित उद्रेक है जिसमें 'विचार' और 'भाव' दोनों संयुक्त हैं-यही 'बौद्धिक सघनता' है। यहाँ आकर कोई संदेह नहीं रह जाता है कि 'बौद्धिक सघनता' से साही जी का तात्पर्य 'विचारों' और 'भावों' का रचनात्मक संयोजन ही है। आई.ए. रिचर्ड्स, शुक्ल जी, नामवर जी, और मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि में भी हम इसी 'संयोजन' की केन्द्रीयता देख चुके हैं। साही जी तक आते-आते यह हिंदी समीक्षा की एक प्रधान एकसूत्रता का प्रमाण बन जाता है।''[29] साही अंततः अनुभूति संपन्न 'बौद्धिक सघनता' का 'विचारधारा की प्रतिबद्धता' पर विजय बताते हैं। 'बौद्धिक सघनता' एवं 'विचारधारा' के सवाल को साही पद्मावती की व्याख्या से भी जोड़ते हैं। बौद्धिक सघनता और वैचारिक प्रतिबद्धता के अंतर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमारे सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न स्वयं पद्मावत की व्याख्या है। जिस पर अब तक के सभी आलोचकों और विद्वानों की दृष्टि रही है। शुक्ल जी ने पद्मावती को भागवत प्रतीक के रूप में देखा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने पद्मावती की इस आध्यात्मिक भूमिका के साथ विभिन्न स्थलों से जायसी की चौपाईयों की व्याख्या करके पद्मावती के पारसरूप, जगव्यापी, प्रतिबिम्बवाद, विभिन्न बाधाओं के पार चमकने वाले परम लक्ष्य की भाँति व्याख्यायित किया।''[30]

साही सवाल करते हैं कि ''लेकिन यह सारी व्याख्याएँ सारा प्रतिबिम्बवाद या प्रतीकवाद आधी कहानी या सिंहल-लोक वाली पद्मावती पर ही लागू होती है, बाद वाली पद्मावती इस विश्व-ज्योति की व्याख्या में नहीं समाती। क्यों?''[31] इस सवाल के साथ ही साही पद्मावत के विश्लेषण की ओर अग्रसर होते हैं और पद्मावत के प्रारम्भिक और अंत के अंशों से संकेत ग्रहण कर पूरी रचना की आंतरिक अन्विति को एक साथ विश्लेषित करते हैं। पद्मावत के इस आंतरिक अन्विति के विश्लेषण में ही साही एक गम्भीर आलोचक के दायित्वों को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि ''यों भी आलोचक और व्याख्याकार का यह कर्त्तव्य होता है कि वह काव्य-कृति को सम्पूर्ण इकाई के रूप में आदि से अंत तक ध्यान में रखे और जब कवि बार-बार इस पर जोर दे रहा हो तब यह कर्त्तव्य और जरूरी हो जाता है।''[32] लेकिन वे देखते हैं कि इस दायित्वों का निर्वाह नहीं हो पाया है। खासतौर से जायसी के सन्दर्भ में ''पद्मावत को लोगों ने खंडित करके देखा, जिन्हें तसव्वुफ चाहिए था उन्होंने उत्तरार्द्ध को भुला दिया और अपनी दृष्टि सिंहल-लोक पर जमा दी। जिन्हें चित्तौड़ की वीरगाथा का रोमांच चाहिए था उनके लिए सिंहल एक लंबी और अनावश्यक भूमिका मात्र रह गया। उन्होंने पद्मावत को इतिहास मात्र ही समझा।''[33] इसके विपरीत साही पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के बीच वे एक पुल देखते हैं जिससे निरंतर आवाजाही रचना के भीतर मौजूद है। इसलिए वे कहते हैं कि ''पद्मावती जिंदगी का दर्शन नहीं, जिंदगी है वह जायसी का तसव्वुफ नहीं जायसी की कविता है।''[34]

यहाँ एक बात और गौर करने वाली यह है कि साही 'रचना' में ऐतिहासिकता की खोज को भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देते हैं। उनका मानना है कि यह भी वैसा ही आरोपण है जैसा की वैचारिक प्रतिबद्धता का। यह बात पूरी तरह से ठीक न भी हो तो इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'पद्मावत' के संदर्भ में वे ऐसा ही सोचते हैं क्योंकि जायसी के संदर्भ में एक जगह वे कहते भी हैं कि पद्मावत को या सिंघल द्वीप को हम यदि इतिहास लोक के रूप में देखते हैं तो एक यही नहीं सिद्ध कर सकते कि उसकी कथा ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है और दूसरे कि इतिहास लोक में उस आन्तरिकता के लिए स्थान नहीं होता जो रचना के लिए अनिवार्य होती है। लेकिन हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि साही ने पद्मावतकालीन समाज को नजरअंदाज करके पद्मावत का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया; बल्कि उनके सामने पद्मावत-कालीन समाज था जिसको ध्यान में रख कर ही उसका विश्लेषण किया। उन्होंने माना है कि सामंती समाज में सत्ता की निरंकुशता के कारण लोगों में अपरिचय तथा अलगाव ही पैदा होता है। जो कुछ भी सुन्दर और असुंदर होता है उसके बीच की भेद रेखा भी नष्ट हो जाती है। ''पद्मावत सामंती समाज में नैतिकता,

मानवता, मूल्यों और सभी प्रकार की कोमलताओं के निस्सरण और विनाश की ही अवसाद या 'विषाद की गाथा' है। कथा के अंत में रतनसेन के साथ पद्मावती और नागमती दोनों का 'सती' हो जाना कोई 'गौरवगान' नहीं है, बल्कि इसी विषाद की चरम परिणति है। 'सामंती समाज' अंत में एक मुट्ठी राख के रूप में ही अवशिष्ट रह जाता है।''[35]

निष्कर्ष : कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि साही के आलोचकीय वितान में जायसी एवं उनकी कृति पद्मावत का एक नवीन संस्कार निर्मित हुआ। जो अपने समकालीन आग्रह से निर्मित हुआ। इसीलिए साही को जायसी बने बनाये चौखटों के विपरीत एक मुक्कमल कवि के रूप में दिखे। उनकी कृति पद्मावत 'जिंदगी की कविता' ठहरी। अंत में यह कहना गलत नहीं होगा कि साही के आलोचकीय वितान में जायसी संबंधी चिंतन में एक मौलिक प्रयास है। वैसे तो साही के कई निष्कर्षों से असहमति हो सकती है पर यह सच है कि जायसी संबंधी अध्ययन को एक नयी अर्थ ध्वनि देने के क्रम में साही का योगदान विशिष्ट है।

पोस्ट- डॉक्टोरल फेलो (आई.सी.एस.एस.आर.)
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : abidhusaindu@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा, हरिमोहन (सं.), निबन्धों की दुनिया विजयदेवनारायण साही, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2007, पृ. 8
2. जैन, निर्मला, हिंदी आलोचना बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1992, पृ. 86
3. मिश्र, सत्यकाम, तिवारी विनोद (सं.), विजयदेव नारायण साही, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृ. 16
4. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2004, पृ. 112
5. सिंह, विजयमोहन, बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 240
6. वही, पृ. 241
7. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2004, पृ. 2
8. वही, पृ. 2
9. सिंह, विजयमोहन, बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 241
10. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2004, पृ. 23
11. वही, पृ. 24/26
12. वही, पृ. 52
13. अग्रवाल, वासुदेवशरण (सं.), पद्मावत मूल और संजीवनी व्याख्या, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2013, पृ. 23
14. वही, पृ. 20
15. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2004, पृ. 40
16. वही, पृ. 5
17. सिंह, विजयमोहन, बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 242
18. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2004, पृ. 26
19. रामबक्ष,समकालीन हिंदी आलोचक और आलोचना, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण-1991, पृ. 216
20. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2004, पृ. 106
21. वही, पृ. 62
22. वही, पृ. 63
23. वही, पृ. 62
24. वही, पृ. 64
25. त्रिपाठी, अनिल, नयी कविता और विजयदेव नारायण साही, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2008, पृ. 82
26. शुक्ल, रामचंद्र (सं.), जायसी ग्रंथावली, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृ. 246
27. सिंह, विजयमोहन, बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 243
28. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण-2004, पृ. 67
29. सिंह, विजयमोहन, बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 245
30. साही, विजयदेव नारायण, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण- 2004, पृ. 78
31. वही, पृ. 79
32. वही, पृ. 81
33. वही, पृ. 81
34. वही, पृ. 105
35. सिंह, विजयमोहन, बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पृ. 246

विकास कुमार

महाभारत की नैतिक दुविधाएँ और आधुनिक मानवीय संकट : धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' का दार्शनिक एवं साहित्यिक विश्लेषण

शोध सार

भारतीय समाज और सांस्कृतिक चेतना के निर्माण में महाभारत का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह महाकाव्य केवल युद्ध का आख्यान नहीं है, बल्कि धर्म, कर्तव्य, सत्ता, न्याय और नैतिकता से जुड़े जटिल प्रश्नों का गहन दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। महाभारत के पात्र और घटनाएँ मानव जीवन की गहरी नैतिक दुविधाओं को उद्घाटित करते हैं, जिनकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। भारतीय साहित्यिक परंपरा में इस महाकाव्य का निरंतर पुनर्पाठ होता रहा है, और आधुनिक हिंदी साहित्य ने भी इसे नए सामाजिक, ऐतिहासिक और वैचारिक संदर्भों में पुनर्व्याख्यायित किया है। धर्मवीर भारती का प्रसिद्ध काव्य-नाटक 'अंधायुग' महाभारत युद्ध के पश्चात् की परिस्थितियों को केंद्र में रखकर रचित है। यह नाटक युद्ध के बाद उत्पन्न विषाद, नैतिक पतन और मानवीय संकट का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण करता है। इसमें धृतराष्ट्र, गांधारी, अश्वत्थामा और कृष्ण जैसे पात्रों के माध्यम से सत्य, प्रतिशोध, नैतिक उत्तरदायित्व और सार्थकता से जुड़े जटिल प्रश्नों को सामने लाया गया है। नाटक में 'अंधत्व' केवल धृतराष्ट्र की शारीरिक स्थिति नहीं, बल्कि उस व्यापक नैतिक अंधत्व का प्रतीक बन जाता है जो सत्ता, स्वार्थ और हिंसा के कारण समाज में उत्पन्न होता है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य महाभारत में निहित नैतिक दुविधाओं का विश्लेषण करना तथा यह स्पष्ट करना है कि आधुनिक हिंदी साहित्य, विशेषत: 'अंधायुग', इन दुविधाओं को किस प्रकार समकालीन मानवीय और सभ्यतागत संकट के संदर्भ में पुनर्संदर्भित करता है। इस प्रकार 'अंधायुग' महाभारत की दार्शनिक अंतर्दृष्टियों को आधुनिक युग की नैतिक चुनौतियों से जोड़ते हुए एक गहन साहित्यिक और वैचारिक विमर्श प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द

महाभारत, नैतिक दुविधा, अंधायुग, धर्म, आधुनिक हिंदी साहित्य।

मूल आलेख

जब किसी समाज के इतिहास में कोई ऐसा त्रासद मोड़ आता है जो उसकी सामूहिक चेतना, सांस्कृतिक ताने-बाने और मानवीय मूल्यों को समूल विखंडित कर देता है, तब किसी भी संवेदनशील रचनाकार का अंतर्मन गहरे विक्षोभ से भर उठता है। सन् 1947 में घटित भारत का विभाजन मात्र एक भौगोलिक सीमा-रेखा का खिंचाव या सत्ता का हस्तांतरण नहीं था; यह उपमहाद्वीप के इतिहास का सबसे क्रूर, हिंसक और रक्तरंजित अध्याय था। इस विभाजन ने न केवल भूमि के दो टुकड़े किए, बल्कि सदियों से पोषित साझी संस्कृति, सह-अस्तित्व की अनूठी परंपरा (गंगा-जमुनी तहजीब), रक्त-संबंधों और बुनियादी इंसानी संवेदनाओं को भी बर्बरतापूर्वक छिन्न-भिन्न कर दिया।

विभाजन की इस वीभत्स हिंसा ने मानवीय गरिमा और नैतिक चेतना पर गहरे प्रश्नचिह्न लगा दिए। जिस भू-भाग ने बुद्ध की करुणा, कबीर का अक्खड़पन, गुरु नानक के प्रेम और महात्मा गांधी की अहिंसा के दर्शन को आत्मसात किया था, वही समाज रातों-रात धार्मिक उन्माद, सांप्रदायिक विद्वेष और आदिम वहशीपन की अंधी आग की चपेट में आ गया। लाखों निरपराध नागरिकों का बेरहमी से कत्लेआम, करोड़ों लोगों का अपनी जड़ों से उखड़कर बेघर हो जाना, नारियों की

अस्मत पर पाशविक प्रहार और अबोध बच्चों की निर्मम हत्याएं-यह सब किसी एकतरफा हमले की परिणति नहीं थीं, बल्कि दोनों पक्षों के मनों में संचित पूर्वाग्रहों और नफरत के उस सामूहिक विस्फोट का नतीजा थीं जिसने विवेक को पूरी तरह सोख लिया था। इस युगांतकारी सामूहिक पागलपन और मानवीय गरिमा के अप्रत्याशित अवसान ने तत्कालीन विचारकों, साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के मानस को भीतर तक हिलाकर रख दिया।

बीसवीं शताब्दी के मध्य का दौर-जब दुनिया ने हिरोशिमा-नागासाकी का परमाणु विध्वंस देखा और भारत ने बँटवारे का खूनी मंजर झेला-एक अत्यंत गहरे नैतिक व आध्यात्मिक पतन का काल था। भारती ने 'अंधायुग' के माध्यम से इसी 'आधुनिक मानवीय त्रासदी' को शब्द दिए हैं। डॉ. धर्मवीर भारती का मत है कि ''किसी भी युग का अच्छा साहित्यकार अपनी समकालीन समस्याओं और चुनौतियों से दूर नहीं रह सकता है।''[1] एक लेखक अपने दौर में उठ रहे बेचैन करने वाले सवालों का सामना करता है और उन सवालों के जवाब उसे किसी कल्पना में नहीं, बल्कि अपने ही समाज के गहरे अध्ययन और अवलोकन से मिलते हैं। अंधायुग को लक्ष्य करते हुए डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है—''अंधायुग की मूल कथावस्तु यद्यपि पौराणिक है, पर उसका रेशा-रेशा आधुनिक युग की समस्याओं तथा स्थितियों से बना है। समसामयिकता के गम्भीर दायित्व का पूर्ण निर्वहण भारती की इस कृति में मिलता है ... अन्धायुग की मौलिक प्रेरणा वर्तमान युगीन आस्थाओं का विघटन है। आधुनिक युद्ध-संस्कृति के विकृत मूल्यों तथा जर्जर विश्वासों ने कवि के गहरे भाव-बोध को विकसित किया है।''[2]

स्वाधीनता के बाद के हिंदी साहित्य में धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' एक मील का पत्थर माना जाता है। इस नाटक की समयावधि महाभारत युद्ध के अठारहवें दिन की शाम से शुरू होकर प्रभास क्षेत्र में भगवान कृष्ण के देहावसान तक फैली हुई है। इसके बावजूद, इसका आंतरिक कथ्य पौराणिक न होकर पूरी तरह से समकालीन है। नाटक के आरंभ में ही यह उद्घोषणा की जाती है कि यह ऐसा समय है जहाँ धर्म, नीति और मर्यादाएं तो मौजूद हैं, किंतु वे दृष्टिहीन हो चुकी हैं। यहाँ अंधापन केवल राजा धृतराष्ट्र की शारीरिक कमी तक सीमित नहीं है, बल्कि यह मनुष्य, व्यवस्था और समाज की वैचारिक व नैतिक शून्यता का प्रतीक है। महाभारत के संग्राम को अक्सर धर्म और अधर्म की लड़ाई के रूप में देखा जाता है, किंतु अठारहवें दिन तक यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी पक्ष शत-प्रतिशत सत्य के मार्ग पर नहीं था। जहाँ कौरव दल स्पष्टत: अधर्म के साथ था, वहीं पांडवों ने भी जीत हासिल करने हेतु 'अर्धसत्य' और धोखे का भरपूर इस्तेमाल किया। 'अंधायुग' इसी दरकते हुए सत्य और ढहती हुई मर्यादाओं को अपना आधार बनाता है। युद्ध शुरू होने पर सबसे अधिक उपेक्षा सत्य और धर्म की होती है। ''अंधी प्रवृत्तियों से परिचालित मानव अपने अंदर के मनुष्यत्व को कहीं खो देता है और उसके समक्ष कोई मानदंड नहीं रहता है। आधुनिक बोध के परिप्रेक्ष्य में 'अंधायुग' का यह प्रतिपाद्य भी हो सकता है जिसके अनुसार किसी भी युद्ध में सत्य का पक्ष पहले खंडित होता है। कराहते हुए घायल सत्य को रौंद दिया जाता है और संपूर्ण मर्यादाएं, नैतिक मान्यताएं टुकड़ों में बंट कर छटपटाने लगती हैं।''[3] इन प्रवृत्तियों को गांधारी के शब्दों में देखा जा सकता है -

''मैंने कहा था दुर्योधन से
धर्म जिधर होगा ओ मूर्ख
उधर जय होगी
धर्म किसी ओर नहीं था लेकिन
सभी थे अंधी प्रवृत्तियों से परिचालित।''[4]

समकालीन परिप्रेक्ष्य में, यह द्वितीय विश्वयुद्ध की उस कड़वी सच्चाई को दर्शाता है जहाँ मित्र राष्ट्रों और धुरी राष्ट्रों, दोनों ही पक्षों ने मानवता को शर्मसार करने वाले जघन्य कृत्य किए। अंतत: युद्ध ने किसी भी उलझन को नहीं सुलझाया, बल्कि इसने शीत युद्ध और परमाणु हथियारों की अंधी दौड़ जैसी नई और भयानक त्रासदियों को जन्म दिया। युद्ध की चपेट में केवल देह नहीं आता मन भी आता है। देह तो निकल जाता है युद्ध से लेकिन मन का हिंसक हो जाना पूरी मानव सभ्यता के लिए अधिक खतरनाक साबित होता है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र के निवेदन में स्वीकार किया है कि ''मुझे ऐसा लगा, मानो, युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो।''[5]

वर्तमान में चले रहे रूस यूक्रेन युद्ध हो या अमेरिका ईरान युद्ध हो दोनों ने यह सिद्ध किया है कि युद्ध में विजय किसी की नहीं होती केवल पराजय होती है मानवता की। यह युद्ध केवल दो देशों का राजनीतिक मतभेद नहीं है। यह वास्तव में दो भिन्न सभ्यताओं के अहंकार, वर्चस्व की अंधी दौड़ और

एक ऐसी हिंसक व्यस्था के जन्म का सूचक है जहाँ न्याय, पवित्र, मर्यादा, मानवता, नैतिकता नेपथ्य में चले गए हैं। स्वयं को शक्तिशाली बनाने और मानने की सोच ने मानव को मनुष्यता से दूर खींचकर पशुता के निकट ला दिया है। इस हिंसक व्यवस्था की तरफ इशारा करते हुए धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' की स्थापना में संशय व्यक्त करते हुए लिखा है–

''राज शक्तियां लोलुप होंगी
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिप कर दिन काटेगी।''[6]

मानव सभ्यता के विकास के साथ यह उम्मीद की जाती रही है कि मनुष्य अधिक मानवीय और संवेदनशील होगा। लेकिन आदर्शों और मूल्यों से रहित यह तथाकथित विकास यात्रा पूरी मानवता को एक 'अंधे युग' की तरफ ले जा रही है। आज के समय में जिस प्रकार मानवीय करुणा घट रही है, चारित्रिक पतन हो रहा है और लोग अपनी हदों को पार कर रहे हैं, वह समाज को सीधे विनाश के मार्ग पर धकेल रहा है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाखून क्यों बढ़ते हैं निबंध में स्वीकार किया है कि ''मनुष्य की बर्बरता घटी कहाँ है,वह तो बढ़ती जा रही है।''[7]

इस नाट्य-प्रस्तुति का सबसे मर्मस्पर्शी और शक्तिशाली पात्र अश्वत्थामा है। वह वास्तव में उस भटके हुए आधुनिक युवा वर्ग का अक्स है, जिसे अपनी पिछली पीढ़ी से उपहार में केवल प्रतिशोध, षड्यंत्र, मूल्यहीनता और विनाश ही मिला है। पिता द्रोणाचार्य के छलपूर्वक वध ने उसके भीतर के नैतिक मूल्यों और आदर्शों को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। उसकी आत्मा की छटपटाहट और अंतर्द्वंद्व उसके इस आत्म-कथन में साफ झलकती है–

''जीवित रहूंगा मैं
अंधे बर्बर पशु सा
वध, केवल वध, केवल वध
अंतिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का।''[8]

यह संवाद केवल अश्वत्थामा की मानसिक स्थिति को ही नहीं दर्शाता, बल्कि युद्ध की विभीषिका से उपजी आधुनिक मानव की उस हिंसक और आदिम प्रवृत्ति को भी बेनकाब करता है जो मर्यादाओं को ताक पर रख देती है। बंकिमचंद्र चटर्जी ने आनंदमठ में लिखा है कि ''अवस्था विशेष में मनुष्य पशु-मात्र रह जाता है।''[9] अश्वत्थामा समकालीन युग का एक ऐसा प्रतिनायक है, जिसके पास जीवन की कोई सकारात्मक दिशा या उद्देश्य नहीं बचा है; उसके भीतर केवल प्रतिशोध की एक अंतहीन और धधकती हुई ज्वाला शेष है। कृष्ण दत्त पालीवाल का विचार है कि ''प्रतिशोध, घृणा, कुंठा, संत्रास, विकृति, संशय, भय, रक्तपात, हत्या, ध्वंस, मूल्यहीनता, का अंधकार महाभारत युग की स्मृति ही नहीं दिलाता नेहरू युग के मोहभंग से उत्पन्न अंधकार को भी सामने लाता है।''[10]

धृतराष्ट्र का चरित्र केवल शारीरिक दृष्टिहीनता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह अत्यधिक पुत्र-मोह और व्यक्तिगत स्वार्थ के वैचारिक अंधेपन की चरम सीमा हैं। उनके जीवन में न्याय और सत्य की परिभाषा केवल उनके अपने हित और उनकी संतानों की सुरक्षा तक ही संकुचित है। समकालीन राजनैतिक संदर्भों में धृतराष्ट्र उस व्यवस्था और सत्ता-लोलुप तंत्र के प्रतीक हैं जो पूरी तरह से स्व-केंद्रित हो चुका है। यह एक ऐसी व्यवस्था को दर्शाता है जिसे न तो व्यापक जन-कल्याण से कोई सरोकार है और न ही नैतिक मूल्यों व मर्यादाओं से कोई सगापन। धृतराष्ट्र का यह कथन समीचीन है -

''आज मुझे भान हुआ।
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है।''[11]

युधिष्ठिर द्वारा कुरुक्षेत्र के मैदान में उच्चारण किया गया 'अर्धसत्य' (अश्वत्थामा हतोहत:...) इस कड़वी हकीकत का दस्तावेज है कि समकालीन सत्ता और राजनीति के गलियारों में पूर्ण सत्य के सहारे वजूद बनाए रखना असंभव हो चुका है। महाभारत के महाविनाश के बाद युधिष्ठिर को मिली यह जीत वास्तव में किसी पराजय से कम नहीं है। उन्हें सिंहासन और राजपाट का वैभव तो मिल जाता है, परंतु इसकी एवज में उनके भीतर की आत्मिक शांति, शुचिता और नैतिक मूल्य हमेशा-हमेशा के लिए खंडित हो जाते हैं। यह चरित्र दिखाता है कि आदर्शों की बलि देकर पाई गई सफलता अंतत: कितनी खोखली और पीड़ादायक होती है। युधिष्ठिर की आत्म-स्वीकृति में यह हताशा स्पष्ट झलक रही है-

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीत कर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है।[12]

निष्कर्ष

अंतत: यह कहा जा सकता है कि धर्मवीर भारती द्वारा

रचित 'अंधायुग' केवल महाभारत की किसी पुरानी कथा को दोहराने का प्रयास नहीं है। यह असल में आधुनिक युग के इंसान के भीतर छिपे दर्द, उसकी बेचैनी और संकट की एक सार्वभौमिक कहानी है। जब तक इस संसार में युद्ध की विभीषिका, हथियारों को जुटाने की अंधी होड़, राजनीति के भीतर का छल-कपट और गद्दी का लालच बना रहेगा, तब तक 'अंधा युग' की प्रासंगिकता और अहमियत कभी कम नहीं होगी। यह नाटक मनुष्य को अज्ञान और स्वार्थ के तिमिर से निकलकर आत्म-बोध की ज्योति की ओर बढ़ने का आवाहन करता है। हिंसा हिंसा होती है—उसका कोई सौंदर्यशास्त्र नहीं होता। किसी भी वाद के आधार पर हिंसा को मान्यता नहीं दी जा सकती। हिंसा को जायज ठहराने के लिए मनुष्यों ने नए-नए तर्क गढ़ दिए हैं लेकिन हिंसा को पूरी तरह नकार देना ही मानवता के लिए शुभ होगा अन्यथा हमारी रगों में अंधायुग पैठता चला जायेगा जो मानव सभ्यता के खतरनाक है। धर्मवीर भारती ने यह समझाने का प्रयास किया है कि अपवित्र माध्यमों से प्राप्त लक्ष्य कभी पवित्र नहीं हो सकता।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : vikasgiripoetry@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. पाण्डेय, रामकिंकर, शोध दिशा (शोध पत्रिका)-धर्मवीर भारती का साहित्य चिंतन (शोध पत्र), बिजनौर-उत्तर प्रदेश, शोध अंक-54, पृ.- 383-384 पर उद्धृत
2. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिंदी नवलेखन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ.-85
3. गौतम, सुरेश, अंधायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, साहित्य प्रकाशन, संस्करण-1973, पृ.-36
4. भारती, धर्मवीर, अंधायुग, किताब महल, नई दिल्ली, पृ.-3
5. दिनकर, रामधारी सिंह, कुरुक्षेत्र, राजपाल एण्ड सन्ज, संस्करण-2016, निवेदन
6. भारती धर्मवीर, अंधायुग, किताब महल, नई दिल्ली, पृ.-2
7. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, कल्पलता, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, पृ.-2
8. भारती, धर्मवीर, अंधायुग, किताब महल, नई दिल्ली, पृ.-30
9. चटर्जी, बंकिमचंद्र, आनंदमठ, फिंगरप्रिंट, संस्करण-2025, पृ.-23
10. (संपा.) शर्मा, योगेंद्रदत्त, आधुनिक हिंदी साहित्य के कीर्ति स्तंभ, प्रकाशन विभाग, पृ.-174
11. भारती, धर्मवीर, अंधायुग, किताब महल, नई दिल्ली, पृ.-21
12. वही, पृ.-84-85

मुस्कान गिरि

संत गुरु नानक देव की वाणी में अभिव्यक्त सामाजिक मूल्य

भारतीय जीवन दर्शन और सामाजिक व्यस्वस्था को व्यापक रूप से प्रभावित और परिवर्तित करने में मध्य-युगीन संतों-भक्तों का विशेष योगदान है। इनमें गुरु नानक देव का स्थान प्रमुख रूप से आता है। गुरु नानक उस साझी संस्कृति के प्रतीक हैं जिनमें सभी धर्मों के प्रति सदाचार और समानता का भाव स्वाभाविक रूप से देखने को मिलता है। सिक्ख धर्म को ज्ञान, ध्यान और कर्म के मार्ग पर अग्रसर करने का श्रेय गुरु नानक को जाता है। गुरु नानक बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनका अनुभव बहुत गहरा था। इसके बल पर ही वे कर्म क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। वह रुढ़िवादी नहीं थे अपितु धर्म और समाज के क्षेत्र में वह निरपेक्ष व्यवहार के पक्ष में थे। गुरु नानक जी ने 'मानव भातृत्व' और 'मानव के प्रति प्रेम और सेवा' को ही सच्ची साधना माना। गुरु नानक ने इन सिद्धांतों पर अपने विचार प्रकट करने के साथ इनका प्रचार भी किया। गुरु नानक कर्म और सेवा को सिर्फ विचारों और सिद्धांतों के माध्यम से अभिव्यक्ति करने पर बल न देकर उसे स्वयं व्यावहारिक जीवन में आचरण करने पर बल देते हैं। गुरु नानक ने धर्म की सरल और व्यावहारिक बातों को जनता के समक्ष रखा। उनका मानना था धर्म से जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह उसके आचरण और नीति के कारण ही प्राप्त होता है। वे सत्य आचरण को सबसे ऊपर मानते हैं। अपनी विशाल जीवन दृष्टि और सामाजिक बोध के कारण गुरु नानक हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच पथ परदर्शक के रूप में जाने जाते हैं। उनके बारे में कहा भी जाता है-

''नानक शाह फकीर
हिन्दू का गुरु
मुसलमान का पीर''

गुरु नानक की सामाजिक क्रांति में यात्राओं का विशेष महत्त्व है। गुरु नानक देव का मानना था कि यात्राएँ किसी भी देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विविधता को जानने का उत्कृष्ट मार्ग है। इसीलिए उनकी रचनाओ में खड़ी बोली, पंजाबी, ब्रजभाषा आदि भाषाओं की विविधता देखने को मिलती है। नानक जी सामाजिक विविधता से जुड़ने के लिए संवाद को महत्त्व देते हैं। नानक जी न केवल देश की विविधता को नजदीक से देखते हैं अपितु उसके भीतर छुपी बुराइयों को भी चिन्हित करते हैं। गुरु नानक शुरू से अंत तक अपनी सीमाओं का विस्तार करते हुए दिखाई देते हैं। उनकी मूल चेतना उस समय के समस्त सामाजिक बोध को जानने के लिए निरंतर प्रयासरत दिखाई पड़ती है। गुरु जी उस अखंड संस्कृति के प्रतीक हैं जिनमें एक साथ समस्त ब्रह्मांड का मूल तत्त्व समाहित है। मानव जीवन के चार पुरषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के द्वारा नानक जीवन संग्राम को परिभाषित करते हैं और उनका ऐसा मानना है कि इसी सन्मार्ग पर चलकर ही व्यक्ति सांसारिक जीवन से मुक्त होकर आध्यात्मिक जीवन को प्राप्त हो सकता है। गुरु नानक की यात्राओं का महत्व रेखांकित करते हुए आलोचक प्रो. कुँवरपाल सिंह ने लिखा है, ''गुरु नानक ने देश-विदेश की जितनी यात्राएँ की, शायद ही किसी संत अथवा भक्त कवि ने की हों। वे देश के हर तीर्थ स्थल पर गए। उन्होंने स्वयं सबकुछ अपनी आँखों से देखा। संन्यासियों, वैरागियों, सूफियों, योगियों, पीड़ितों, मुल्ला और मौलवियों से बात की। श्रेष्ठ मानव समाज के लिए जो भी सूत्र उन्हें मिले वे ग्रहण किए।''[1]

गुरु नानक अपनी सामाजिक यात्रा के दौरान दो चीजों पर अधिक बल देते हैं—पहला सामाजिक विषमता अर्थात् जाति-भेद, दूसरा अंधविश्वास एवं धार्मिक रूढ़ियों पर चोट करते हैं। नानक सामाजिक जीवन में समानता के लिए इन दो चीजों से मुक्ति की बात करते हैं। उनका मानना भी है कि ईश्वर बिना किसी भेद भाव के समान रूप से सभी प्राणियों में वास करता है। गुरु नानक भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त जाति-भेद पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं-

''खत्री ब्राह्मण सूद्र बैस की
जाति पूछि नहिं देता दाता''[2]

कोई भी परम्परा विश्वास पर टिकी होती है। गुरु नानक जी मानव मूल्यों में विश्वास की बात करते हैं। सत्य, अहिंसा, करुणा, प्रेम आदि मानवीय जीवन के कुछ बहु उपयोगी तत्त्व हैं जो मानव को मानवता के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। गुरु नानक इन्हीं अमृत तत्त्व के सहारे अपनी सामाजिकता और उपदेश को विस्तार देते हैं। डॉ. त्रिभुवन राय ने ठीक लिखा है, ''भारतीय परम्परा के भाववादी दार्शनिकों में गुरु नानक का पना महत्व और स्थान है। दार्शनिक चिंतन सन्दर्भ में वह निस्संदेह परम्परा के रिक्थ को लेकर आगे बढ़ते हैं, परन्तु उसका विकास वह अपनी अनुभूतियों के सहारे अपने ढंग से करते हैं।''[3]

नानक जी ने मानवता को बचाने का पाठ पढ़ाया। समाज की विविधता को सुचारू रूप से चलाने के आवश्यक है कि उसमें दृष्टि एवं विचारों का वैज्ञानिक रूप हो। गुरु नानक की वाणी कर्मकांडों, धर्मकांडों के शुद्धिकरण की बात करती है। इसीलिए गुरु नानक मानव जीवन को शुद्ध एवं सुन्दर बनाने के लिए गुरु दीक्षा की परम्परा में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि-

''गुरु परदासी दुरमति खोई
जहँ देख्या तहँ एका सोई''[4]

गुरु नानक की वाणी में जीवन, आत्मा, परमात्मा आदि एक साथ कई तत्त्व समाहित मिलते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण नानक जी के उपर अपने समकालीन संतों का प्रभाव रहा है। गुरु नानक जी अपनी जीवन दृष्टि का लगातार विस्तार करते हुए दिखाई पड़ते हैं। गुरु नानक देव आरम्भ से ही जीवन को लेकर एक सरलतम मार्ग की खोज करते हैं। जिसमें समस्त समाज का हित और कल्याण संभव हो। रामधारी सिंह 'दिनकर' अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में सिक्ख धर्म की मान्यताओं के बारे में लिखते हैं, ''सिक्ख धर्म, आरंभ से ही, प्रगतिशील रहा है। जात-पांत, मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा के साथ-साथ सती-प्रथा, शराब और तम्बाकू का भी वर्जन करता है। इस धर्म ने परदे को बराबर बुरा समझा।''[5] नानक जी को वस्तुत: दो रूपों में देख सकते हैं प्रथम ऐतिहासिक व दूसरा, आध्यात्मिक। ऐतिहासिक रूप में जहाँ वे समकालीन शक्तियों से लड़ते हुए मानवता को सुरक्षित करते हैं, इसीलिए गुरु जी कहते भी हैं, अगर मानवता के कल्याण के लिए युद्ध भी करना पड़े तो मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। वहीं अध्यात्मिक रूप में ईश्वर से जुड़ने की बात करते हैं।

गुरु नानक जी अपनी शिक्षाओं में आत्मबल और सर्जनात्मक पर सबसे अधिक जोर देते हैं। उनका मानना है किसी भी मनुष्य पर ईश्वर की कृपा तभी होती है जब मनुष्य अपने आत्मबल से अपने भीतर की सभी आत्म आशंकाओं को नष्ट कर देता है तब मनुष्य स्वयं से ही परमात्मा रूपी प्रकाश से प्रदीप्त हो उठता है। मानव मन की सबसे बड़ी उपलब्धि सर्जन है। जब कोई मनुष्य अपनी शिक्षाओं अथवा विचारों से समस्त जगत का कल्याण करता है तो वह वास्तव में मानव जीवन की समस्याओं का निराकरण करता है। गुरु नानक वास्तव में मानव जीवन के कल्याण एवं पथ प्रदर्शक के रूप में आते हैं और निस्वार्थ भाव से जन-जीवन की सेवा करते हैं। गुरु नानक जब कहते हैं-

''ऐ जी न हम ऊतम नीच न मधिम
हरि शरणागति हरी के लोग
नाम रते केवल बैरागी सोग बिजोग बिसरजित रोग''[6]

गुरु नानक सामाजिक जीवन में उत्तम मध्यम की बात न करके सभी जन को ईश्वरीय सत्ता का रूप मानते हैं। उनका कहना भी है जो ईश्वर के रंग में रंगा हुआ है वही पवित्र, वैरागी और सभी व्याधियों से मुक्त है। गुरु नानक जी ने सामाजिक जीवन में जात-पात को समाप्त करने और सभी को समान दृष्टि से देखने की दिशा में कदम उठाते हुए 'लंगर' की प्रथा शुरू की। आचार्य हजारी प्रसाद द्रिवेदी ने गुरु नानक की वाणियों में निहित विराट शक्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ''जिन वाणियों से मनुष्य के अंदर इतना बड़ा अपराजेय आत्मबल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निस्संदेह अतुलनीय है।''[7]

भारतीय वेदांत आत्मा और परमात्मा की एकात्मकता पर बल देता है और दोनों को अपना अभिन्न अंग मानता है। गुरु

नानक जी भी इस दृष्टि का भी प्रसार करते हैं। वे कहते हैं आत्म-साक्षात्कार कर लेने पर मनुष्य निरंकार परमात्मा हो जाता है। गुरु नानक जब कहते हैं-

''आतमु चान्ही भए निरंकारी''[8]

वास्तव में गुरु नानक जी का यह आत्म-साक्षात्कार मानवीय मूल्यों के प्रति आत्म-बोध है। जिसमें स्वयं से प्रकाशित होकर समाज सेवा के प्रति अग्रसर होना है। गुरु नानक की वाणियों में भारतीय दर्शन की कई धाराएं शामिल हैं। डॉ. त्रिभुवन राय का भी मानना है कि ''उनकी दार्शनिक दृष्टि को बाद्बद्ध दृष्टि से देखना अधिक उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उनको दार्शनिक निष्पतियों में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि के तत्वों का एकांत अभाव नहीं, तथापि उन्हें उन्हीं के खाँचों में सीमित करना संगत नहीं।''[9] गुरु नानक अपने दीर्घ जीवन बोध में स्त्री-पुरुष समानता पर भी बल देते हैं। उनका मानना था कि समाज का उत्तम विकास तभी हो सकता है, जब स्त्री और पुरुष समान रूप से सभी सभी कार्यों में भागीदार बने। गुरु नानक जी समाज उन सभी वर्गो का प्रतिनिधित्त्व करते हैं जो सामाजिक समानता और अधिकार में अत्यंत पिछड़े और उपेक्षित हैं।

चूँकि मनुष्य जीवन भर कष्टों और दुखों से लड़ता, जीवन संग्राम से जूझता रहता है। गुरु नानक जी इस जीवन संग्राम को मानव कर्म और भाग्य से जोड़कर देखते हैं। वे कहते हैं-

''कोई वाहे को लुरणै कों पाए खलिहानि
नानक एव न जापई कोई खाए निदानी''[10]

गुरु नानक कहते हैं कि इस सृष्टि का निर्माण ही इस रूप में हुआ है कि कोई खेत बोता है, तो कोई काटता है, तो कोई खलिहान में ले जाता है परन्तु अंत में किसी को दिखाई नहीं पड़ता है कि कौन इसे खाता है। गुरु नानक इसी रूप में मानव जीवन को देखते हैं। इस संसार में मनुष्य कर्म के द्वारा ही इस संसार में जीवनयापन करता है और कर्म उपरांत शरीर से मुक्त हो जाता है। ऐसे में नानक जी मनुष्य को अहंकार, घृणा, द्वेष, पाप इन सभी विकारों से मुक्त रखकर मानव प्रेम और मुक्ति की बात करते हैं। जिसमें समस्त जगत का कल्याण निहित है। जब नानक कहते हैं-

''इस दम दा मैनूँ कीबे भरोसा,
आया आया न आया न आया
यह संसार रेन दा सुपना,
कहीं देखा, कहीं नाहि दिखाया''[11]

मनुष्य जीवन और जगत इन दो बिंदुओं के बीच लटकते एक पेंडुलम की तरह है, जिसमें जब तक ऊर्जा रहती है तब तक वह इस संसार में रहता है। ऊर्जा खत्म होती है और वह अंधकार में विलीन हो जाता है।

वस्तुत: भक्ति परम्परा के शिखर संतों में गुरु नानक जी सामाजिक क्रांति के अग्रदूत थे। जिन्होंने मानव जीवन के कल्याण के साथ-साथ मानव मुक्ति की भी बात की। गुरु जी ने सामाजिक विषमता के पीछे छिपी उन कुरीतियों को पकड़ा और दूर किया जो मानव मन के भीतर घर किए हुए थी। गुरु नानक ने सामाजिक संरक्षण के द्वारा मानवता को जीवित ही नहीं किया अपितु उसे पल्लवित और पुष्पित भी किया। सर्व धर्म समभाव के द्वारा गुरु नानक ने यह सिद्ध किया कि वास्तव में कोई मनुष्य छोटा या बड़ा नहीं होता है, जो मनुष्य सच्चा और बड़ा कार्य करता है वही बड़ा होता है। अंतत: गुरु नानक भारतीय परम्परा के उस साझी संस्कृति के प्रतीक हैं जिसमें समस्त जगत का कल्याण निहित है। इनकी वाणी में समस्त मानव कल्याण का सार निहित है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन अक्षरश: सत्य है कि ''सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यंत सीधे उद्गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकता है, यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया।''[12]

छात्रा, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110007
ई-मेल : 2018muskangiri@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. भक्ति आंदोलन : इतिहास और संस्कृति -सं. कुँवरपाल सिंह- वाणी प्रकाशन-संस्करण-2015-पृष्ठ-203
2. संत-वाणी, सं. वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण-1944, पृष्ठ-66
3. गुरु नानक : विचार और दर्शन- डॉ. त्रिभुवन राय, संत परम्परा और गुरु नानक-सं. डॉ. श्रीधर मिश्र- सत्साहित्य प्रकाशन, बंबई-संस्करण-1992, पृष्ठ-120
4. संत-वाणी, सं. वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण-1944, पृष्ठ-8

5. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2017, पृष्ठ- 293
6. संत-वाणी, सं. वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण-1944, पृष्ठ-362
7. हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास- हजारी प्रसाद द्विवेदी-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली- संस्करण-2004-पृष्ठ-90
8. संत-वाणी, सं. वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण-1944, पृष्ठ-60
9. गुरु नानक : विचार और दर्शन- डॉ. त्रिभुवन राय, संत परम्परा और गुरु नानक-सं. डॉ. श्रीधर मिश्र- सत्साहित्य प्रकाशन, बंबई-संस्करण-1992, पृष्ठ-120
10. संत-वाणी, सं. वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण-1944, पृष्ठ-490
11. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2018, पृष्ठ-55
12. हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास-हजारी प्रसाद द्विवेदी-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली- संस्करण-2004-पृष्ठ-90

मृत्युंजय कुमार शर्मा

अज्ञेय और जैनेंद्र के उपन्यासों में 'मौन' का मनोविज्ञान : अभिव्यक्ति के संकट और प्रतिरोध का दार्शनिक पाठ

शोध-सार

प्रस्तुत शोध-आलेख बीसवीं सदी के मध्य के हिंदी कथा-साहित्य के दो युगांतरकारी उपन्यासों-जैनेंद्र कुमार कृत 'त्यागपत्र' (1937) तथा सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' कृत 'शेखर : एक जीवनी' (1941) में निहित 'मौन के मनोविज्ञान' का एक सघन मनो-दार्शनिक अनुशीलन है। बाह्य यथार्थवाद और सतही सामाजिक विवरणों के कोलाहल से परे, यह अध्ययन चरित्रों के अंतर्मन के उस अनछुए भूगोल को खंगालता है जहाँ खामोशी केवल भाषा का अभाव नहीं, बल्कि सघनतम अनुभूतियों की पारगामी अभिव्यक्ति है।

शोध-आलेख स्थापित करता है कि स्थापित सामाजिक भाषा जहाँ निजता के चरम क्षणों (प्रेम, तीव्र अंतर्द्वंद्व, अपराध-बोध और मृत्यु-चेतना) को व्यक्त करने में अपर्याप्त सिद्ध होती है, वहीं चरित्रों का 'मौन' अभिव्यक्ति के इस संकट का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज बनता है। अज्ञेय के यहाँ शेखर का मौन जहाँ बौद्धिक, अस्तित्ववादी और औपनिवेशिक व पारिवारिक सत्ताओं के विरुद्ध वैचारिकी संप्रभुता का कवच है; वहीं जैनेंद्र के यहाँ मृणाल का मौन आत्मिक, दार्शनिक और सामाजिक पाखंड तथा स्त्री-दमन की क्रूर न्याय-व्यवस्था के विरुद्ध एक मूक एवं मारक प्रतिरोध है।

फ्रायड के मनोविश्लेषण और लकान के सिद्धांतों के आलोक में, यह शोध चरित्रों के अवचेतन में छिपी दमित इच्छाओं, ग्रंथियों और अचेतन तनावों को संवादों के टूटने तथा पंक्तियों के बीच के खालीपन (शिल्पगत स्पेस) के माध्यम से 'अनकहे के मनोविज्ञान' के रूप में विश्लेषित करता है। इसके अतिरिक्त, आलेख मौन की उस 'अंतहीन गूँज' का मूल्यांकन करता है जो सामने वाले (जैसे प्रमोद और शेखर) के विवेक को कुरेदकर समाज के सफलतामूलक प्रतिमानों को ढहा देती है और नैतिक रूपांतरण की जमीन तैयार करती है। अंततः, यह अध्ययन प्रतिपादित करता है कि इन उपन्यासों में 'मौन' कोई लाचारी या पराजय नहीं, बल्कि स्थापित सत्ता और सामाजिक अनुकूलन को पूरी तरह खारिज करने वाला आत्म-अन्वेषण का एक शाश्वत, अदम्य और कालजयी मानवीय विन्यास है।

बीज शब्द

अभिव्यक्ति का संकट, अनकहे का मनोविज्ञान, नैतिक प्रतिरोध, अचेतन और दमन, अस्तित्ववादी मौन, सामाजिक अनुकूलन, अंतहीन गूँज, विखंडनवादी गद्य-शिल्प।

मूल लेख

मनुष्यों के जीवन और उसके पूरे अस्तित्व का सबसे बड़ा कौतुक उसकी अभिव्यक्ति है, और इस अभिव्यक्ति का सबसे सुलभ और सहज माध्यम है-भाषा। किंतु साहित्य और जीवन का एक शाश्वत सत्य यह भी है कि भाषा केवल वहीं तक यात्रा कर सकती है जहाँ तक हमारी अनुभूतियों का धरातल समतल और व्यावहारिक हो। जैसे ही हमारी चेतना दुःख, गहरे प्रेम, समाज से मिले अपराध-बोध या मृत्यु के किसी चरम शिखर को छूती है, शब्द अपनी शक्ति खोने लगते हैं। इसी संधि-स्थल पर जन्म होता है-मौन का। मौन कोई शून्यता या भाषा का अभाव नहीं है, बल्कि वह सघनतम अनुभूतियों का वह रूप है जहाँ शब्द छोटे पड़ जाते हैं। हिंदी उपन्यास विधा के इतिहास में फणीश्वरनाथ रेणु के सामाजिक-आंचलिक यथार्थवाद के समानांतर, बीसवीं सदी के मध्य में

अज्ञेय और जैनेंद्र कुमार का आगमन मानवीय अंतर्मन के इसी अनछुए भूगोल की खोज था। इन दोनों विचारकों ने हिंदी कथा-साहित्य को उस बाहरी कोलाहल और सतही घटनाक्रमों से मुक्त किया जो केवल सामाजिक विवरणों में उलझा हुआ था, और पाठक को उस आंतरिक एकांत में ले गए जहाँ चरित्रों की खामोशी उनकी बातों से कहीं अधिक मुखर थी।

जैनेंद्र कुमार का उपन्यास 'त्यागपत्र' (1937) और अज्ञेय की कालजयी रचना 'शेखर : एक जीवनी' (1941) बाहरी सामाजिक बंधनों और आंतरिक मानसिक द्वंद्वों के बीच झूलते हुए मानवीय 'आत्म' की खोज हैं। असली बात यह है कि इन दोनों ही आख्यानों की धुरी समाज से बगावत करने वाले दो ऐसे चरित्र हैं जिनका सबसे बड़ा संबल उनकी चुप्पी है। 'शेखर : एक जीवनी' का नायक शेखर जहाँ व्यवस्था, परिवार और स्थापित रूढ़ियों के खिलाफ एक बौद्धिक और विद्रोही मौन धारण करता है, वहीं 'त्यागपत्र' की मृणाल सामाजिक पाखंड और लांछन के क्रूरतम प्रहारों को बिना किसी विलाप के, एक मूक और आत्मघाती संयम के साथ सहती है। यहाँ मनोविश्लेषण और दर्शन का एक अत्यंत जटिल अंतर्संबंध निर्मित होता है। इन उपन्यासों में मौन केवल एक मानसिक अवस्था नहीं है, बल्कि वह एक दार्शनिक युक्ति है। यह मौन कभी समाज के पाखंड को बेनकाब करने वाला एक हिंसक हथियार बन जाता है, तो कभी स्वयं के भीतर सुलगती इच्छाओं का उदात्तीकरण करने का माध्यम। इस शोध का उद्देश्य इन्हीं दो रचनाओं के आलोक में मौन के इसी बहुआयामी मनोविज्ञान को खंगालना है, और यह देखना है कि कैसे यह चुप्पी अंततः उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय मानस के अभिव्यक्ति के संकट और नैतिक प्रतिरोध का सबसे प्रखर दस्तावेज बन जाती है।

मानवीय चेतना का यह एक बुनियादी अंतर्विरोध है कि वह अपनी सबसे गहरी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए पूरी तरह उस भाषा पर निर्भर है, जिसका निर्माण समाज के आपसी व्यवहार के लिए हुआ है। भाषा मूलतः बाहरी दुनिया के कामकाज को संचालित करने का एक सामूहिक औजार है। किंतु जब व्यक्ति अपनी निजता के चरम क्षणों में होता है-जहाँ प्रेम, मृत्यु का बोध, भय या तीव्र अंतर्द्वंद्व उसे घेर लेते हैं-तब यह सामाजिक भाषा अचानक अपर्याप्त और अक्षम सिद्ध होने लगती है। अज्ञेय और जैनेंद्र कुमार दोनों के कथा-साहित्य का केंद्रीय संकट यही है। वे अपने उपन्यासों में उस सीमांत बिंदु की तलाश करते हैं जहाँ शब्द थककर गिरने लगते हैं और अनकहा अपने पूरे यथार्थ के साथ मुखर हो उठता है।

'शेखर : एक जीवनी' का नायक शेखर बचपन से ही शब्दों के प्रति एक अजीब किस्म की छटपटाहट से भरा हुआ है। वह भाषा को समाज द्वारा थोपा गया एक कृत्रिम नियम और रूढ़ि मानता है। उपन्यास की शुरुआत ही फांसी की कोठरी के उस भयावह सन्नाटे से होती है जहाँ मृत्यु बिल्कुल सम्मुख खड़ी है, और जब मृत्यु इतनी निकट हो, तो जीवन की पूरी स्मृतियाँ किसी भाषा के माध्यम से नहीं, बल्कि दृश्यों और उनके बीच फैले मौन में कौंधती हैं। विशेषकर शेखर और शशि के संबंधों के बीच जो मौन व्याप्त है, वह कोई अजनबीपन या दूरी नहीं, बल्कि अगाध आत्मीयता का सूचक है। उपन्यास का वह दृश्य अत्यंत मर्मस्पर्शी और मनोवैज्ञानिक है जब शेखर और शशि वर्षों बाद मिलते हैं; उनके भीतर भावनाओं का एक महासागर हिलोरे ले रहा है, किंतु होठों पर एक गहरी खामोशी तारी है। अज्ञेय यहाँ शब्दों की विफलता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि शशि ने कुछ नहीं कहा, उसकी आँखें झुकी थीं और उसके हाथ शेखर के हाथों में निश्चल थे। क्या शब्दों की सचमुच कोई आवश्यकता थी? जहाँ प्राणों का प्राणों से सीधा साक्षात्कार हो रहा हो, वहाँ शब्द केवल व्यवधान बन जाते हैं। अज्ञेय यहाँ यह स्थापित करते हैं कि तीव्रतम अनुभूतियाँ अमूर्त होती हैं, और शेखर जब शशि के प्रति अपने प्रेम या समाज के प्रति अपने आक्रोश को व्यक्त करना चाहता है, तो स्थापित शब्दावलियाँ उसे घिसी-पिटी लगती हैं। शशि की बीमारी और उसके अवसान के क्षणों में शेखर का यह मौन और गहरा जाता है, जहाँ वह देखता है कि जिस भाषा से उसने दुनिया बदलने के सपने देखे थे, वह उसकी सबसे प्रिय आत्मा के विदा होने के दुःख को समेटने में पूरी तरह अक्षम हो चुकी है। इसी अभिव्यक्ति के संकट का एक दूसरा और अधिक विदारक रूप जैनेंद्र कुमार के 'त्यागपत्र' में दिखाई देता है, जो जैसे मौन के ही ताने-बाने से बुना गया एक महाकाव्य है। मृणाल का चरित्र हिंदी साहित्य का एक ऐसा विरल चरित्र है, जो अपनी पीड़ा को कभी विलाप, आत्म-दया या तर्कों की भाषा में तब्दील नहीं होने देता। जब उसकी बड़ी बहन जैसी बुआ या उसका भाई उस पर लांछन लगाते हैं, या जब उसका पति उसे देह की तथाकथित अशुद्धता के नाम पर घर से निष्कासित कर देता है, तो मृणाल कोई सफाई नहीं देती और न ही कोई चीख-पुकार मचाती है। उसकी यह 'संवादहीनता' समाज की न्याय-व्यवस्था पर एक

बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ी करती है। प्रमोद, जो इस पूरी कहानी का द्रष्टा है, वह मृणाल की इस चुप्पी से भीतर तक कांप जाता है। जब वह अपनी बुआ को उस बदहाल स्थिति में कोयले वाले के घर देखता है और उनसे वापस चलने का करुण आग्रह करता है, तो मृणाल का उत्तर शब्दों से ज्यादा उनकी आँखों के सूनेपन में छिपा होता है। जैनेंद्र लिखते हैं कि बुआ ने मेरी तरफ देखा, उनकी आँखों में न कोई शिकायत थी, न कोई आँसू; एक अजीब सा सूनापन था, जैसे वे इस दुनिया से बहुत दूर किसी ऐसी जगह खड़ी हों जहाँ मेरी आवाज पहुँच ही नहीं सकती थी, उन्होंने बस अपना सिर हिला दिया और वह 'ना' शब्दों की नहीं, उनके पूरे अस्तित्व की थी। मृणाल का यह मौन वास्तव में भाषा की विफलता का चरम रूप है क्योंकि जिस समाज ने उसके लिए 'न्याय' और 'अधिकार' के शब्द गढ़े थे, उसी समाज ने उसे हर स्तर पर छला है। जब व्यवस्था इतनी क्रूर हो जाए कि वह आपके सच को सुनने के लिए तैयार ही न हो, तो वहाँ बोलना व्यर्थ हो जाता है, और मृणाल समझ जाती है कि उसकी पीड़ा को व्यक्त करने के लिए समाज की भाषा में कोई शब्द बचा ही नहीं है।

यदि हम दोनों लेखकों के गद्य की बनावट का एक तुलनात्मक मनोवैज्ञानिक वितान देखें, तो अज्ञेय का मौन जहाँ अधिक बौद्धिक और अस्तित्ववादी है, वहीं जैनेंद्र का मौन आत्मिक, दार्शनिक और अत्यधिक मानवीय है। अज्ञेय के पात्र जब चुप होते हैं, तो वे अपने भीतर के 'अहम' और विचारों की उलझन को सुलझा रहे होते हैं; उनका मौन एक रचनाकार का मौन है जो दुनिया को समझने की प्रक्रिया में है। इसके विपरीत, जैनेंद्र के पात्र जब मौन धारण करते हैं, तो वे आत्म-पीड़न और करुणा के एक ऐसे उच्च बिंदु पर पहुँच जाते हैं जहाँ वे अपने उत्पीड़क को भी क्षमा कर देते हैं। इन दोनों उपन्यासों में अभिव्यक्ति का संकट केवल चरित्रों का संकट नहीं है, बल्कि यह स्वयं लेखकों का भी शिल्पगत संकट है। वे भली-भांति जानते थे कि पारंपरिक रूप से चली आ रही वर्णनात्मक आख्यान-शैली से आधुनिक मनुष्य के इस आंतरिक बिखराव को नहीं दिखाया जा सकता। इसीलिए उन्होंने अपने गद्य में 'स्पेस' यानी खाली स्थान छोड़े, और पंक्तियों के बीच का यह जो खालीपन है, जो संवादों के अचानक टूट जाने से निर्मित होता है, वही वास्तव में इस अभिव्यक्ति के संकट का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज बन जाता है जहाँ पाठक को केवल शब्दों को नहीं पढ़ना पड़ता, बल्कि चरित्रों की दो साँसों के बीच फैले उस भयावह सन्नाटे को भी महसूस करना पड़ता है।

साहित्य और समाजशास्त्र के पारंपरिक अनुशासनों में अक्सर यह मान लिया जाता है कि उत्पीड़न के विरुद्ध प्रतिरोध केवल मुखर क्रांतियों, नारों या वैचारिक तर्कों के माध्यम से ही संभव है। किंतु अज्ञेय और जैनेंद्र कुमार का कथा-दर्शन इस स्थापित धारणा को पूरी तरह उलट देता है। वे अपने उपन्यासों में यह प्रतिपादित करते हैं कि जब दमनकारी व्यवस्था इतनी शक्तिशाली और बहरी हो जाए कि वह आपके शब्दों को अपने अनुकूल ढालने लगे, तब 'चुप हो जाना' आत्मसमर्पण नहीं, बल्कि प्रतिरोध का सबसे मारक और हिंसक रूप ले लेता है। इन दोनों लेखकों के यहाँ मौन कोई लाचारी या कायरता नहीं है, बल्कि वह स्थापित सत्ता और सामाजिक पाखंड की चूलें हिला देने वाली एक संप्रभु शक्ति के रूप में प्रकट होता है।

जैनेंद्र के 'त्यागपत्र' में बुआ मृणाल का पूरा जीवन इस मूक विद्रोह का एक ज्वलंत उदाहरण है। समाज जब उस पर लांछन लगाता है, उसका पति उसे देह की तथाकथित अशुद्धता के नाम पर घर से निष्कासित कर देता है, उसका अपना परिवार उसे त्याग देता है, तब मृणाल व्यवस्था के सामने न तो रोती है और न ही दया की भीख मांगती है। उसका यह कड़ा और अटूट मौन समाज की उस झूठी नैतिकता के सामने एक विशाल अवरोध बनकर खड़ा हो जाता है जो स्त्रियों से केवल विलाप या आत्मसमर्पण की अपेक्षा रखती है। मृणाल का यह मूक रवैया वास्तव में एक दार्शनिक चाल है; वह समाज द्वारा थोपे गए दंड को केवल स्वीकार ही नहीं करती, बल्कि स्वेच्छा से कष्टों के उस चरम स्तर को चुनती है जहाँ पहुँचकर समाज के सारे विधिक और नैतिक नियम निरर्थक हो जाते हैं। जब प्रमोद उससे बार-बार समाज की मुख्यधारा में लौटने की मिन्नतें करता है, तब मृणाल का मौन यह संदेश देता है कि तुम्हारी यह सुसंस्कृत और संभ्रांत दुनिया अंदर से कितनी खोखली और हिंसक है। जैनेंद्र ने मृणाल की इस चुप्पी के माध्यम से यह दिखाया है कि उत्पीड़क के सामने सफाई देना या तर्क करना उसके प्राधिकार को स्वीकार करना है, जबकि चुप रहकर उसकी व्यवस्था को पूरी तरह खारिज कर देना उसके अहंकार पर सबसे गहरी चोट है। मृणाल का मौन उस समाज को एक असहनीय अपराध-बोध से भर देता है, जो अंततः प्रमोद जैसे पात्रों के माध्यम से पूरी न्याय-व्यवस्था के 'त्यागपत्र' के रूप में परिणत होता है। दूसरी ओर, अज्ञेय के

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर का मौन एक भिन्न दार्शनिक धरातल पर बगावत करता है। शेखर के भीतर का विद्रोह बचपन से ही उन तमाम सत्ताओं के खिलाफ है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को बांधना चाहती हैं–चाहे वह माता–पिता का अनुशासन हो, धर्म हो या औपनिवेशिक ब्रिटिश हुकूमत। शेखर जब अपने पिता के कठोर आदेशों या माँ के दमनकारी व्यवहार के सामने जानबूझकर चुप हो जाता है, तो वह चुप्पी एक ऐसी दीवार बन जाती है जिसे कोई लाठी या हुक्म भेद नहीं पाता। अज्ञेय दिखाते हैं कि शेखर का यह अंतर्मुखी मौन उसकी वैचारिक स्वतंत्रता का कवच है। जब उसे जेल की कालकोठरी में बंद किया जाता है, जहाँ व्यवस्था उसकी देह को तो कैद कर सकती है, लेकिन उसके विचारों को नहीं, तब शेखर का मौन उस दमनकारी औपनिवेशिक तंत्र के सामने एक अभेद्य दुर्ग बन जाता है। शेखर और शशि के आपसी संबंधों में भी यह मूक विद्रोह साफ दिखाई देता है। समाज ने उनके रिश्ते को जो अनैतिक और अवैध नाम दिए थे, उन नामों को वे अपने साझा मौन की पवित्रता से पूरी तरह खारिज कर देते हैं। उनका मौन सामाजिक परिभाषाओं के खिलाफ एक दार्शनिक वक्तव्य है। इस प्रकार, दोनों उपन्यासों में मौन की सत्ता अत्यंत हिंसक और आक्रामक है। यह एक ऐसा विद्रोह है जो बाहर कोई कोलाहल नहीं करता, लेकिन व्यवस्था के भीतर एक ऐसा कंपन पैदा कर देता है जिससे स्थापित मूल्य भरभराकर टूटने लगते हैं। जैनेंद्र और अज्ञेय ने यह सिद्ध किया कि शब्दों की राजनीति में सत्ता हमेशा हावी हो सकती है क्योंकि भाषा पर उसका नियंत्रण होता है, लेकिन जब कोई आत्मा पूरी तरह मौन होकर अपनी पीड़ा को ही अपनी शक्ति बना लेती है, तो संसार का कोई भी तंत्र उसे पराजित नहीं कर सकता। चरित्रों का यह मूक प्रतिरोध पाठक को झकझोर कर रख देता है क्योंकि यह हमें सिखाता है कि कभी–कभी सबसे तेज चीख होठों से नहीं, बल्कि एक असीम और दृढ़ खामोशी से निकलती है।

मनोविश्लेषण और आधुनिक गद्य–शिल्प के अंतर्संबंधों में यह स्थापना अत्यंत महत्वपूर्ण है कि किसी साहित्यिक कृति का वास्तविक यथार्थ केवल उसके मुखर संवादों में नहीं, बल्कि उन संवादों के बीच छूटे हुए खाली स्थानों, विरामों और अनकहे वितानों में सांस लेता है। अज्ञेय और जैनेंद्र कुमार हिंदी के उन विरल कथाकारों में हैं जिन्होंने यह समझा कि मनुष्य का अवचेतन अपनी दमित इच्छाओं, डरों और ग्रंथियों को भाषा के सीधे और रैखिक उपयोग से अभिव्यक्त नहीं कर सकता। उनके उपन्यासों में जो मौन घटित होता है, वह वास्तव में 'अनकहे का मनोविज्ञान' है–एक ऐसा मनोवैज्ञानिक यथार्थ जो शब्दों की ओट में छिपा होता है और दो चरित्रों के बीच के सन्नाटे से रिसकर पाठक तक पहुँचता है। यहाँ भाषा केवल संदेश का माध्यम नहीं है, बल्कि वह उस गहरे सच पर पर्दा डालने की कोशिश है जिसे केवल मौन ही बेनकाब कर सकता है। 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय ने चेतना के प्रवाह की जिस पद्धति का उपयोग किया है, वह मूलत: अनकहे को पकड़ने की ही शिल्पगत कोशिश है। शेखर के अंतर्मन में अपनी माँ के प्रति जो तीव्र आक्रोश है और ममेरी बहन शशि के प्रति जो अनकहा, पवित्र किंतु अचेतन कामुक खिंचाव है, वह पूरे उपन्यास में कभी भी सीधे वक्तव्यों के रूप में सामने नहीं आता।

फ्रायड के सिद्धांतों के आलोक में देखें तो शेखर के भीतर का यह दमन संवादों के अचानक टूट जाने या वाक्यों के अधूरे रह जाने में प्रकट होता है। अज्ञेय उस मानसिक अंतराल को चित्रित करते हैं जहाँ दो पात्र आमने–सामने बैठे हैं, हवा में एक भारीपन है, और वे ऐसी बातें कर रहे हैं जिनका उनके वास्तविक अंतर्द्वंद्व से कोई संबंध नहीं है। उनका यह निरर्थक बोलना वास्तव में उस 'महा–मौन' को छिपाने का प्रयास है जिसे बोलने पर सामाजिक संबंधों का ताना–बाना बिखर सकता है। इस प्रकार, अज्ञेय ने शब्दों के बीच की 'शून्यता' को एक मनोवैज्ञानिक स्पेस में बदल दिया है, जहाँ पाठक चरित्रों के होठों की हरकतों को नहीं, बल्कि उनके अचेतन मन की धड़कनों और उनके बीच फैले अनकहे तनाव को पढ़ता है। जैनेंद्र कुमार के 'त्यागपत्र' में यह अनकहे का मनोविज्ञान और भी अधिक सघन और डरावना रूप ले लेता है। प्रमोद जब अपनी बुआ मृणाल के जीवन के बिखराव का विवरण देता है, तो वह कई जगह स्वयं भी हतप्रभ रह जाता है क्योंकि मृणाल का चरित्र संवादों से नहीं, बल्कि असहज कर देने वाले सन्नाटों से निर्मित हुआ है। जब मृणाल को समाज द्वारा प्रताड़ित किया जाता है, तो उसका चुप रह जाना कोई उदासीनता नहीं है, बल्कि उसके भीतर चल रहे एक भयंकर मानसिक तूफान का सूचक है। जैनेंद्र यहाँ लकान के इस विचार के करीब दिखते हैं कि मनुष्य का अचेतन भाषा की तरह ही निर्मित होता है, लेकिन वह भाषा के टूटने की संधियों में प्रकट होता है। मृणाल जब चुप होती है, तो वह अपने भीतर के उस

'अपराध-बोध' और समाज की क्रूरता को पचा रही होती है जिसे अगर वह शब्दों में बयां करे, तो भाषा की मर्यादा ही टूट जाए। वह जानबूझकर अपनी पीड़ा को अनकहा रखता है ताकि उसकी चुप्पी सामने वाले के विवेक को कुरेदती रहे। इन दोनों रचनाकारों ने हिंदी गद्य को एक नया मनोवैज्ञानिक वितान दिया जहाँ 'कहा गया' केवल एक सतही यथार्थ है, और 'अनकहा' वह वास्तविक गहराई है जिसमें कहानी की आत्मा निवास करती है।

अज्ञेय और जैनेंद्र के चरित्र जब एक-दूसरे के साथ गहरे सन्नाटे में बैठते हैं, तो वह सन्नाटा कोई निष्क्रिय खामोशी नहीं होता; वह एक चार्ज्ड मनोवैज्ञानिक अवस्था होती है जिसमें दोनों पात्रों के दमित आवेग, उनका एकाकीपन और उनकी नियति एक-दूसरे से टकरा रही होती है। यह अनकहा यथार्थ ही इन उपन्यासों को एक कालजयी मानवीय संसंस्पर्श देता है क्योंकि यह पाठक को उस स्तर पर ले जाता है जहाँ वह चरित्रों के प्रति सहानुभूति नहीं, बल्कि उनके अस्तित्वगत दर्द के साथ एक गहरा तादात्म्य महसूस करने लगता है। मौन की सबसे बड़ी मनोवैज्ञानिक विशेषता यह है कि इसका प्रभाव केवल उस व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता जो चुप है, बल्कि इसकी वास्तविक और विनाशकारी मार उस व्यक्ति पर पड़ती है जो उस चुप्पी का सामना कर रहा होता है। संवाद का टूट जाना सामने वाले के मस्तिष्क में एक ऐसा असहनीय शून्य पैदा करता है, जिसे वह अपने डरों, कल्पनाओं और अपराध-बोध से भरने की कोशिश करने लगता है। अज्ञेय और जैनेंद्र कुमार के उपन्यासों में 'मौन' केवल चरित्रों की अपनी रक्षा का कवच नहीं है, बल्कि वह सामने वाले के अंतर्मन को भीतर तक झकझोरने और उसे जीवन भर के लिए मानसिक कैदी बना देने वाली एक अंतहीन गूँज है। यह गूँज अंततः पात्रों के भीतर एक आत्म-मंथन और नैतिक रूपांतरण की जमीन तैयार करती है।

'त्यागपत्र' का पूरा ढाँचा और उसकी विधागत आत्मा ही बुआ मृणाल के इसी 'मौन' से उपजे अपराध-बोध पर टिकी हुई है। उपन्यास का नैरेटर प्रमोद, जो समाज की सीढ़ियाँ चढ़कर एक बहुत बड़ा न्यायाधीश बन जाता है, वह वास्तव में अपनी बुआ की चुप्पी की अदालत में उम्रकैद काट रहा एक मुजरिम है। मृणाल ने प्रमोद से कभी कोई शिकायत नहीं की, न ही अपनी बदहाली के लिए उसे या समाज को सीधे तौर पर कोसा। जब-जब प्रमोद अपनी सुसंस्कृत दुनिया की सुख-सुविधाओं की पेशकश लेकर उसके पास गया, मृणाल ने एक मूक और अडिग अस्वीकार के साथ उसे लौटा दिया। मृणाल की यह बेआवाज खामोशी प्रमोद के दिमाग में एक ऐसी गूँज बनकर लौटती है कि उसे अपनी सफलता, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और अपनी जज की कुर्सी एक घिनौना पाखंड लगने लगती है। वह समझ जाता है कि जो समाज मृणाल जैसी पवित्र और आत्मीय स्त्री को न्याय नहीं दे पाया, उस समाज में जज बनकर दूसरों को न्याय बांटना एक क्रूर मजाक है। प्रमोद का अपनी नौकरी से 'त्यागपत्र' देना वास्तव में मृणाल के उसी मौन के आगे उसका आत्मसमर्पण है। जैनेंद्र यहाँ यह गहरा मानवीय सच स्थापित करते हैं कि चीखकर कही गई बातें समय के साथ धुंधली पड़ सकती हैं, लेकिन किसी आत्मीय की चुप रह गई पीड़ा अंतर्मन में एक ऐसा स्थायी नासूर बन जाती है जिससे इंसान कभी मुक्त नहीं हो पाता।

इसी प्रकार का एक अन्य वितान 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर और शशि के अंतर्संबंधों में दिखाई देता है। शशि का मौन शेखर के विद्रोही और अहंकारी 'आत्म' को मांजने और उसे संवेदनशील बनाने का काम करता है। शेखर जो पूरी दुनिया से लड़ रहा है, जो हर व्यवस्था को अपनी बौद्धिकता से ढहा देना चाहता है, वह शशि के शांत और गहरे मौन के सामने आकर बिल्कुल निहत्था हो जाता है। जब शशि अपने जीवन के अंतिम क्षणों में असह्य शारीरिक और मानसिक वेदना से गुजरते हुए भी चुप रहती है, तो उसका वह मौन शेखर के भीतर एक गहरे अपराध-बोध और आत्म-साक्षात्कार को जन्म देता है। शेखर को महसूस होता है कि उसकी राजनीतिक क्रांति और उसका बौद्धिक अहंकार उस शांत और मूक प्रेम के सामने कितने बौने हैं जो शशि ने उसे बिना माँगे दिया था। शशि के चले जाने के बाद भी उसका वह मौन शेखर के एकांत में एक संगीत की तरह गूँजता रहता है। वही मौन फाँसी की कोठरी में बैठे शेखर को अपने अतीत की पुनर्रचना करने और जीवन के वास्तविक अर्थ को तलाशने की प्रेरणा देता है।

इस प्रकार, दोनों उपन्यासों में मौन एक ऐसी आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक शक्ति के रूप में उभरता है जो चरित्रों को भीतर से रूपांतरित कर देता है। मृणाल की चुप्पी प्रमोद को एक रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था के 'जज' से उठाकर एक सजग और पीड़ित इंसान बना देती है, और शशि की खामोशी शेखर के आक्रामक विद्रोह को एक दार्शनिक और सृजनात्मक गहराई प्रदान करती है। यह अंतहीन गूँज ही इन कृतियों को

एक शाश्वत 'ह्यूमन टच' देती है, क्योंकि यह दिखाता है कि मनुष्य के अंतर्मन का सबसे गहरा बदलाव शब्दों के टकराव से नहीं, बल्कि किसी दूसरे के मौन को अपने भीतर पूरी ईमानदारी से महसूस करने और उससे उपजे नैतिक पछतावे से ही संभव है।

अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' और जैनेंद्र कुमार के 'त्यागपत्र' का यह गहन मनो-दार्शनिक अनुशीलन अंततः हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि बीसवीं सदी के मध्य का हिंदी उपन्यास केवल सामाजिक आंदोलनों या बाह्य यथार्थ की सतही अनुकृति नहीं था, बल्कि वह आधुनिक मनुष्य के अस्तित्वगत संकट का एक जीवंत दस्तावेज था। इन दोनों शिखराख्यानों में 'मौन' का जो मनोविज्ञान उभरता है, वह पारंपरिक आलोचना के उन बंधनों को तोड़ देता है जो चुप्पी को केवल निष्क्रियता, लाचारी या पराजय का सूचक मानते आए हैं। अज्ञेय और जैनेंद्र ने यह सिद्ध किया कि जब मनुष्य की अस्मिता और उसकी निजता पर चौतरफा प्रहार होते हैं, तो स्थापित सामाजिक भाषा अक्षम हो जाती है। ऐसी स्थिति में, मौन चरित्रों का एक अभेद्य दुर्ग बन जाता है-एक ऐसा स्पेस जहाँ वे अपनी स्वतंत्रता और अपने सच को सुरक्षित रखते हैं।

मृणाल की आत्मघाती चुप्पी जहाँ सामाजिक पाखंड और स्त्री-दमन की रूढ़िवादी व्यवस्था के विरुद्ध एक अत्यंत तीखा और नैतिक प्रतिरोध है, वहीं शेखर का अंतर्मुखी सन्नाटा औपनिवेशिक, पारिवारिक और धार्मिक सत्ताओं के खिलाफ उसकी बौद्धिक संप्रभुता का कवच है। यह मौन केवल प्रतिरोध तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह अपने द्रष्टाओं-जैसे प्रमोद और स्वयं शेखर-के अंतर्मन में एक अंतहीन गूँज बनकर लौटता है, जो उन्हें आत्म-साक्षात्कार और एक गहरे अपराध-बोध की ओर धकेलता है। यही इस आख्यान का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है कि मौन यहाँ संक्रामक है; वह सुनने वाले के विवेक को इस कदर कुरेदता है कि स्थापित न्याय-व्यवस्था और सामाजिक सफलता के सारे प्रतिमान ताश के पत्तों की तरह ढह जाते हैं।

अज्ञेय और जैनेंद्र के गद्य-शिल्प की यह सबसे बड़ी देन है कि उन्होंने हिंदी साहित्य को पंक्तियों के बीच के खालीपन को पढ़ना सिखाया। उन्होंने दिखाया कि यथार्थ केवल संवादों के कोलाहल में नहीं, बल्कि दो चरित्रों की साँसों के बीच फैले उस भयावह और गरिमामय सन्नाटे में सांस लेता है जहाँ शब्दों का विसर्जन हो जाता है। यह लेख अंततः यह प्रतिपादित करता है कि 'मौन' की यह प्रतिरोधी और मनोवैज्ञानिक सत्ता ही इन उपन्यासों को एक शाश्वत और कालजयी मानवीय संसंस्पर्श प्रदान करती है। यह चुप्पी मनुष्य के उस अदम्य साहस की भाषा है, जिसे संसार का कोई भी क्रूर तंत्र न तो कुचल सकता है और न ही अपनी सत्ता के अनुकूल ढाल सकता है। शब्दों के इतिहास में इन दोनों लेखकों ने मौन के इस दार्शनिक आलेख को लिखकर आधुनिक भारतीय मानस की सबसे गहरी चीख को अमर कर दिया है।

छात्र, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ई-मेल. – mritunjaykmrsharma@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन (1941), शेखर : एक जीवनी (भाग 1 और 2), नई दिल्ली : राजपाल एंड संस।
2. जैनेंद्र कुमार (1937), त्यागपत्र, नई दिल्ली : पूर्वोदय प्रकाशन।
3. नगेंद्र, डॉ. (1955), विचार और विश्लेषण (जैनेंद्र और अज्ञेय के उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन), दिल्ली : National Publishing House.
4. वाजपेयी, नंददुलारे (1940), आधुनिक साहित्य, इलाहाबाद : भारती भंडार।
5. सिंह, डॉ. नामवर (1971), कविता के नए प्रतिमान (अज्ञेय की गद्य-शैली और अभिव्यक्ति के संकट के विशेष संदर्भ में), नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
6. मदान, इंद्रनाथ (1966), जैनेंद्र और उनके उपन्यास, लाहौर : लाहौर बुक शॉप (पुनर्मुद्रित दिल्ली)।
7. राय, डॉ. गोपाल (2002), हिंदी उपन्यास का इतिहास, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
8. फ्रायड, सिगमंड (अनुवादित संस्करण), मनोविश्लेषण के मूल सिद्धांत (The Basic Writings of Sigmund Freud), अचेतन और दमन के सिद्धांत के संदर्भ हेतु।